UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186753
UNIVERSAL
LIBRARY

ये भी मानव हैं

संसार की चुनी हुई जंगली, असभ्य और अर्द्धसभ्य
आदिम मनुष्य-जातियों का सचित्र परिचय

: प्रकाशक :

हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय

चारबाग : : लखनऊ

मूल्य

चार रुपए

सर्वाधिकार सुरक्षित

: प्रकाशक :
राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,
हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय,
चारबाग, लखनऊ

पं० भृगुराज भार्गव द्वारा 'भार्गव प्रिन्टिङ्ग वर्क्स', लाटूश रोड, लखनऊ, में मुद्रित

विषयानुक्रम

	पृष्ठ
प्रारंभिक वक्तव्य	५
एस्किमो—भूमण्डल के उत्तरी सीमान्त के प्रहरी	११
लाप—योरप के बर्फ़ीले उत्तराखण्ड के निवासी	१८
समूदी और ऑस्तिऑक—साइबेरिया के सूने हिम-प्रदेश के वाशिन्दे	२२
रेड इंडियन—अमेरिका के आदिम निवासी	२८
किरग़ीज़ और क़ज़्ज़ाक—मध्य एशिया के खानाबदोश चरवाहे	३४
तिब्बती—दुनिया की छत के निवासी	३८
बद्दू—मरुभूमि के खानाबदोश लुटेरे	४८
जिप्सी—दुनिया के मशहूर आवारे	५२
नीग्रो—अफ्रीका महाद्वीप के आदिम निवासी	५७
पिगमी—संसार के सबसे नाटे या बौने मनुष्य	६५
ज़ूलू—दक्षिणी अफ्रीका के सूरमा	६८
ऑस्ट्रेलियन—संसार के सबसे अधिक पिछड़े हुए लोग ...	७५
पापुआन—न्यूगिनी की एक मनोरंजक आदिम जाति के प्रतिनिधि	८१
पालीनेशियन और मेलानेशियन—प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुंजों के आदिम निवासी ...	८८
मावरी—न्यूज़ीलैंड के शूरवीर	६७
डॉक—बोर्नियो के मनोरंजक आदिम निवासी	१०२
फ़ारमोसावासी—नरमुंडों की शिकारी एक जंगली जाति	११३
मलय, सेमांग और सकाई—मलय प्रायद्वीप के अर्द्धसभ्य और असभ्य वाशिंदे ...	११५
वेद्दा—पाषाण-युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले लंका के आदिम निवासी	१२०
गोंड—भारतवर्ष की सबसे प्राचीन जंगली जाति	१२३
भील—मध्यभारत और गुजरात के वनवासी	१३२
कोरवा—विन्ध्यप्रदेश के धनुर्धारी	१४०
संथाल और हो—छोटा नागपुर पठार के मुंडा-भाषाभाषी वर्ग के प्रतिनिधि ...	१४४
नागा, कूकी और गारो—भारत के पूर्वीय सीमान्त के चौकीदार	१५२
टोडा—दक्षिण भारत की एक लुप्तप्राय आदिम जाति	१६४

प्रारंभिक वक्तव्य

विद्वानों ने संसार के मनुष्यों का वर्गीकरण करने की अनेक चेष्टाएं की हैं, किन्तु विभिन्न देशों के निवासियों को पृथक्-पृथक् श्रेणियों में बाँटकर स्पष्ट रूप से उनकी पारस्परिक भिन्नता बतलाने का प्रयत्न आज तक सफल नहीं हो सका। मानव-सृष्टि के क्षेत्र में विभाजक रेखाएँ खींचकर उसकी विभिन्न क्यारियों की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना एक प्रकार से असम्भव है। मानव-विज्ञान-विशारदों ने इस विषय पर सैकड़ों ग्रन्थ लिख डाले हैं, जिनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का विवेचन हमारा विषय नहीं है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान श्रीयुत सी० जी० सेलिग्मान ने मानव-जातियों का जो वर्गीकरण हमारे सामने उपस्थित किया है वही हमें यथार्थता के अधिक निकट प्रतीत होता है और व्यावहारिक दृष्टि से हम उसी का उल्लेख यहाँ करेंगे। उनके कथनानुसार संसार के मनुष्य छः मूल जातियों में बँटे हुए हैं :—

(१) नार्डिक
(२) अल्पाइन
(३) मेडिटरेनियन
(४) मंगोल
(५) नीग्रो
(६) आस्ट्रेलियन

वर्णभेद की दृष्टि से उपर्युक्त नार्डिक, अल्पाइन और मेडिटरेनियन जातियाँ 'काकेशियन' (Caucasian) या श्वेत मनुष्यों की कोटि

सभ्यता की दुनिया में बसनेवालों की निगाह में उस दुनिया से परे प्रकृति की गोद में जीवनयापन करनेवाले 'जंगली', 'असभ्य' और 'बर्बर' हैं, किन्तु यदि हम इन तथाकथित 'असभ्य' जातियों की जीवनधारा को नज़दीक से देखें तो बरबस ही हमें उनके प्रति अपने असहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण को बदलकर स्वीकार करना पड़ेगा कि 'ये भी मानव हैं।'

में तथा मंगोल जाति को पीले मनुष्यों के वर्ग में गिना जाता है। इसी तरह काले मनुष्यों में नीग्रो तथा गेहुएँ रंग के या अर्ध-कृष्णकाय मनुष्यों में आस्ट्रेलियन जातियों की गणना होती है। इन सभी जातियों में न्यूनाधिक रूप में आकृति, शारीरिक गठन तथा स्वभाव की भिन्नता पाई जाती है।

सबसे पहले हम 'काकेशियन' या श्वेतांगों की कोटि में आनेवाली जातियों पर दृष्टि डालते हैं। गौरांग नार्डिक जाति के अन्तर्गत उत्तरी योरप के निवासी स्कैण्डिनेवियन, फ्लेमिंग्स, डच, बहुतेरे उत्तरी जर्मन, और कुछ रूसी लोग आते हैं। अधिकांश अंग्रेजों और स्कॉटलैंडवासियों की भी इसी में गणना की जा सकती है, यद्यपि ब्रिटिश द्वीपों के प्राचीन निवासी 'मेडिटरेनियन जाति' के वंशज माने जाते हैं। अल्पाइन जाति में योरपीय अल्पाइन और एशिआई-आर्मेनाइड शाखाएँ सम्मिलित हैं। योरपीय अल्पाइन वर्ग में स्विस, दक्षिणी जर्मन, स्लाव, फ्रेंच और उत्तरी इटेलियन आते हैं। यह शाखा एशिया महाद्वीप तक फैली है और ईरानी-ताजिक तथा पामीर के पहाड़ी लोगों में से एक विशेष वर्ग के मनुष्यों की इस कोटि में गणना होती है, जो अल्पाइन जाति के स्विस प्रतिनिधियों से पूर्ण सादृश्य रखते हैं। आर्मेनाइड या पश्चिमी एशिआई शाखा में प्राचीन हित्ती जाति के लोग भी आते थे। आजकल आर्मीनिया, लेवाण्ट, मेसोपोटामिया और दक्षिणी अरब के निवासियों को इसी शाखा के अन्तर्गत समझा जाता है, जिनकी कुछ विशेषताएँ बहुतेरे यहूदियों तथा अरब लोगों में प्रकट हुई हैं। मेडिटरेनियन जाति में भूमध्यसागर के तट के निवासी, सेमाइट अरब, उत्तरी अफ्रीका के लोग, उत्तरी हैमाइट या लिबियावासी बर्बर, सहारा प्रदेश के तुरेग और फुलानी, जिनमें अधिक नीग्रो रक्त नहीं है, सम्मिलित हैं। दक्षिणी या पूर्वी हैमाइट शाखाओं में मिस्री, बेजा, अर्ध-बर्बर, हब्शी और सुलामी तथा गाल्ला जातियाँ आती हैं। दक्षिण भारत के तामिल तथा उनसे मिलते-जुलते वर्णवाले भी मेडीटरेनियन जाति के अन्तर्गत आते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। हाँ, भारतवर्ष की अनेक उच्च वर्ण की जातियों में और विशेषकर काश्मीर, पंजाब, सिंध, संयुक्त प्रान्त, राजपूताना, मालवा तथा गुजरात के गौरवर्ण और उन्नत नासिका वाले मनुष्यों में स्पष्टतया काकेशियन रक्त की प्रधानता है, यद्यपि उनमें अधिकांशतः मिश्रित रक्त भी है।

दूसरा नम्बर पीले मनुष्यों का आता है, जो मंगोल जाति के प्रतिनिधि माने जाते हैं। यह जाति एशिया महाद्वीप के पूर्व में पैसिफिक महासागर तक फैली हुई है। यह जाति आदि-काल में काफी पर्यटनशील रही है, इस कारण इसका विस्तार सबसे अधिक पाया जाता है। मंगोलिया, मंचूरिया,

मानव-विज्ञान के अनुसार मनुष्य-जाति जिन मूल विभागों में बाँटी गई है, उनमें से पाँच प्रमुख विभागों के प्रतिनिधियों के नमूने ऊपर के चित्र में दिए गए हैं। ये हैं (क्रमशः ऊपर से नीचे) नार्डिक, मेडिटरेनियन, मंगोल, नीग्रो और ऑस्ट्रेलियन।

मानव-जाति के आदिम प्राचीन पुरखों के कुछ नमूने—(१)

(बाईं ओर से दाहिनी ओर को) पिथैकेनथ्रॅापस या जावा का मानव (पाँच से दस लाख वर्ष प्राचीन); साइनेनथ्रॅापस या पेकिंग का मानव (ढाई से पाँच लाख वर्ष प्राचीन); पिल्टडाउन मानव (डेढ़ से ढाई लाख वर्ष प्राचीन)

पूर्वी साइबेरिया, तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, बर्मा, इंडो-चीन, मलय-प्रदेश तथा पूर्वीय द्वीप-समूहों के निवासी मंगोल जाति के समझे जाते हैं। यद्यपि उनके कतिपय समुदायों में पारस्परिक भिन्नता के चिह्न अधिक स्पष्ट हैं, फिर भी वे सभी एक ही वर्ग के हैं। मंगोलों का रंग हल्का पीला या भूरापन लिये हुए पीला होता है। उनकी आँखें भूरी छोटी या साधारणतया गहरी भूरी, बाल मोटे और खड़े तथा कुछ घुमावदार, दाढ़ी-मूँछ बहुत कम, सिर गोल, जबड़ा चौड़ा, एवं चेहरा चिपटा होता है। उनकी लम्बाई का औसत ६४ इंच से लगाकर ७० इंच तक होता है। मंगोल जाति तीन श्रेणियों में विभाजित मानी जाती है—(१) दक्षिणी (२) उत्तरी तथा (३) समुद्री। दक्षिणी मंगोलों में तिब्बत, हिमालय के दक्षिणी पठार, चीन और इंडो-चीन से लेकर सुदूर दक्षिण में क्रा के डमरूमध्य तक रहनेवाले लोगों की गणना होती है। इनका क़द नाटा होता है। उत्तरी मंगोल विशेषतया साइबेरिया में, जापान से लाप-प्रदेश तक और दक्षिण में चीन की बड़ी दीवाल तथा उत्तरी तिब्बत तक फैले हुए हैं। इतना ही नहीं, तुर्की तथा फिनिश जातियों के मनुष्यों में भी मंगोल रक्त का मिश्रण पाया जाता है। ऑस्तिऑक, तांगल और जापानी तथा कोरियावासी भी मंगोल ही हैं। समुद्री मंगोलों का विस्तार इंडोनेशिया (जिसमें

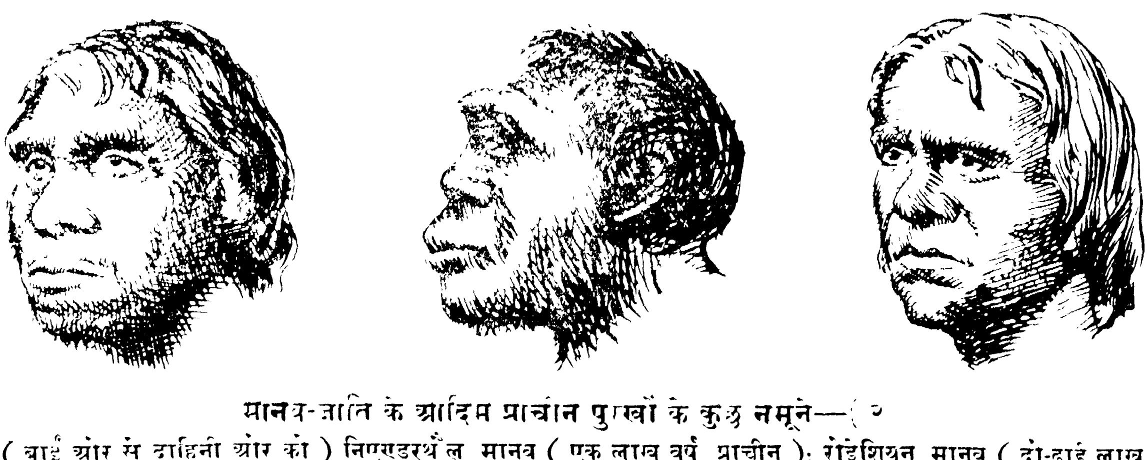

मानव-जाति के आदिम प्राचीन पुरखों के कुछ नमूने—(२)

(बाईं ओर से दाहिनी ओर को) निएण्डरथैल मानव (एक लाख वर्ष प्राचीन); रोडेशियन मानव (दो-ढाई लाख वर्ष प्राचीन); क्रोमैगनन मानव (पचास हज़ार वर्ष प्राचीन)। ये सब चित्र प्राप्त खोपड़ियों के आधार पर बनाए गए हैं।

फिलिपाइन द्वीप-समूह सम्मिलित है), फ़ार्मोसा, निकोबार, और सुदूर मेडागास्कर द्वीप तक पाया जाता है। मंगोल जातियों में इनका क़द सबसे नाटा होता है और प्रायः ये ६० इंच से अधिक लम्बे नहीं होते। रंग भी इनका अन्य मंगोलों की अपेक्षा सबसे गहरा होता है और उसे रक्तिम भूरा कह सकते हैं। समुद्री मंगोलों और आसाम प्रान्त की कुछ जातियों के मनुष्यों में शारीरिक तथा सांस्कृतिक समानता के लक्षण पाये जाते हैं। अन्त में हमें स्मरण रखना पड़ता है कि मंगोलों ने बेयरिंग डमरूमध्य से होकर पार्श्ववर्ती द्वीपों को पार करते हुए पेसिफिक महासागर के उस पार अमेरिका में भी अपनी बस्तियाँ बना रक्खी हैं।

तीसरा नम्बर नीग्रो जाति के काले मनुष्यों का है। नीग्रो जाति की दो बड़ी शाखाएँ हैं—(१) अफ़्रीकन या नीग्रो तथा (२) समुद्री या मेलानेशियन। इन दोनों से संबद्ध अनेक छोटे क़दवाली अर्ध-नीग्रो जंगली जातियाँ हैं, जिनको शारीरिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पड़ोस की जातियों से बहुत पिछड़ा हुआ माना जाता है। बौने या 'नीग्रितो', जिनके अफ़्रीकन प्रतिनिधि प्रायः 'नीग्रिलो' कहलाते हैं, इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सहारा मरुभूमि के दक्षिण का सारा प्रदेश नीग्रो जाति की आवासभूमि है, जिसमें अधिकतर नाइलोत (Nilotes), अर्ध-हेमाइट और बंटू भी (जो शुद्ध नीग्रो नहीं कहे जा सकते) सम्मिलित हैं। परन्तु सच पूछा जाय तो वास्तविक नीग्रो जाति पश्चिमी अफ़्रीका में गिनी समुद्र-तट के आसपास रहती है। शुद्ध नीग्रो जाति का मनुष्य प्रायः ६८ इंच लम्बा और ऊन जैसे गुच्छेदार बालोंवाला होता है। उसकी त्वचा का रंग इतना गहरा होता है कि उसे काला माना जा सकता है। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट, टाँग छोटी, भुजाएँ लम्बी, होठ मोटे और आगे को निकले हुए, माथा आगे उभरा हुआ और नाक मोटी होती है। समुद्री नीग्रो जाति में सबसे शुद्ध रक्तवाले पापुआन, जो न्यूगिनी में आजकल निवास करते हैं, सम्मिलित हैं। पहले ज़माने में उन्होंने मेलानेशिया, सम्भवतः आस्ट्रेलिया तथा टस्मानिया पर भी अपना पूर्ण आधिपत्य जमा रखा था। 'नीग्रितो' या अर्ध-नीग्रो प्रायः बौनो जातियों को ही कहा जाता है, जिनमें अंडमन द्वीपवासी, मलय प्रायद्वीप के सेमांग, फ़िलिपाइन द्वीपों के एटा (Aeta) और नेदरलैंड्स-न्यूगिनी के अविख्यात टपिरो भी गिने जाते हैं। पश्चिम में अफ्रीका महाद्वीप के नीग्रितो (नीग्रिलो), जिनमें विषुवत रेखा के निकट रहनेवाली जंगली जातियाँ (अक्का, बतवा आदि) सम्मिलित हैं, क़द की दृष्टि से संसार में सबसे नाटे होते हैं और शायद ही उनमें कोई ५४ इंच से अधिक लम्बा होता हो। बुशमेन जातिवाले भी सम्भवतः इन दोनों से कुछ सम्बन्ध रखते हैं। हाटेनटॉट लोग बंटू और हेमिटिक रक्त के मिश्रण से उत्पन्न बुशमेनों का परिष्कृत रूप जान पड़ते हैं। बुशमेन और हाटेनटॉट लोगों के कानों में लोरें या (लटकनेवाले) निचले सिरे होते ही नहीं।

सबसे अन्त में चौथे नम्बर में आस्ट्रेलियन जाति की गणना की जाती है, जो अर्ध-कृष्णकाय या गेहुएँ रंग के मनुष्यों का प्रतीक मानी जाती है। इस जाति के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया के निवासी तथा दक्षिणी भारत और लंका की पूर्व-द्रविड़ जातियाँ (वेद्दा आदि), मलय प्रायद्वीप के सकाई लोग, और सम्भवतः सेलीबीज़ द्वीप-निवासी तोआला (Toala) आते हैं, यद्यपि तोआला लोगों में विदेशी रक्त अधिक मिश्रित हो चुका है। इस जाति के सभी मनुष्यों के केश काले, लहरदार, या लगभग घुँघराले होते हैं। आस्ट्रेलियन औसत दर्जे के क़द के (प्रायः ६५॥ इञ्च लम्बे) होते हैं। उनकी त्वचा का रंग बैंजनी-भूरा, शरीर पर रोमों का आधिक्य, सिर लम्बा, माथा पीछे को दबा हुआ और चिपटा, भ्रू-भाग उभरा हुआ, नाक जड़ में दबी हुई और बहुत चौड़ी होती है। सकाई नाटे क़द के होते हैं और उनके बाल कुछ लालिमा लिये हुए भूरे, त्वचा पीलापन लिये हुए गहरी भूरी, और नाक ऊँची होती है। दक्षिण भारत की जंगली जातियाँ, जिनमें कुरुम्बा,

इरूला, पानियान आदि हैं तथा लंका की लुप्तप्राय वेद्दा जाति के लोग ६० से ६२ इञ्च तक लम्बे पाये जाते हैं।

आदिम मनुष्यों के अवशिष्ट चिह्नों का अब तक जो पता चला है उससे अनुमान किया जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति सम्भवतः अब से लगभग दस लाख वर्ष से पूर्व हुई होगी। जावा में एक मनुष्य की-सी खोपड़ी मिली है जिसे लोग पाँच से दस लाख वर्ष पुरानी मानते हैं। पेकिङ्ग में प्राप्त प्राचीन खोपड़ी की आयु ढाई से पाँच लाख वर्ष मानी जाती है। इसी तरह रोडेशिया में मिली एक पुरानी खोपड़ी तीन लाख वर्ष की और फ्रांस एवं इङ्गलैंड में मिली निएण्डरथैल तथा पिल्टडाउन मानवों की खोपड़ियाँ लगभग एक लाख पचीस हज़ार वर्ष पुरानी कही जाती हैं। विद्वानों का मत है कि मनुष्य सबसे पहले एशिया में ही पैदा हुआ, किन्तु इस बात में मतभेद है कि एशिया के किस भाग को उसकी जन्मभूमि कहा जाय। अपने आरम्भिक पूर्व-काल में मनुष्य प्रकृति के वश में अधिक था, इस कारण उसकी उन्नति और विकास का क्रम बहुत धीरे-धीरे चलता रहा। अब से लगभग एक लाख वर्ष पूर्व मनुष्य का जीवन लगभग पशु का-सा था। अपने हाथों के अतिरिक्त उसके पास आत्मरक्षा का कोई साधन न था। उसे अपना तन ढकना भी नहीं आता था,

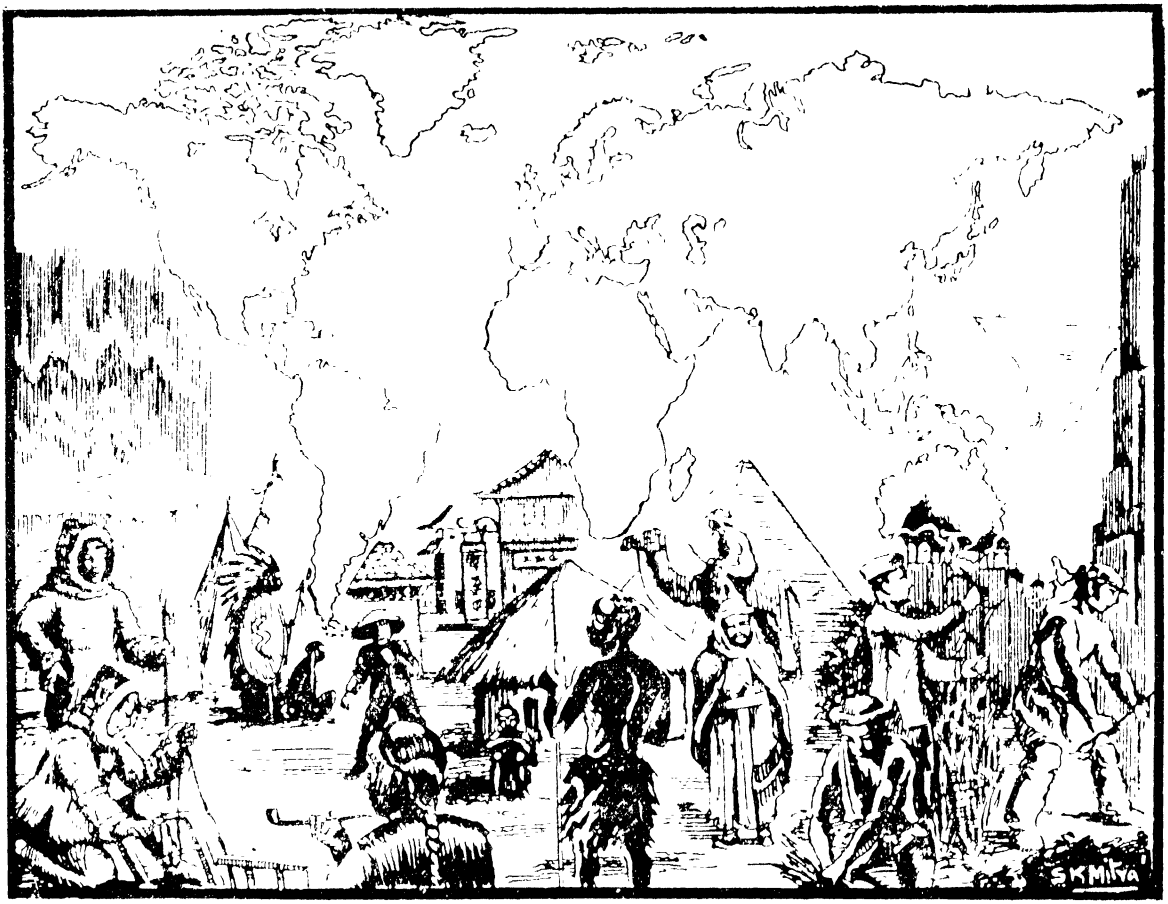

पृथ्वी पर बिखरा हुआ भिन्न-भिन्न वर्णाकृति और विविध वेशभूषा से युक्त महान् मानव-परिवार

न झोपड़ी बनाना ही उसे मालूम था। जंगलों में पैदा होनेवाले फल-मूल, पत्तियाँ, तथा मारे हुए पशुओं और जीवों के मांस पर ही वह अपना भरण-पोषण करता था। उसे कृषि का ज्ञान तक न था। पर आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे उसके ज्ञान की वृद्धि होती गई और फलतः उसकी उन्नति का मार्ग खुलता गया। यहाँ तक कि आज उसका जीवन ऐसा जटिल रूप धारण कर चुका है, जिसकी हमारे पूर्वजों को स्वप्न में भी कल्पना न थी। समाज, राष्ट्र, वर्ग, समुदाय, कृषि, पशु-पालन, परिवार-व्यवस्था आदि के विकास के साथ मानव-जाति ने 'सभ्यता' का जो बाना पहना है, उसके कारण उसका रूप-रंग बिल्कुल बदल गया है। परन्तु सभ्यता की इस सीमा से परे भी संसार के विशाल चित्रपट पर इस मानव-परिवार की कई टुकड़ियाँ यहाँ-वहाँ बिखरी हुई पाई जाती हैं, जिन पर इस 'सभ्यता' का रंग अभी नहीं चढ़ पाया है तथा जिनके विषय में सभ्य जगत के प्राणी बहुत कम जानते हैं। फिर भी हमारी ही तरह वे भी मनुष्य ही हैं। वे भी उन्हीं मूल पुरखों से निकले हैं जिनसे कि सभ्य जातियों की उत्पत्ति हुई है—भेद है केवल उनकी सभ्यता की श्रेणी में। वे अब भी अपनी आदिम सभ्यता और परम्परा के ही अनुयायी हैं। यद्यपि उनमें से कुछ पर कहीं-कहीं आधुनिक सभ्यता का भी थोड़ा-बहुत रंग चढ़ने लगा है, किन्तु उनका जीवन, उनकी रहन-सहन, सब-कुछ अपनी मौलिकता लिये हुए है। ऐसी ही अनेक असभ्य एवं अर्धसभ्य कही जानेवाली जातियाँ संसार के प्रायः प्रत्येक कोने में पसरी हुई हैं। मानव-विज्ञान के कतिपय आचार्यों ने उन्हें पशुओं से भी गया-बीता बतलाया है, उन्हें 'असभ्य', 'बर्बर', 'जंगली' की उपाधियाँ दी हैं और उनके जीवन को हेय दृष्टि से देखा है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो वे भी ईश्वर के बनाये हुए हमारे-जैसे ही दो हाथ दो पैरोंवाले बुद्धिसंपन्न जीवधारी हैं, जिन्होंने अपने-अपने वातावरण विशेष के अनुकूल अपनी जीवन-धारा को बनाने में कमाल कर दिखाया है। उनकी भी अपनी-अपनी सभ्यताएँ हैं और आविष्कार तथा कलात्मक सृजन के क्षेत्र में उनकी अनुपम सिद्धियों एवं प्रवीणता को देखते हुए यह कहना सरासर अन्याय होगा कि वे बिल्कुल ही असंस्कृत हैं। सच पूछिए तो किसी-किसी बात में प्रकृति की गोद में खेलनेवाली ये जातियाँ तथाकथित सभ्य जातियों से कहीं श्रेष्ठतर हैं—कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि वे हजारों वर्षों से शान्तिपूर्ण जीवनयापन करती चली आ रही हैं जब कि तथाकथित सभ्य जातियाँ अपने इतिहास की अवधि भर निरन्तर युद्ध में प्रवृत्त दिखाई देती रही हैं। इनके सरल, निष्कपट जीवन की तुलना में हमारा आज का घोर संघर्ष का जीवन कितना दानवीय प्रतीत होता है, जिसका सबसे नंगा चित्र वर्त्तमान विश्वव्यापी नरसंहारकारी महायुद्ध के ताण्डव में हम देखते हैं। यदि सूक्ष्मता से हम इनके रहन-सहन एवं आचार-व्यवहार तथा संस्कृति का अध्ययन करें तो निश्चय ही इनके बारे में यह कहने को हमें विवश होना पड़ेगा कि "ये भी मानव हैं!" तो फिर आइए, आगे के पृष्ठों में कुछ चुनी हुई जातियों से परिचय पाने का प्रयास कर उनके प्रति अपना ऋण चुकाने की कोशिश करें।

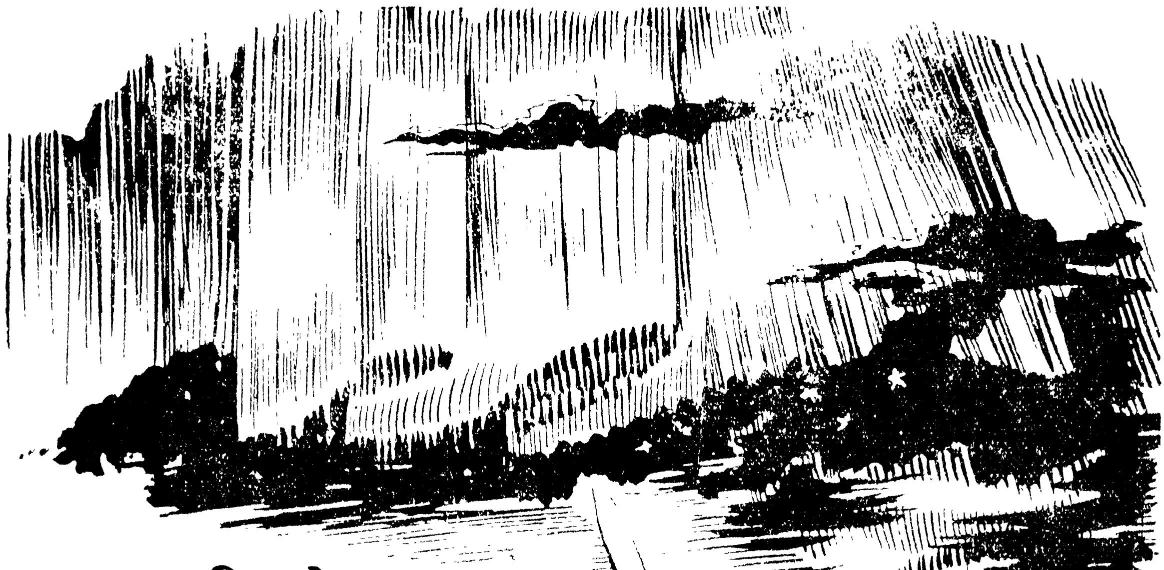

एस्किमो

भूमण्डल के उत्तरी सीमान्त के प्रहरी

इस पृथ्वी पर जीवन की आवश्यक वस्तुओं का वितरण ऐसे असमान रूप से हुआ है कि हर कहीं मानव का अस्तित्व प्रकृति के साथ एक अनवरत संघर्ष के रूप में ही दिखाई देता है। भूमण्डल के एक छोर से दूसरे छोर तक जहाँ-कहीं भी यह मानव कहलानेवाला प्राणी बसा हुआ है वहाँ वह आदिकाल से क्रियमाण ही रहा है और रहेगा। उसका जीवन कर्मशीलता की एक समष्टि है और गति ही उसका आधार है। अपने अस्तित्व-काल की सीमित श्वासों में क्षण भर के लिए भी उसे अपने इस संग्राम से अवकाश नहीं मिलता। कहने को उसने प्रकृति पर कुछ विजय पाई है, पर वास्तव में वह उसे इच्छानुसार नचाती है और वह नाचता है—कभी स्वेच्छा से तो कभी विवशता से। प्रकृति ने जीवधारियों को मानों असमानता की तराज़ू से तौलकर पृथ्वी पर इधर-उधर बिखेर दिया है। तभी तो कुछ के लिए जीवन-यात्रा इतनी सुगम है कि वे अपेक्षाकृत काफ़ी निश्चिन्तता से जीवन-निर्वाह करते रहते हैं, तो कुछ आवश्यक साधनों से इतने अधिक वञ्चित रहते हैं कि परि-

स्थितियों से निरंतर लोहा लेते हुए विद्रोहियों की भाँति उन्हें प्रकृति से भोजन का एक-एक ग्रास छीनना पड़ता है। सुदूर उत्तरी हिमप्रदेश के मोर्चे पर डटे हुए एस्किमो भी ऐसे ही वर्ग के प्राणी हैं, जो अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की असाधारण क्षमता रखनेवाली मनुष्य जाति के अनूठे उदाहरण हैं। भूमण्डल की उस सुदूर उत्तरी सीमा पर, जहाँ बर्फ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई देता, जहाँ पेड़-पौधों का नामोनिशान भी नहीं और सूर्य के दर्शन दुर्लभ रहते हैं, जहाँ पशु-पक्षियों की पहुँच ही नहीं जान पड़ती तथा जल और स्थल को हिम के आवरण के कारण पहचानना कठिन होता है, वहीं इन शूरवीरों ने अपना डेरा जमा रखा है! संसार के जिस भूखण्ड को बेकार समझकर औरों ने छोड़ दिया, उसको इस जाति ने अपनाकर अपना आवासस्थान बना लिया। जीवन-यात्रा को सम्भव बनानेवाले साधनों और अनुकूल परिस्थितियों का औरों के लिए जहाँ अन्त हो गया, वहीं एस्किमो जाति के जीवन का आरम्भ हुआ। न जाने कितने हज़ार वर्ष पूर्व जिस हिमाच्छादित प्रदेश की भूमि पर इस जाति ने अपने पैर जमाए उसकी ममता को छोड़ना उसके लिए सम्भव न हो सका और फलतः यह वहीं बस गई। आज भी अलास्का से ऊपर बेयरिंग जलडमरूमध्य के पश्चिमी तट से उत्तरी अमेरिका के सुदूर उत्तरी किनारे पर आर्कटिक द्वीपों और ग्रीनलैंड के पूर्वी तट तक यह जाति फैली हुई है।

'एस्किमो' नाम इस जाति को दक्षिण में रहनेवाले अमेरिकन इण्डियन लोगों ने दिया, जिसका अर्थ है 'वे लोग जो अपना आहार कच्चा ही खाते हैं।' एस्किमो जन्म और भाषा के लिहाज़ से उत्तरी अमेरिकन इण्डियन लोगों की ही एक उपजाति है। ऐसा सुना जाता है कि आज से २००० वर्ष से अधिक समय हुआ जब इनके पूर्वज सुपीरियर झील के उत्तरी प्रदेश में आदिनिवासियों के रूप में बसे हुए थे। सम्भवतः समय बीतने पर वे उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ चले। उनमें से कुछ साइबेरिया के किनारे तक जा पहुँचे और ईस्ट अन्तरीप के आगे के प्रदेश में बस गए। कुछ बेल द्वीप के डमरूमध्य को पार करके दक्षिण की ओर चले गए और न्यूफाउंडलैंड को उन्होंने अपना घर बना लिया। इसी भाँति उन प्रवासियों ने उत्तर के अनेक प्रदेशों में जाकर अपनी बस्तियाँ बसाईं और वहीं रहने लगे। सन् १९२८ ई० तक एस्किमो जातिवालों की कुल संख्या ३०,००० समझी जाती थी। पता नहीं, गोरी जातिवालों के आगमन से पहले उनकी संख्या कितनी रही होगी। श्वेतांगों के सम्पर्क में आने पर कनाडा, अलास्का तथा अन्य प्रदेशों में रहनेवाले एस्किमो लोगों में ख़सरा, चेचक तथा अन्य छूत की बीमारियाँ फैल गईं, जिनके प्रकोप से उनकी समूची बस्तियाँ उजड़ गईं। इस भयंकर जनसंहार के फलस्वरूप उनका निरन्तर ह्रास होता गया और ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी जनसंख्या का अब केवल चौथाई भाग ही संसार में बचा है। समय की गति के साथ अब एस्किमो भी योरपीय या अमेरिकन जातियों में बहुत-कुछ मिलते जा रहे हैं और उनमें अंतर्जातीय विवाह-सम्बन्ध प्रचलित हो जाने के कारण धारणा की जाती है कि कभी एस्किमो का नाम ही संसार से संभवतः लुप्त हो जायगा। डेविस स्ट्रेट्स और बैफिन की खाड़ी के निवासियों ने तो नए युग की सभ्यता को पूर्णतः अपना लिया है और वे नाममात्र के ही एस्किमो रह गए हैं!

ध्रुव-प्रदेश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एक-दूसरे से हज़ारों मील दूर रहने पर भी एस्किमो लोगों की सभी जातियों में एक अद्भुत समानता पाई जाती है। बेयरिंग स्ट्रेट्स के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में रहनेवालों और ग्रीनलैंड के रहनेवालों में ज़रा भी अन्तर नहीं पाया जाता। उनको एकत्र देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि वे एक ही पूर्वज की सन्तान नहीं। उनकी बोली भी काफ़ी मिलती है। अलास्का और ग्रीनलैंड के एस्किमो ज़रा देर प्रयत्न करने से ही एक दूसरे से वार्त्तालाप कर सकते हैं, यद्यपि दोनों के देशों में ३००० मील का फ़ासला है! उनकी बोली की यह अद्भुत समानता मानव-जाति के इतिहास में एक असाधारण आश्चर्य का विषय है। एस्किमो की अनेक उपजातियों की यह पारस्परिक समानता और उनके देशों की एकान्त स्थिति से यह अनुमान लगाया जाता है कि वे एक बहुत ही प्राचीन जाति के लोग हैं, जिसकी विशेषता का उदाहरण अन्य जातियों में नहीं मिल सकता।

एस्किमो लोग क़द में छोटे और नाटे होते हैं। उनकी लम्बाई का औसत ५ फ़ीट ४ इंच से अधिक नहीं पाया जाता। स्त्रियाँ और पुरुष, दोनों ही, हृष्ट-पुष्ट और फ़ुर्तीले

होते हैं। उनका चेहरा गोल, चौड़ा और भरा हुआ, ललाट ऊँचा तथा कुछ पीछे को दबा हुआ, दाँत सुन्दर, मसूड़े कमज़ोर, नाक चिपटी तथा आँखें छोटी, काली और चमकदार एवं कुछ खिंची हुई-सी होती हैं। उनका सिर बड़ा और केश काले तथा कुछ भूरापन लिये हुए सख्त होते हैं। पुरुष अपने केश सामने की ओर से छाँट देते हैं, मगर पीछे उन्हें जटाओं की तरह बढ़ाए हुए रखते हैं। उनकी खोपड़ी ऊँची और लम्बी होती है। कहीं-कहीं छोटे शिशुओं के सिर दबाकर लम्बे कर देने का भी रिवाज़ है। पुरुषों के छोटी-छोटी मूछें होती हैं, मगर दाढ़ी नहीं होती। शायद ही कोई एस्किमो ऐसा मिले जो दाढ़ीवाला हो। उनके शरीर की त्वचा लचकदार मगर कुछ सख्त होती है और उस पर मैल तथा चिकनाई की तहें जमी रहती हैं। आयु के अनुरूप इस मैल की न्यूनता या अधिकता पाई जाती है। अत्यन्त ठंडे देश के निवासी होने के कारण उनके लिए स्नान की सम्भावना नहीं होती, इसी कारण वे अत्यधिक मैले और गन्दे रहते हैं। छोटे बच्चों और युवा स्त्रियों के गालों पर, पानी से रगड़ने और धोने के बाद, लालिमा के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। एस्किमो के शरीर का रंग भूरा होता है और सफ़ाई के बाद धीरे-धीरे निखरकर कुछ गेहुँआ हो जाता है। उनके हाथ-पैर छोटे मगर सुडौल बने होते हैं। स्त्रियाँ शिशुओं को जीभ से चाटकर उनके शरीर का मैल छुड़ाती हैं! कहीं-कहीं स्त्रियाँ अपने केशों के बीच में माँग निकालकर वेणियाँ भी बाँधती हैं, जो सामने दाहिनी ओर बाईं ओर लटकती रहती हैं। कोई-कोई वेणियों के साथ-साथ लकड़ी या हड्डी के पतले टुकड़े लगाकर केशों को समेटकर ऊपर की ओर जूड़े के रूप में भी बाँधती हैं, ताकि केश अस्तव्यस्त न हों। यह जूड़ा सीधा ऊपर की ओर बाँधा जाता है, जैसा हमारे देश में सिक्ख लोग बाँधते हैं। जूड़ा बाँधने के लिए बारहसिंघे की खाल की पतली डोरी व्यवहार में लाई जाती है, जिसका रोएँदार भाग ऊपर रहता है। सामर्थ्य के अनुसार कुछ स्त्रियाँ पीतल के दो छल्लों में से अपने केश बाहर निकालकर तब उन्हें लपेटती और जूड़ा बाँधती हैं, जिससे वे अधिक व्यवस्थित रहते हैं। स्त्रियों में कहीं-कहीं गोदना गोदाने का भी रिवाज है। गोदने को इनकी भाषा में 'काकीन' कहा जाता है। इनके हाथ-पैर तथा शरीर के अधिकांश अंगों पर गोदने के चित्र-विचित्र रूप दिखाई देते हैं। किसी-किसी जाति में केवल अविवाहिता लड़कियाँ ही ललाट, गालों और ठुड्ढी पर गोदने से शृंगार करती हैं, परन्तु विवाहिता स्त्रियों ने भी इस प्रथा को अपना लिया है। इन लोगों में गोदना सौन्दर्य बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन समझा जाता है।

एस्किमो पुरुष

एस्किमो की कुछ जातियाँ, जो श्वेतांगों के सम्पर्क में आ चुकी हैं, ऊन के बने हुए विदेशी वस्त्र धारण करती

हैं, किन्तु अधिकांश लोग सील, रेनडियर, भालू, कुत्तों और लोमड़ियों की खाल के वस्त्रों का ही व्यवहार करते हैं। पुरुषों और स्त्रियों के पहनावे में बहुत कम भेद रहता है। ये लोग जैकेट या फतुही और पाजामे पहनते हैं तथा सील की खाल के जूते काम में लाते हैं। पाजामे को वे जूतों के भीतर करके बाँधते हैं। उनकी फतुही के साथ एक कनटोप भी लगा रहता है, जो ठण्डे मौसम में सिर और चेहरा ढकने के काम आता है। स्त्रियों की जैकेट के साथ लगा हुआ कनटोप बहुत बड़ा होता है। उसमें एक बड़ा-सा थैला बनाया जाता है, जिसमें वे बाहर जाते समय अपने छोटे बच्चों को बिठा लेती हैं। कनटोप के पीछे के भाग में लम्बी पूँछ-जैसी लगी रहती है, जो कमर-बन्द में लपेट ली जाती है। स्त्रियों के पाजामों में बत्तख की गर्दन के नरम पंखों या रंगीन चमड़े की बड़ी सुन्दर झालर लगाई जाती है। उनके जूते, जो अधिकतर सफेद चमड़े के बनते हैं, घुटनों तक लम्बे पहने जाते हैं और उनका ऊपरी हिस्सा खूब चौड़ा होता है। स्त्रियाँ जब इन जूतों को पहनकर चलती हैं तो उनकी चाल बड़ी भद्दी मालूम होती है। जाड़े के दिनों में दोहरे वस्त्र पहने जाते हैं—एक में रोएँदार भाग भीतर की ओर रहता है और दूसरे में बाहर की ओर। ये लोग पक्षियों, कुत्तों या छोटे रेनडियर की नरम खाल के बने हुए मोज़े भी व्यवहार में लाते हैं। इनके वस्त्रों की बनावट बड़ी साफ़, चुस्त और सुन्दर होती है। खाल के टुकड़ों को परस्पर जोड़ने के लिए हड्डी या लोहे की बनी सुई और ताँत का धागा काम में लाया जाता है। लड़कों और लड़कियों का पहनावा एक-सा होता है। तीन साल तक के बच्चे नंगे ही रखे जाते हैं और उनकी माताएँ उनको अपने कन-टोपों में लिये रहती हैं, जैसा कि हम बता चुके हैं। अब तो विदेशों से आनेवाले व्यापारियों द्वारा इन्हें ऊनी वस्त्र भी मिलने लगे हैं, जिनका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

एस्किमो जाति शिकार द्वारा ही अपना पेट भरती है। समुद्र और उसका तट आदि काल से इस वीर जाति की क्रीड़ाभूमि रहा है। समुद्र की महत्ता एस्किमो के जीवन, आवास, आहार और व्यवहार सब में समाई हुई है। अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए वह समुद्र का आश्रय लेता है। उसकी यात्रा का क्षेत्र भी समुद्र तक ही सीमित है। उसके देश में खेती हो ही नहीं सकती, न पेड़-पौधे ही जम सकते हैं। कहीं-कहीं जंगली कन्दमूल के इने-गिने चिह्न सौभाग्यवश मिल जाते हैं। अतएव एक प्रकार से वनस्पतियों के व्यवहार से वह सर्वथा वंचित ही रहता है। मांस खाने के अतिरिक्त और कोई उपाय उसके लिए नहीं रह गया है। सील मछली, जंगली हिरन, वालरस आदि हिम प्रदेश में पाए जानेवाले जन्तुओं का मांस ही उसका आहार है। इन्हीं जानवरों का चर्म उसके वस्त्रों के काम आता है। उनकी चर्बी को जलाकर वह प्रकाश का अभाव दूर करता है। समुद्र द्वारा बहाकर लाई गई लकड़ी जब अप्राप्य होती है तब चर्बी ही ईंधन का भी काम देती है। जानवरों की हड्डियों से वह अपनी सवारी की गाड़ियाँ तथा अन्य घरेलू व्यवहार की वस्तुएँ बना लेता है। एस्किमो की नावें भी समुद्र से बहकर आई हुई लकड़ियों या हड्डियों और खालों से ही बनाई जाती हैं।

हिमप्रदेश के इन कर्मठ बाशिंदों ने स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाने में असाधारण क्षमता का परिचय दिया है। वर्तमान युग में एस्किमो लोग पत्थर के टुकड़ों और लकड़ी के लट्ठों से अपने घर बनाने लगे हैं, किन्तु पहले वे इस विषय में बिल्कुल प्राचीन तरीक़ों से काम लेते थे। सुदूर एकान्त प्रदेशों में बसे हुए एस्किमो गर्मी की ऋतु में पशुचर्म-निर्मित ख़ीमों में रहते और जाड़ों में मिट्टी, कंकड़ और हड्डियों से आधी दूर तक धरती में धँसे हुए झोपड़े बनाकर उन्हीं में निवास करते थे। ऐसे झोपड़ों का प्रवेश-मार्ग ज़मीन के भीतर बनाया जाता था और सुरंग के आकार का होता था, जिसके द्वारा वे पशुओं की भाँति हाथ-पैरों पर रेंगकर ही भीतर जा सकते थे। कभी-कभी थोड़े दिनों के प्रवास-काल में जब वे ऐसे भूभागों में जा पहुँचते थे, जहाँ बर्फ़ के सिवाय पेड़-पौधे, पत्थर आदि कुछ नहीं मिलते थे, तो वे बर्फ़ के ही घर बनाकर रहते थे! बीसवीं शताब्दी के सभ्य जगत् में बर्फ़ के घर की कल्पना मात्र असंभव प्रतीत होती है, परन्तु भयंकर वेग से चलती हुई बर्फ़ की आँधियाँ, कड़ाके की सर्दी और चारों ओर बरसता हुआ बर्फ़ का मेह—ऐसी परिस्थिति में पड़े हुए उन मुट्ठीभर विवश मानवों का धैर्य्य और साहस, उनकी वीरता और सूझ, वास्तव में सराह-

नीय है। बर्फ़ के संसार का वह प्राणी अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति सिवा बर्फ़ के और किस पदार्थ से करता? बस, परिवार के दो-चार व्यक्ति इकट्ठे हुए—कुछ बर्फ़ की छोटी-छोटी शिलाएँ उठा-उठाकर लाने लगे तो दो-एक घर बनाने में जुट गए। हिमशिलाओं को काटकर क्रम से मिलाकर बिठाया गया। एक गोल घिरौंदा जैसा बनाया गया, जिसके ऊपर उसी आकार में वैसा ही दूसरा एक छोटा घिरौंदा बना। इसी प्रकार क्रम चलता गया। अन्त में एक बर्फ़ का स्तूप-जैसा बनकर तैयार हो गया, जो देखने में ऐसा जान पड़ता था मानो श्वेत काँच का बहुत बड़ा कटोरा औंधा रख दिया गया हो। इस मकान के भीतर घुसने के लिए लगभग एक गज़ चौड़ा नीचा द्वार बना दिया गया। प्रकाश आने के लिए खिड़कियों के स्थान पर बर्फ़ की पतली पारदर्शी चादर लगा दी गई। बस, एस्किमो का हिमगृह तैयार हो गया। खूबी तो यह है कि बात-की-बात में ये लोग ऐसा घर तैयार कर लेते हैं। इस घर के भीतर की गोल जगह का व्यास १५-१६ फ़ीट से अधिक नहीं होता, ऊँचाई ६-७ फ़ीट होती है और उसमें रहनेवाले प्राणी कम-से-कम ८। द्वार के आगे बर्फ़ की ही मेहराब बनाई जाती है, जिससे होकर सुरंग-जैसे मार्ग में प्रवेश करके आगन्तुक इस बर्फ़ के घर के भीतर जा सकता है। आप कहेंगे, बर्फ़ के घर में रहनेवाले के हाथ-पैर सर्दी से ठिठुर न जाते होंगे! परन्तु बात बिल्कुल उल्टी है। भीतर पहुँचकर एस्किमो लोग अपने सब कपड़े उतार डालते हैं, क्योंकि वहाँ काफ़ी गर्मी होती है, यद्यपि वहाँ बैठने के लिए बर्फ़ की चौकी, सोने के लिए बर्फ़ के लम्बे चबूतरे, सिरहाने तकिये की जगह भी बर्फ़ की शिला ही होती है, जिन पर चटाइयाँ, खालें आदि बिछी रहती हैं।

इसी बर्फ़ के घर में, छत के सहारे वे अपने हारपून आदि अस्त्र-शस्त्र लटका देते हैं। घर के भीतर बीचोबीच में एक ऊँचा-सा मचान-जैसा बाँधा जाता है, जिसके सहारे एक मामूली जाल लटका रहता है। जाल के नीचे एक दीपक रखा रहता है। यह दीपक अंडाकार बनी हुई

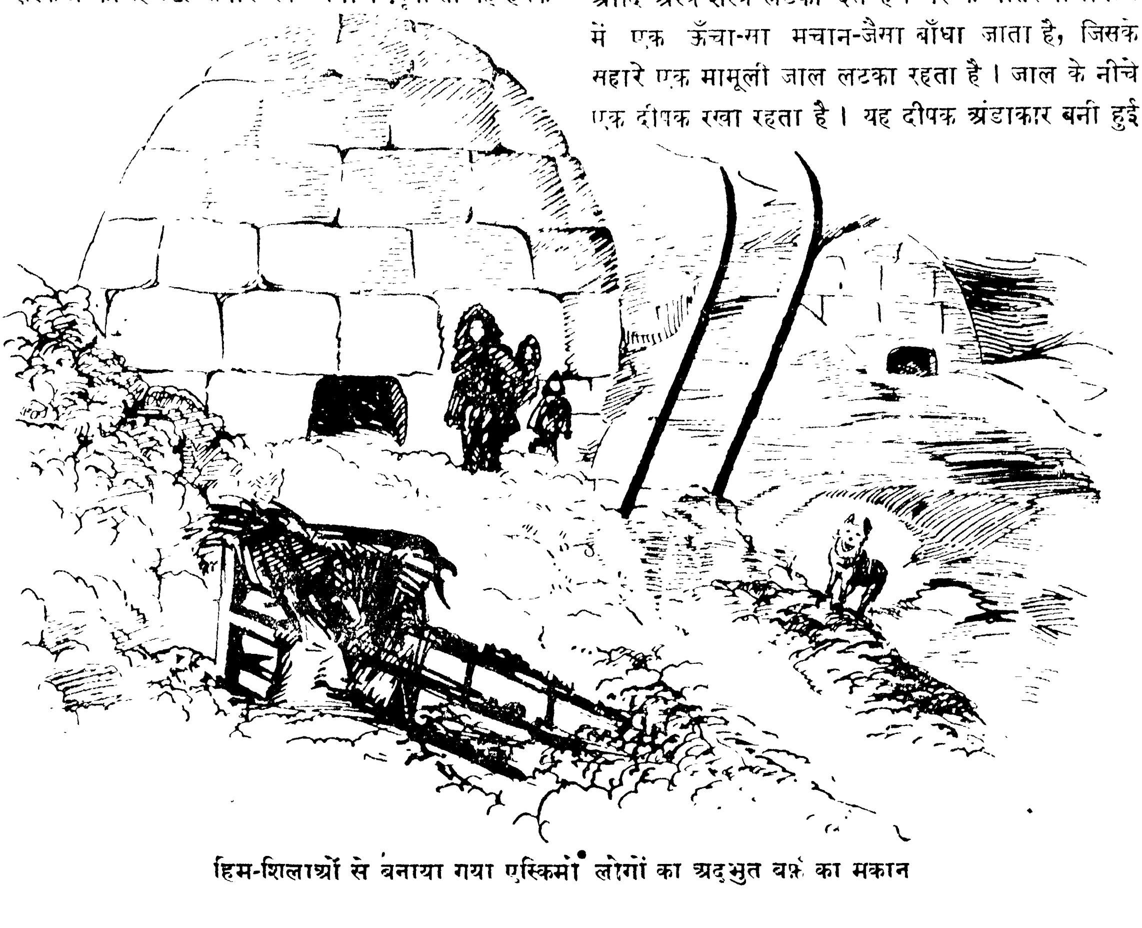

हिम-शिलाओं से बनाया गया एस्किमो लोगों का अद्भुत बर्फ़ का मकान

पत्थर की एक कटोरी-जैसा होता है, जिसमें सिवार की बनी हुई एक मोटी बत्ती लगाई जाती है। उसमें थोड़ी पिघली हुई चर्बी छोड़कर बीच में जमी हुई चर्बी का एक स्तूप-जैसा रख दिया जाता है, ताकि दीपक बराबर जलता रहे। यही दीपक उनको प्रकाश देता है और उनके ईंधन का भी कार्य यही करता है। दीपक के ऊपर खाना पकाने का एक बर्तन लटका रहता है। यह दीपक उनके बड़े काम की वस्तु है। उससे खाना पकाने का कार्य तो इतने महत्त्व का नहीं है, क्योंकि एस्किमो प्रायः कच्चे मांस का ही व्यवहार करते हैं, प्रत्युत महत्त्व इस बात में है कि इसी दीपक के द्वारा उनका आवास-स्थान गरम रहता है। इस प्रकार शीत से रक्षा करने में यह दीपक बड़ा सहायक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त दीपक की आँच में बर्फ़ को पिघलाकर वे पानी भी बना लेते हैं। उसी आँच से उनके वस्त्र भी सुखाये जाते हैं। वे अपने पहनने के वस्त्र उतारकर उन पर लगे हुए बर्फ़ के टुकड़ों को झाड़ने के बाद दीपक के ऊपर लटके हुए जाल में फैला देते हैं, जिसमें कुछ ही देर में वे सूख जाते हैं। सूखने के बाद, स्त्रियाँ उन वस्त्रों को दाँतों से चबाकर नरम करती हैं और तब वे पुनः व्यवहार योग्य हो पाते हैं! अगर ये वस्त्र चबाये न जाएँ तो वे ऐंठे हुए-से रह जाते हैं और ठण्ढ के कारण बिल्कुल सख्त बने रहते हैं। स्त्रियाँ ही चर्बी को दाँतों से चबाकर तेल भी निकालती हैं। उनको इस कार्य का इतना अभ्यास पड़ जाता है कि एक मिनट में वे जितना तेल निकाल लेती हैं, उससे दो फ़ीट का दीपक भी लबालब भर जाता है! तारीफ़ की बात तो यह है कि इस प्रकार निकाले हुए तेल में पानी या नमी का अंश बिल्कुल नहीं रहता।

एस्किमो के घर के भीतर एक ओर लकड़ी की एक भद्दी-सी बेंच पड़ी रहती है, जो बैठने तथा सोने के काम आती है। सोते समय स्त्रियाँ और पुरुष अपने सब वस्त्र उतार डालते हैं और खाल के बने हुए जाँघिए पहने रहते हैं। घर की फ़र्श बड़ी गंदी रहती है। कहीं रक्त पड़ा रहता है, कहीं मरी हुई मछलियों के टुकड़े। प्रवेश-द्वार के अलावा भीतर हवा आने का कोई मार्ग नहीं रहता और कुछ देर तक दीपक जलते रहने से इतनी गर्मी मालूम होती है जो सहन नहीं होती। गर्मी के मौसम में इनके लोमड़ीनुमा कुत्ते झोंपड़े की छत के बाहर पड़े रहते हैं और जाड़ों में उसके सुरंग-जैसे प्रवेश-मार्ग में सोया करते हैं। पश्चिमी प्रदेशों के निवासी एस्किमो लकड़ी के तख्तों से घर बनाते हैं, जिसकी दीवारों पर बाहर की ओर हरी घास और मिट्टी लगाई जाती है। प्राचीन युग में एक घर में अनेकों परिवार रहते थे, फिर धीरे-धीरे प्रत्येक परिवार के लिए अलग घर बनाने की प्रथा चल गई।

एस्किमो शिकार के लिए हॉरपून नामक एक शस्त्र का व्यवहार करते हैं, जो बाण और बरछे का मानो एक सम्मिलित विकृत रूप होता है। उनकी नाव भी बड़ी विचित्र होती है। वह लकड़ी या ह्वेल मछली की हड्डियों का ढाँचा बनाकर तथा ऊपर खाल मढ़कर बनाई जाती है। नाव चारों ओर से खाल से ढकी रहती है और उसमें पानी बिल्कुल नहीं जा सकता। उसके बीच में वे एक गढ़ा-सा बनाते हैं जिसमें एक व्यक्ति के बैठने भर की जगह होती है। खेने के लिए दोहरे मुँह के डाँड़, जिनके सिरों पर हड्डी लगी होती है, व्यवहार में लाये जाते हैं। एस्किमो एक कमर तक लम्बा बरसातीनुमा ढीला चोग़ा पहनकर नाव में बैठते हैं। उस चोग़े का दामन चारों तरफ़ से नाव पर मढ़ी हुई खाल के साथ मज़बूती से बाँध दिया जाता है, जिसमें यदि पानी में नाव उलट भी जाए तो भी न डूबे, क्योंकि उसमें पानी के प्रवेश करने का एक भी छिद्र नहीं रखा जाता। एस्किमो स्त्रियाँ चिपटे पेंदे की एक विशेष नाव व्यवहार में लाती हैं जो सामान आदि लादने और ले जाने के काम आती है। इसके अतिरिक्त, एस्किमो लोग लकड़ी या हड्डी की बनी हुई बर्फ़ पर चलने योग्य फिसलनेवाली गाड़ी भी, जिसे स्लेज कहते हैं, प्रायः काम में लाते हैं। इस गाड़ी के निचले भाग में पहियों के स्थान पर हड्डी के टेढ़े चिकने टुकड़े लगे रहते हैं और चार से आठ तक कुत्ते उसमें जुते रहते हैं जो बड़ी तेज़ी से उसे बर्फ़ पर खींचते हैं। एस्किमो लोग उत्तरी सागर में रहनेवाली सील मछली, जिसका आकार एक बड़े कुत्ते-जैसा होता है, और वालरस नाम के समुद्री जन्तु का शिकार बड़ी चतुरता से करते हैं। ये जन्म से ही शिकारी होते हैं और इनका निशाना बड़ा सच्चा होता है। कभी-कभी ह्वेल मछलियाँ भी उनके हाथ लग जाती हैं और उनको वे बड़े काम की वस्तु समझते हैं। ह्वेल

की हड्डी, खाल, मांस और चर्बी सब-कुछ काम की चीज़ें होती हैं। हॉरपून के अतिरिक्त कहीं-कहीं धनुष-बाण भी काम में लाये जाते हैं, किन्तु उनकी बनावट साधारणतया अजीब-सी होती है। उनका व्यवहार रेनडियर या बर्फ़ के हिरनों के शिकार में ही अधिक होता है। हाथों की रक्षा के लिए ये लोग हड्डी के टुकड़ों का बना हुआ एक वर्म प्रयोग में लाते हैं, जो ताँत से बँधा रहता है। लोमड़ी और भेड़ियों को पकड़ने के लिए ये चूहेदान जैसे जाल बनाकर भी काम में लाते हैं। कभी-कभी छोटे बरछे भी इनके शिकार में व्यवहृत होते हैं।

एस्किमो लोगों में विवाह की रस्म बड़ी साधारण और आडम्बररहित होती है। वर-वधू के माता-पिता ही विवाह तय करते हैं। विवाह के समय कोई विशेष संस्कार या समारोह की आवश्यकता नहीं पड़ती। विवाह के बाद पति-पत्नी एक पृथक् झोपड़े या घर में रहने लगते हैं। एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है, जिनमें से एक उसकी प्रधान पत्नी मानी जाती है और उसको सबसे अच्छी तरह रखा जाता है। वही सारे घर का प्रबन्ध करती है और पति के व्यवहार की वस्तुओं की देखभाल रखती है। बच्चा पैदा होने पर माता कुछ महीनों के लिए पृथक् रखी जाती है और तब परिवार से वह कुछ दूर रहती है। उस अवधि के समाप्त होने पर उसे नए वस्त्र दिए जाते हैं, जिन्हें पहनकर वह फिर पुराने घर में आ जाती है। एस्किमो स्त्रियाँ हाथीदाँत और हड्डियों पर नक़्क़ाशी का काम बनाना ख़ूब जानती हैं और इन्हीं वस्तुओं से वे छुरी और चाकू बना लेती हैं।

एस्किमो स्त्रियाँ और पुरुष नाचने के बड़े शौक़ीन होते हैं, किन्तु उनके नृत्य में कोई विशेषता न होकर उछल-कूद की मात्रा अधिक रहती है, जिससे वे अपना मनोविनोद भर कर लेते हैं। बच्चे अपने हाथों की उँगलियों में ताँत के फन्दे फँसाकर उनसे सील, रेनडियर, कुत्ते आदि की आकृतियाँ बनाने का खेल खेलते हैं।

धर्म के विषय में एस्किमो जातिवाले कुछ भी नहीं जानते। केवल आगामी जीवन, परलोक, स्वर्ग और नरक का अस्तित्व वे मानते हैं। नरक को वे अँधेरा, बर्फ़ से ढका हुआ, हिम के तूफ़ानों से घिरा हुआ और सील मछलियों से रहित निर्जन प्रदेश मानते हैं। वे एक सर्व-व्यापी महान् आत्मा को और एक स्त्री-रूपी देवी को, जिसे वे अपनी रक्षा करनेवाली समझते हैं, कुछ-कुछ पूजते हैं। उनमें पूजा करानेवाले ओझे या स्याने होते हैं, जिनको 'ऐंगीकाक' कहा जाता है। बीमारी आने पर या शिकार की यात्रा का शकुन देखने के समय इन्हीं 'ऐंगीकाकों' से काम पड़ता है। ये ऐंगीकाक एस्किमो लोगों को अच्छी तरह ठगते हैं और अपने कार्य्य के उपलक्ष्य में बहुत-कुछ उनसे वसूल करते हैं।

ईमानदारी और अतिथि-सत्कार एस्किमो जातिवालों के सबसे बड़े गुण हैं। वे किसी की वस्तु को एकान्त में पड़ी देखकर भी कभी नहीं चुराते। घर आए हुए अतिथि को अपने भोजन का सर्वोत्तम अंश देना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं, चाहे स्वयं उनको और उनके परिवार को भूखा ही क्यों न रहना पड़े। बीमार व्यक्तियों को वे एक अलग घर बनाकर उसमें रख देते हैं और आवश्यक व्यवहार की सामग्री उसमें रखकर उनकी ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं। यदि उनके घर में ही कोई मर जाय तो उनको अपने सारे वस्त्र फेंक देना पड़ते हैं, किन्तु इस प्रथा का कोई कारण समझ में नहीं आता और न वे स्वयं ही उसे जानते हैं। मृतक शरीर को वे बर्फ़ में गड्ढा खोदकर दफ़ना देते हैं। कभी-कभी दफ़नाने के बजाय वे मुर्दे को उसके व्यवहार किए हुए सामान सहित किसी पहाड़ की चट्टान पर दूर छोड़ आते हैं। बच्चे के मरने पर उसके साथ वे उसके खेलने के खिलौने आदि भी दफ़ना देते हैं। उनका विश्वास है कि परलोक में उसे उनकी ज़रूरत पड़ेगी। मृत व्यक्तियों के प्रति उनका व्यवहार पूर्ण उदासीनता का रहता है, यद्यपि कुछ जातियों में इसके ठीक विपरीत होता है। वे अपने मृत संबंधियों की क़ब्रों पर जाते हैं और घंटों उनसे इस प्रकार वार्त्तालाप करते रहते हैं, मानों वे अब भी जीवित ही हों।

खेद की बात है कि यह प्राचीन जाति अब धीरे-धीरे लुप्त होकर श्वेत जातियों में मिलती जा रही है और वह दिन दूर नहीं जब एस्किमो केवल एक बीते इतिहास का ही शब्द रह जायगा। वस्तुतः नए युग की सभ्यता के गुण और दोष दोनों ने एस्किमो के जीवन में घर कर लिया है और फलतः वे नवीनता के कृत्रिम प्रकाश में तीव्र गति से खिंचते चले जा रहे हैं।

लाप

योरप के बर्फ़ीले उत्तराखण्ड के निवासी

योरप के धुर उत्तरी प्रदेश और रूस के उत्तरी सीमान्त के बीच नार्वे, स्वीडन और फ़िनलैंड के हिमाच्छादित जनशून्य भागों को लापलैंड के नाम से सम्बोधित किया जाता है, जिसकी सीमा श्वेत सागर तक मानी जाती है। इस कड़ाके की सर्दी के प्रदेश के निवासी 'लाप' के नाम से पुकारे जाते हैं, जिसका अर्थ है 'ख़ाना-बदोश'। इन लोगों का यह नाम स्वीडन के निवासियों ने प्राचीन काल में रखा था, परन्तु स्वयं लाप अपने को 'सम-लात्स' कहते हैं। अपने प्रदेश में उनका आधिपत्य होने का उल्लेख जिस समय इतिहास के पृष्ठों में पहलेपहल आया उस ज़माने में वे उपनिवेश-स्थापकों के रूप में पाए गए न कि विजेताओं के रूप में। वे अपने देश को 'साब्मे' या 'सम' कहते हैं। 'सम' शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ अनुमानतः 'काला' माना जाता है। सच पूछा जाय तो विदेशियों ने इस जाति को तुच्छता की दृष्टि से 'लाप' नाम दिया, जैसा कि आजकल लाप लोग अपने ही असभ्य बन्धुओं को, जो उनसे बहुत सी बातों में अपेक्षाकृत न्यून होते हैं, 'लाप' कहकर पुकारते हैं। सम्भवतः 'लाप' शब्द फ़िनिश भाषा के 'लापू' शब्द का विकृत रूप है, जिसका अर्थ होता है—'पृथ्वी के सिरे पर रहनेवाले लोग'। लाप जातिवाले दो श्रेणियों में विभाजित हैं—समुद्री लाप, पहाड़ी लाप, और जंगली लाप। एस्किमो लोगों की तरह इनकी भी कुल जन-संख्या अट्ठाइस से तीस हज़ार तक समझी जाती है।

समुद्री लाप समुद्र और नदियों में मछलियों का शिकार करते हैं। उनकी नावें बड़ी सुन्दर होती हैं और सूखी हुई मछलियाँ, अंडे और जंगली मुर्गे बेचकर वे पैसा कमाते हैं। व्यापार करना उनको ख़ूब आता है, क्योंकि विदेशियों के सम्पर्क में आए हुए उनको काफ़ी समय हो चुका है। जब वे पर्याप्त धन इकट्ठा कर लेते हैं तब थोड़ी ज़मीन लेकर घर बनाते और वहीं बस जाते हैं। उन पर नई सभ्यता का प्रभाव पड़ चुका है और वे उसकी सुविधाओं से लाभ उठा रहे हैं। उनकी बस्तियाँ समुद्र-तट पर ही पाई जाती हैं। वास्तव में पहाड़ी और जंगली लाप ही 'लाप' जाति के वास्तविक प्रतिनिधि होते हैं। वे पर्यटनशील होते हैं और उनको एक ख़ानाबदोश जाति कहना अनुचित न होगा। लापलैंड में बहुतायत से पाया जानेवाला रेनडियर या बारहसिंघा उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति समझी जाती है और उसे ही वे पालते हैं। लाप जाति, संख्या में न्यून होने पर भी, अपनी दो विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है। एक तो यह कि इस जाति की उत्पत्ति का इतिहास इतना प्राचीन है कि उसका पता ही नहीं लगता; दूसरी यह कि इस जाति के लोग, हज़ारों वर्षों का समय बीतने पर भी आज भी, वैसे ही रूढ़िवादी हैं और सभ्यता से वैसे ही दूर हैं जैसे कि पहले थे और उनकी रहन-सहन तथा वेशभूषा में भी बहुत कम परिवर्त्तन हो सका है। एक सुदूर देश में भयंकर कड़ाके की सर्दी, हिमाच्छादित पर्वतों के नीचे बर्फ़ीली चादरें ओढ़े हुए ऊँचे-ऊँचे पेड़, तुषारकणों की बौछार करती हुई आँधी, दिन को रात बनानेवाला घोर अन्धकार, काले आकाश के नीचे निस्तब्धता के साम्राज्य में खोई हुई प्रकृति—ऐसे अजीब वातावरण में लाप लोग न जाने कितने हज़ार वर्षों से एस्किमो लोगों की भाँति प्रकृति से निरंतर लोहा लेते हुए अपनी जीवन-यात्रा पूरी करने में प्रयत्नशील हैं।

लाप लोग शरीर से हृष्ट-पुष्ट न होने पर भी बड़े साहसी, मज़बूत और परिश्रमी होते हैं। उनकी आयु का औसत ८० वर्ष से कम नहीं होता। उनका रंग गहरा ताँबे जैसा, धूमिल या गोरा होता है, जो प्रान्तीय जलवायु के अनुसार अलग-अलग मिलता है। उनके केश सुनहरे, भूरे, या हरापन लिये हुए काले होते हैं। आँखें काली, भूरी या नीली होती हैं। दाढ़ी उनके बिल्कुल नहीं उगती या बहुत कम होती है। मुँह बड़ा, होंठ मोटे और हाथ-पैर छोटे होते हैं। स्त्रियों के चेहरे मंगोल जातिवालों की भाँति चौड़े होते हैं और नाक नीची व फैली हुई होती है। उनकी त्वचा कोमल और कपोल गुलाबी होते हैं। विदेशियों के सम्पर्क में आ जाने के कारण लाप स्त्रियों की वेशभूषा में कहीं-कहीं बड़ा परिवर्त्तन हो गया है। ठंडे देशवासियों के अनुकूल खालों और चमड़े के वस्त्रों को छोड़कर अब वे ऊन के बने हुए मोटे विदेशी वस्त्र व्यवहार में लाती हैं। परन्तु जाड़ों में स्त्री-पुरुष सभी रेनडियर की खाल के कपड़े पहनते हैं, जिनमें रोएँदार भाग भीतर की ओर रखा जाता है। स्त्रियाँ ऊनी वस्त्रों के ऊपर एक घुटनों तक लंबा चोगा भी पहनती हैं, जिसके छोर पर

एक लाप और उसका शिशु

लाल-पीली धारियाँ होती हैं। एक सुन्दर कामदार पेटी उनकी कमर में बँधी रहती है, जिसमें चाकू, कैंची तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ रखी जाती हैं। पैरों में नीले रंग के लम्बे मोज़े पहने जाते हैं। स्त्रियाँ सिर के ऊपर लकड़ी के ढाँचे पर ऊनी कपड़ा या रोएँदार खाल चढ़ाकर बनाई हुई एक ऊँची टोपी पहनती हैं। जंगली और पहाड़ी जातियों के स्त्री-पुरुष अभी भी रेनडियर की खाल के बने रोएँदार कपड़े ही पहनते हैं। गर्मियों में खाल के पाजामे, चमड़े के जूते, जिनकी नोक ऊपर की ओर मुड़ी रहती है, और एक चुस्त कमीज़ पहनी जाती है। जब वे बाहर शिकार को जाते हैं, तब खाल के बने हुए बड़े-बड़े झोले, जिनमें खाने-पीने का सामान रखा रहता है, कंधे पर डालकर ले जाया करते हैं। ये लोग एक लम्बी कमीज़ भी पहनते हैं, जिसको उनकी भाषा में 'बदमल' कहा जाता है।

पहाड़ी लाप खानाबदोशी की ज़िन्दगी बसर करते हैं। वे जंगली इलाक़ों में किसी ऊँची जगह या टीले पर छोटा-सा मचान बाँधकर उस पर लकड़ी का घर बनाते हैं, जिसको 'नजाला' कहते हैं। नवंबर के शुरू में पहाड़ी लाप दक्षिण या पूर्व के भूभागों की ओर चल देता है और जाड़ों भर इधर-उधर घूमता रहता है। मई के महीने में वह वापस लौटता है। ज्योंही ज्यादा गरमी पड़ने लगती है, वह पहाड़ों में चला जाता है और गरमी भर अपने ढोरों को चराता रहता है। पनीर उसका प्रिय पदार्थ है, जिसे वह इसी बीच में तैयार करके जमा कर लेता है। अक्तूबर आते ही वह अपने ढोरों में से बढ़े हुए बारहसिंघों (रेनडियर) को मारकर जाड़े के लिए भोजन का प्रबंध कर लेता है। रेनडियर के झुंड उसकी प्रमुख सम्पत्ति समझे जाते हैं और उन्हीं के लिए चारे की खोज में उसे खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अपने प्रवासकाल में वह तम्बू में रहता है। उसका भोजन रेनडियर का मांस, दूध और चर्बी है। उसी की खाल से वह कपड़े बना लेता है। ज़रूरत के वक़्त वह रेनडियर पर बोझा भी लाद लेता है। लापलैंड में लाखों की संख्या में अर्ध-जंगली रेनडियर पाये जाते हैं।

जंगल के रहनेवाले लाप लोग एक निश्चित प्रान्त की सीमा के आगे नहीं जाते और प्रत्येक के पास थोड़ी-बहुत ज़मीन होती है, जिस पर उसका मौरूसी अधिकार रहता है। प्रवासकाल के लिए उनके पास बहुतेरे छोटे-छोटे भूभाग होते हैं जिन पर वे जा बसते हैं। वे मई के महीने में अपने रेनडियर के झुंडों को छोड़ देते हैं और गरमी के मौसम में तथा जाड़ों के आरम्भ में उनको फिर पकड़ लाते हैं। वे शिकार करते हैं और मछलियाँ पकड़ते हैं। वे कुत्ते भी पालते हैं।

समुद्री लाप, जैसा हम पहले कह चुके हैं, नदियों के किनारे और समुद्री तट पर झोपड़े बनाकर रहते हैं। ये लोग भी रेनडियर पालते तथा मछलियाँ मारते हैं। व्यापार ही इनका मुख्य पेशा है, फिर भी ये अधिकतर ग़रीब होते हैं। इनके झोपड़े मिट्टी और लकड़ी के लट्ठों के बनते हैं। शिकार करने के लिए लाप लोग धनुष-बाण, छुरी, भालू मारने का बर्छा, तथा अन्य मामूली अस्त्र-शस्त्र व्यवहार में लाते हैं, जिनको वे स्वयं बना लेते हैं। रोएँदार जानवरों को मारने के लिए वे बिना फल के बाण का व्यवहार करते हैं, जिसमें उनकी खालें ख़राब न हों और बेची जा सकें।

लाप स्वभाव से सीधे होते हैं। भयंकर अपराध करनेवालों का उनमें सर्वथा अभाव है। एक ही अपराध वे करते हैं और वह यह कि कभी-कभी अपने पड़ोसियों के पालतू रेनडियर मार डालते हैं। अपनी व्यक्तिगत रहन-सहन और वस्त्रों के विषय में वे बड़े गन्दे होते हैं। वे पुरानी परंपरा के पक्षपाती और गंभीर प्रकृति के किन्तु हँसमुख होते हैं। कंजूसी की आदत उनमें बहुत होती है। वे व्यवहार में लालची पाए जाते हैं और बहुत कम सच बोलते हैं। किन्तु एस्किमो की तरह कठिनाइयों में हँसते रहना उनका विशेष गुण है। अपनी धार्मिक भावनाओं के वे दृढ़ समर्थक होते हैं और भावुकता को ज़रा भी ठेस लगने पर वे उत्तेजित हो जाते हैं। वे ईसाई धर्म को मानते हैं, मगर जादू-टोने में भी विश्वास रखते हैं। ऐसा सुना जाता है कि एक लम्बे चाबुक की रस्सी में गाँठें देकर वे लटका देते हैं और उसके द्वारा आँधी चला देते हैं! एक बड़ा ढोल, जिस पर तरह-तरह के चित्र बने रहते हैं, भविष्य जानने के लिए प्रयोग में आता है। उस ढोल पर एक कोने में पूरा आघात करने से सूर्य्य, दो बार आड़े-तिरछे आघात करने से थोर देवता, तथा इसी भाँति ईसा,

...मरियम और पवित्र आत्मा के आने का संकेत माना जाता है। कोई भी लाप, जो सयाना हो गया हो, इस ढोल द्वारा अपना प्रश्न पूछ सकता है, परन्तु अधिकतर असाधारण प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए जादूगर बुलाया जाता है, जिसे वे 'नोआयद' कहते हैं। वह एक छड़ी लिये रहता है, जिसे 'अरपा' कहते हैं, और उसे ढोल पर रखकर उसे बजाते हुए प्रश्नों के उत्तर देता है।

लाप लोगों में पूर्वजों के विषय में कुछ टूटे-फूटे उपाख्यान प्रचलित हैं, जिनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि वे कभी सुदूर पूर्व के देशों में रहते थे। इसके अतिरिक्त नार्स लोगों और करेलियन लोगों से उनके पूर्वजों का जो संग्राम हुआ, उसकी कथा भी वे बतलाते हैं, किन्तु किस प्रकार उनके पूर्वज लापलैंड में आए और कहाँ से कहाँ गए, यह वे नहीं जानते।

लाप-परिवार में पिता ही घर का मालिक होता है और उसी की हुकूमत सब पर चलती है। सब उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। पिता के बाद बड़ा पुत्र उस पदवी का अधिकारी होता है। माँ-बाप यदि चाहें तो अपने लड़कों को पैतृक अधिकार से वंचित भी कर सकते हैं। अगर कोई लड़का बाप से जुदा हो जाता है तो उसे अपनी पत्नी के दहेज की रक़म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिया जाता और वह पिता की सम्पत्ति का अधिकारी भी नहीं रह जाता।

एक लाप स्त्री—अपने बच्चे को लिये हुए

इतिहास में उल्लेख मिलता है कि लाप लोगों ने कई बार पिछले वर्षों में नार्स लोगों, रूसवालों, स्वीडन-निवासियों और करेलियन लोगों से लड़ाइयाँ लड़ी हैं। किन्तु स्वभाव से ये शान्त प्रकृति के लोग हैं और आपस में कभी भी लड़ते-झगड़ते नहीं देखे जाते। हाँ, योरपीय सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद इन लोगों में इधर बहुत-से दुर्व्यसन आ गए हैं। उनमें शराब और काफ़ी का सेवन बढ़ गया है और वे तड़क-भड़कदार वस्त्र पहनने के काफ़ी शौक़ीन हो गए हैं।

एस्किमो की भाँति लाप लोगों के लिए भी आधुनिक 'सभ्यता' की छूत अहितकर ही साबित हुई है और सभ्य संसार के विविध रोगों से आक्रान्त होकर वे उस कठोर वातावरण का सफलतापूर्वक सामना करने की अपनी पैतृक शक्ति को दिन पर दिन खोते चले जा रहे हैं। उनका जीवन योरप की हलचल से भरी जीवन-धारा के सम्पर्क में आकर अधिकाधिक जटिल भी होने लगा है। वर्तमान महायुद्ध ने तो और भी विशेष रूप से उनके समाज-बंधन को हिला दिया है, क्योंकि अब तो अपने बर्फ़ीले सुनसान प्रदेश के सीमान्त पर उन्हें रोज़ तोपों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ती है और उनके माथे पर होकर हवाई जहाज़ दौड़ने लगे हैं। निस्संदेह, कुछ ही दिनों में उनके जंगली जीवन की कहानी केवल इतिहास की कहानी रह जायगी!

समूदी और ऑस्तिआॅक

साइबेरिया के सूने हिम-प्रदेश के बाशिन्दे

१. समूदी

रूस के उत्तरी और साइबेरिया के पश्चिमी बर्फ़ीले पठारों और जंगलों में रहनेवाली समूदी जाति का इतिहास बड़ा ही अनोखा है। एशिया महाद्वीप के धुर उत्तर में ओबी नदी का मध्य भाग और आर्कटिक तट पर चेस्काया और खटंगा की खाड़ियों के बीच का प्रदेश समूदी लोगों की निवासभूमि कहा जाता है। इनके देश की सीमा कैनीन प्रायद्वीप तक मानी जाती है। समूदी साइबेरिया की सबसे प्राचीन जंगली जाति मानी जाती है। लोगों का अनुमान है कि पहले कभी अल्टाई पर्वतों और आर्कटिक महासागर के बीच का सारा लम्बा-चौड़ा भूभाग समूदी लोगों के अधिकार में था। पश्चिमी साइबेरिया में बहुत-से पुराने टीलों से, जिनके नीचे क़ब्रें मिलीं हैं, काँसे के युग की बहुत-सी ऐसी वस्तुएं खोदे जाने पर मिलीं हैं, जिनके द्वारा यह पता चला है कि पुराने ज़माने में उस प्रदेश में यूग्रो-समूदी नाम की कोई अर्द्ध-सभ्य जाति बसी हुई थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि समूदियों के पूर्वज खानें खोदने के कार्य में विशेष दक्ष होते थे। उनकी खानों के चिह्न पचास फ़ीट की गहराई तक मिलते हैं। इन खानों में बनी हुई भट्ठियाँ भी पाई जाती हैं, जिनमें वे लोग ताँबा, टीन, सोना आदि गलाया करते थे। उनके अस्त्र-शस्त्र कड़े काँसे के बनते थे और उसी धातु से वे बर्त्तन भी बनाते थे। खुदाई में मिले हुए बर्त्तनों पर बड़ी सुन्दर क़लम की चित्रकारी देखी गई है और उन पर चमकीली पालिश भी पाई जाती है। धातुओं के काम के ये लोग बड़े चतुर कलाकार थे, किन्तु उनके बनाए हुए मिट्टी के बर्त्तनों को अत्यन्त भद्दे और साधारण देखकर आश्चर्य होता है। पुराने ज़माने में समूदी लोग खानाबदोश न थे, वरन् स्थायी घर बनाकर रहते थे। वे घोड़े, भेड़ और बकरियाँ पालते थे। तब पाँचवीं शताब्दी में तुर्कों ने उनके देश पर आक्रमण कर उन्हें दासता के पाश में जकड़ लिया। लोगों का कहना है कि उन्हीं तुर्की-तातारी जातियों ने, जिनमें हूण और यूग्रियन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, समूदियों पर आक्रमण करके उनको उत्तरी प्रदेशों की ओर खदेड़ दिया।

रूस की भाषा में 'समूदी' शब्द का अर्थ है—'कच्चा आहार खानेवाले'। समूदियों की जाति निश्चय ही एक प्राचीन जाति है, जो समय के प्रवाह में पड़कर धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। इस जाति के लोगों की आकृति मंगोल जैसी होती है। ये लोग लाप लोगों से कुछ लम्बे होते हैं, परन्तु इनके क़द का औसत देखते हुए इन्हें नाटा ही कहना चाहिए। इनका सिर चौड़ा, आँखें गोल और छोटी, तथा शरीर गठा हुआ होता है। रंग गहरा मटमैला, बाल काले, होठ मोटे, दाढ़ी बिखरी हुई और मूछें काली होती हैं। उनकी बोली फ़िनो-यूग्रियन भाषाओं का सम्मिश्रण है और वह सानुनासिक समझी जाती है।

समूदी पुरुष

समूदियों की वेशभूषा ठण्ढे देशों में रहनेवाली अन्य जातियों जैसी ही होती है। जाड़ों में पुरुष रेनडियर की खाल के बने हुए घुटनों तक ऊँचे पाजामे पहनते हैं। छोटे रेनडियर की खाल के बने लंबे मोज़े भी, जिनमें रोएँदार भाग भीतर रहता है, अधिकतर पहने जाते हैं। इसके बाद जूतों का नम्बर आता है, जो मोज़े को मिलाकर जाँघों तक लम्बे बनाए जाते हैं। ये लोग रेनडियर की खाल का बना एक लम्बा चोगा भी पहनते हैं, जो आस्तीनदार होता है। उसके ऊपर कमर में ये एक पेटी-जैसी बाँधते हैं। चोगे का कालर काफ़ी ऊँचा और सीधा रखा जाता है और वह प्रायः सिर से भी ऊँचा होता है। इनकी टोपी भी उसी खाल से बनती है। गर्मियों के मौसम में वही चोगा उलटकर पहना जाता है, ताकि बालदार हिस्सा बाहर की ओर रहे। मगर बरसात में वही भीतर की ओर रखा जाता है। जब बर्फ़ पड़ती है और ठंढ बढ़ने लगती है, तब चोगे के ऊपर एक और कोट पहन लिया जाता है।

समूदियों का मुख्य धन रेनडियर या हिम-प्रदेश का बारहसिंघा होता है। ये लाखों की संख्या में लम्बे-चौड़े बर्फ़ीले पठारों और दलदलों में सिवार की खोज में फिरा करते हैं। समूदी इन रेनडियरों को पालते और उनसे बोझा ढोने तथा बर्फ़ पर चलनेवाली स्लेज गाड़ियाँ खींचने का काम लेते हैं। रेनडियर का मांस भी खाया जाता है और उसकी खाल के कपड़े बनाए जाते हैं। समूदियों के तम्बू तक रेनडियर की खाल के ही बनते हैं। शिकार करना और मछली पकड़ना ही समूदियों की जीविका का मुख्य साधन है। उनको ओबी नदी के निचले भाग में इसकी सुविधाएँ रहती हैं। वे भेड़िये आदि मांसाहारी पशुओं तक को मारकर खा जाते हैं। इन लोगों के शिकार के हथियार प्रायः पत्थर और हड्डी के होते हैं।

समूदी जन्म से ही स्वतंत्रताप्रिय होता है, फलतः सहज ही उस पर कोई अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। साथ ही वह अपने पड़ोसी जातिवालों की भाँति अतिथि-सत्कार करना भी खूब जानता है। ईमानदारी और सचाई उसके विशेष गुण कहे जा सकते हैं। बर्फ़ीले पठारों या बस्तियों के बाहर पड़ी हुई अपने पड़ोसियों की कोई भी वस्तु, जो कैसे ही छूट गई हो, वह कभी नहीं चुराता। टोबोलस्क से आनेवाले सौदागर जब उत्तरी प्रदेशों में गर्मियों में मछलियाँ ख़रीदने जाते हैं तो अपने साथ आटा, नमक आदि वस्तुएँ ले जाते हैं और इन चीज़ों को अपने ठहरने के स्थानों में रख देते हैं। जो वस्तुएँ बच जाती हैं, उनको अगले साल के लिए वे वहीं सूनी छोड़कर चले जाते हैं। यदि कोई समूदी उधर से निकलता है और उसे बड़ी आवश्यकता होती है तो वह अपनी आवश्यकता मात्र का सामान उसमें से ले लेता है। इस सौदे के बदले में वह उधार-पत्र के स्थान पर एक खाँचेदार छड़ी रख देता है। तदनंतर मछलियों का मौसम आने पर जब उसके पास उधार चुकाने का पर्याप्त साधन हो जाता है तो वह सौदागर के पास जाता है और उधार चुकाने के लिए काफ़ी मछलियाँ उसको दे देता है। इस भाँति सौदे की भरपाई हो जाती है। जो यात्री उधर गए हैं, उन्होंने अपने अनुभव से इस बात का समर्थन किया है और उनका कहना है कि समूदी बड़े दयावान, प्रसन्नचित्त, अतिथि-सत्कार में निपुण और अपनी वस्तुओं को दूसरों के साथ बाँट लेने में बड़े उदार होते हैं। वे अपनी स्त्रियों का बड़ा आदर करते हैं। वे स्वभाव से ही शान्तिप्रिय

समूदी स्त्री

और मिलनसार होते हैं। अपने मित्रों और परिचित लोगों से केवल भेंट करने के अभिप्राय से वे प्रायः कोसों की कठोर यात्रा किया करते हैं। क़िस्से-कहानियाँ सुनने-सुनाने का भी उन्हें बड़ा चाव रहता है।

थूरॉक के समूदी बड़े साहसी और युद्धप्रिय होते हैं और कई बार पिछले वर्षों में रूसी आक्रमणकारियों से वे लोहा ले चुके हैं। दक्षिणी प्रदेश के समूदी तातारी जातियों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। उनमें से कुछ अबा-कान के पठारों पर खेती भी करते हैं और पशु पालते हैं। उनकी बोली सगाई-तातारों की बोली से काफ़ी समानता रखती है। टोमस्क में ओबी के पास रहनेवाले समूदी रूस के निवासियों से विशेष प्रभावित हुए हैं और उनकी रहन-सहन रूसियों-जैसी ही है, किन्तु वे खेती नहीं कर सकते। वे अधिकतर ग़रीब हैं और अपने को सँभालना उनके लिए कठिन हो रहा है। रूसियों के साथ प्रायः समूदियों का सम्पर्क पहले इतना ही रहता था कि वे प्रति वर्ष ओबोडर्स्क और परतोसर्स्क के मेलों में जाते थे, जहाँ ज़ार-कालीन रूसी उनको बुरी तरह ठगते थे। किन्तु रूस में सोवियट प्रजातंत्र की प्रस्थापना के बाद से इन आदिम जातियों के साथ सहानुभूति का बर्त्ताव किया जाता है और उनकी प्रगति का भरसक प्रयास किया जा रहा है।

समूदी धर्म शमन धर्म से मिलता-जुलता है और साधा-रणतया ये लोग मूर्तिपूजक ही होते हैं। जो धनी और सम्पन्न परिवार के लोग हैं, उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है। पर हृदय से समूदी लोग ईसाई धर्म को स्वी-कार करना नहीं चाहते। उनको मूर्त्ति-पूजा विशेष प्रिय है और उसी को वे अपना जातीय धर्म मानते हैं। समूदियों के देवता मांसाहारी होते हैं और पूजा के अवसरों पर कच्चा मांस उनकी मूर्तियों के मुँह में ठूँस दिया जाता है। जब तक सब-कुछ ठीक रहता है तब तक तो समूदी भले ही ईसाई बने रहें, परन्तु ज्योंही उनका कोई पालतू रेनडियर मरने लगता है या बीमारी अथवा दूसरी कोई आफ़त उन पर आने लगती है, त्योंही वे फिर से अपने प्राचीन देवताओं की दुहाई देने लगते हैं। ईसाई धर्म की शिक्षाओं में विवाह और सामाजिक आचार-व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा का नए दीक्षा पाये हुए समूदियों पर ज़रा भी असर नहीं पड़ता। उनमें सभ्य समाजवाली शर्म का सर्वथा अभाव है। विवा-हित और अविवाहित स्त्री-पुरुषों का साथ-साथ एक ही स्थान में रहना इसका एक उदाहरण है। स्त्रियों की अदला-बदली द्वारा अतिथि-सत्कार करना तो उनमें एक साधारण नियम माना जाता है!

विदेशियों के सम्पर्क में आने के बाद से समूदियों में शराब और नशीली वस्तुओं का चलन बहुत बढ़ गया। रद्दी-से-रद्दी प्रकार की शराब के बदले में वे लोग ज़्यादा-से-ज़्यादा खालें, वॉलरस के दाँत व मछलियाँ दे देने लगे। इन्हीं दुर्व्यसनों के कारण उनमें चेचक आदि अनेकों संक्रामक रोगों का प्रवेश हो गया, जिनके प्रभाव से उनकी तादाद बहुत कम हो गई। अब उनकी कुल आबादी १०,००० के लगभग है।

समूदी लोग एक आदिशक्ति अथवा सबसे सामर्थ्य-वान् देवता को मानते हैं, जिसे वे 'नम' कहते हैं। उनके अनुसार वह देवता हवा में रहता है और वही बिजली चमकाता है तथा बादलों के गरजने का भी वही कारण है। वही पानी बरसाता और बर्फ़ भी गिराता है। ये लोग इन्द्र-धनुष को अपने नम देवता के वस्त्र की झालर कहते हैं, जो उनकी उत्कृष्ट काव्य-कल्पना का सूचक है। यह देवता उनसे दूर रहता है और उस तक पहुँचना सम्भव नहीं, अतएव उससे वरदान पाने की आशा कम होने के कारण उन्होंने उसकी प्रार्थना और पूजा करना भी छोड़ दिया है। नम के अतिरिक्त और भी बहुत-से छोटे-बड़े देवी-देवता तथा आत्माएँ हैं, जो समूदियों की समझ में मनुष्य के जीवन-सम्बन्धी कार्यों में हस्तक्षेप करती हैं। उन देवों पर पूजा-पाठ और प्रार्थना का तात्कालिक प्रभाव पड़ता है और रूठने पर उन्हें मनाया भी जा सकता है! मंत्र-तंत्र, बलिदान आदि से उनको प्रसन्न करने का इन लोगों में विधान है। आवश्यकता के अवसर पर अथवा किसी बली देवता का अरिष्ट दूर करने के लिए प्रायः उनका आवाहन किया जाता है। उनमें मुख्य देवता वेगाज़ नामक द्वीप का निवासी माना जाता है। उसकी मूर्त्ति पत्थर की और शिव-लिंग से मिलती-जुलती होती है। उसी देवता के प्रतिरूप उन्होंने पत्थर और लकड़ी की अनेक प्रतिमाएँ बनाकर पूजना आरम्भ कर दिया है, जिनकी आकृति मनुष्यों की आकृति जैसी होती है। उन प्रतिमाओं को वे 'जदेई' कहते हैं और उन्हें रेनडियर की खाल के रंग

विरंगे कपड़ों से खूब सजाते हैं। कोई भी बेढंगा पत्थर या लकड़ी का टुकड़ा उनमें देवी-देवताओं की भावना लाने के लिए पर्याप्त है। यदि मूर्त्ति छोटी होती है तो उसे समूर्दी कपड़े में लपेटकर हर वक्त अपने साथ ही रखता है। वह चाहे जहाँ जाए, उसके इष्ट देवता की वह मूर्त्ति सदैव साथ रहती है, जो उसकी धारणा के अनुसार उसे आफतों से बचाती और प्रत्येक कार्य्य में सफलता देती है।

समूदी अपने मृतकों का आदर करते और बलिदान आदि से उनको प्रसन्न करते रहते हैं। उनका विश्वास है कि मरने के बाद भी उनकी कुछ आवश्यकताएँ वैसी ही रहती हैं जैसी जीवनकाल में थीं। इसी अभिप्राय से वे मृतक के साथ स्लेज गाड़ी, बर्छा, खाना पकाने के बर्त्तन, चाकू, कुल्हाड़ी आदि वस्तुएँ क़ब्र में रख देते हैं। दफ़नाने के अवसर पर तथा कई वर्ष बाद तक मृतक के सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव उसकी क़ब्र पर रेनडियर का बलिदान चढ़ाते रहते हैं। धनी और सम्पन्न लोग मृतक की मूर्त्ति बनाकर अपने घरों में रखते हैं और तीन वर्ष बाद उसे भी दफ़ना देते हैं। समूदी लोगों में शपथ लेने का बड़ा महत्व समझा जाता है और वे उसे एक धार्मिक कृत्य समझकर उसका आदर करते हैं। अपराधी से शपथ दिलाकर अपराध का निर्णय करना उनमें विशेष रूप से प्रचलित है। उनमें झूठी शपथ कोई भी नहीं लेता।

समूर्दी अपने पहनावे और रहन-सहन में बड़े गन्दे रहते हैं। स्त्रियाँ जब तक विवाह नहीं होता तब तक ही कुछ सफ़ाई का ख्याल रखती हैं। जब कोई समूदी युवती अपनी छोटी-छोटी काली आँखें मटकाती, रेनडियर की चुस्त पोशाक पहनकर (जिसमें कुत्ते की खाल की झालर लगी रहती है) तथा लाल रंग के सन का कमरबन्द बाँधे, काली-काली लम्बी वेणियाँ (जिनमें पीतल और टीन के छल्ले गुँथे हों) लहराती हुई आती दिखाई देती है तो लोग तुरन्त समझ जाते हैं कि वह किसी रईस पति की खोज में निकली है, जो उससे विवाह करके बदले में रेनडियर का बहुत बड़ा झुंड उसे दहेज में दे सके !

२. ऑस्तिआॅक

साइबेरिया के इस सूने हिमप्रदेश में बसनेवाली आदिम जंगली जातियों में से एक—समूदी जाति—का कुछ परिचय आप पिछली पंक्तियों में पा चुके हैं। आइए, अब उन्हीं की एक और पड़ोसी जाति के संबंध में आपको कुछ बताएँ, जो कि 'ऑस्तिआॅक' के नाम से प्रख्यात है और केवल शिकार द्वारा अपना भरण-पोषण करते हुए ओबी नदी की तलहटी में बसती है।

ओबी क्या है ? कुछ योरपीय यात्री, जिन्होंने सघन जंगलों में होकर बहती हुई इस विशाल महानदी के प्रवाह

शमन-धर्म का एक ओझा या स्याना। ये लोग साइबेरिया के इन सीधे-सादे आदिम जातिवालों को खूब ठगते हैं।

को देखा तथा इसकी उत्ताल तरंगों की गर्जना को सुना है, प्रायः बतलाते हैं कि—'ओबी भूमण्डल पर सबसे उदास और गम्भीर नदी जान पड़ती है। इसके सुनसान किनारों पर केवल विस्तृत दलदलों का समूह और ऊँचे सरों के जंगल के अतिरिक्त कोसों तक मनुष्य का नामो-निशान भी नहीं मिलता। सारस, जंगली बत्तखें और हंसों के झुण्ड कभी-कभी इधर-उधर उड़ते दिखाई दे जाते हैं और उनकी बोली उस असीम निस्तब्धता को एकाएक भंग करती हुई सुनाई पड़ जाती है।'

पर ओबी के तट पर बसे हुए इने-गिने रूसी लोगों से यदि आप यही प्रश्न करें तो वे कहेंगे कि—'ओबी हमारी जननी है।' किसी ऑस्तिऑक जाति के व्यक्ति से यदि आप पूछें तो वह अत्यन्त गम्भीर और आलंकारिक भाषा में उत्तर देगा—'ओबी हमारी जातीय देवी है, जिसे हम अपने सब देवी-देवताओं से श्रेष्ठ मानते हैं।'

सचमुच ओबी नदी ऑस्तिऑक के जीवन का सबसे बड़ा सहारा है। उसमें से मछलियाँ पकड़कर बेचने पर उसे धन मिलता है, जिसके द्वारा वह राजकीय कर और अपना ऋण चुकाता है। जो कुछ बचता है, उससे वह खाने-पीने की सामग्री, वस्त्र तथा दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ मोल लेता है। जो छोटी जाति की मछलियाँ उसके जाल में आ जाती हैं उनसे वह अपना और अपने स्वामिभक्त कुत्ते का पेट भरता है। पानी से बाहर निकालते ही वह मछलियों को कच्ची ही उदरस्थ कर लेता है। गर्मी आरम्भ होने पर जब ओबी अपनी सहायक नदियों के साथ बर्फ के बन्धनों को तोड़ती-फोड़ती, हाहाकार मचाती हुई आगे बढ़ती है, तब मैदानों में बढ़िया आ जाती है और चारों ओर सारा प्रदेश जल-मग्न दिखाई देने लगता है। ऐसा होने पर ऑस्तिऑक प्रायः मजबूरी से जंगलों में भागकर आश्रय लेता है, जहाँ उसे अपनी भूख मिटाने के लिए थोड़े-से जंगली फलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। वह जंगलों में घूमता-फिरता स्वल्प आहार पर जीवन-निर्वाह करके अपने मुसीबत के दिन काटता है। आशा का धुंधला प्रकाश उसे साहस प्रदान करता है, और फिर कुछ समय के उपरान्त मौसम बदलता है, जल का प्रवाह धीमा पड़ता है, नदियाँ शान्त हो जाती हैं, उनके ऊँचे-ऊँचे किनारे मानो मुँह खोले हुए पानी को देखने लगते हैं। धरती सूख जाती है और तब वनवासी ऑस्तिऑक नदी के तट पर अपनी झोपड़ी बनाने में जुट जाता है।

यह झोपड़ी, जिसे एक प्रकार की गुफा कहना चाहिए, वर्गाकार और नीची दीवारों की बनती है। उसकी छत कोणाकार और ऊँची रखी जाती है। पेड़ों की टहनियाँ तथा छाल के टुकड़ों से छत को पाटते हैं। पेड़ों की छाल के बड़े-बड़े टुकड़े पहले उबालकर नरम कर लिये जाते हैं, फिर उनको एक-दूसरे से सीकर चटाई के आकार में बना लिया जाता है, जिसमें जब चाहे उनको लपेटकर ले जाया जा सके। झोपड़ी के भीतर फ़र्श के बीचोंबीच एक गढ़ा, जिसके चारों ओर पत्थर रखे रहते हैं, आग जलाने के काम आता है और उस गढ़े के ठीक ऊपर धुआँ निकलने के लिए छत में एक छेद बना दिया जाता है। झोपड़ी के पास ही, कुछ लट्ठों को गाड़कर एक भांडार-गृह बनाते हैं, जिसमें खाने-पीने का सामान भेड़ियों, कुत्तों तथा भुखमरे व्यक्तियों की दृष्टि से सुरक्षित रखा जा सके।

जाड़ा आरम्भ होते ही ऑस्तिऑक लोग जंगलों में चले जाते हैं, जहाँ आर्कटिक की बर्फ़ीली आँधियों से कुछ अंशों तक उनका बचाव हो पाता है। जंगलों में वे गिलहरी तथा अन्य छोटे-छोटे पक्षी तथा जानवरों का शिकार करके पेट भरते हैं, परन्तु मछली मारना उनका मुख्य उद्यम होने के कारण वे लोग किसी छोटी नदी के ऊँचे किनारे पर अपने झोपड़े बनाते हैं, जहाँ बर्फ़ में छेद करके वे अपने जाल और बरछे की सहायता से मछलियाँ मार सकें। जाड़ों में रहने के लिए वे बड़ी मज़बूत झोपड़ी बनाते हैं, जो साधारण झोपड़ी की भाँति स्थान-स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती और जहाँ की तहाँ बनी रहती है। वह नीची और छोटी बनाई जाती है तथा उसकी दीवालें मिट्टी की होती हैं। दीवाल या छत में एक छेद करके उसमें बर्फ़ का टुकड़ा लगा दिया जाता है, जिससे छनकर झोपड़ी में प्रकाश आता रहता है।

एकमात्र मछलियों और चिड़ियों के शिकार पर जीवन-यापन करनेवाले ऑस्तिऑकों के अतिरिक्त कुछ ऑस्तिऑक ऐसे भी होते हैं जो रेनडियर पालते हैं और गर्मियों में सुदूर उत्तर में ध्रुव-समुद्र तक घूमते-फिरते पहुँच जाया

करते हैं, जहाँ वे सील मछलियों का शिकार करते हैं। जाड़ा आरम्भ होते ही वे धीरे-धीरे वापस जंगलों में लौट आते हैं। धुर दक्षिण के इलाकों में रहनेवाले ऑस्तिऑक, जिन्होंने अपनी रहन-सहन रूसी लोगों जैसी बना ली है, खेतीबाड़ी करते, मवेशी पालते, या बोझा ढोने का पेशा करते हैं। साधारणतया, समूदी लोगों की भाँति, ऑस्तिऑक भी नवीन सभ्यता से कोसों दूर, अपनी प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों के अन्धविश्वासी तथा पूर्वजों के रीति-व्यवहार के माननेवाले होते हैं। पिछले वर्षों में, रूसवालों के हाथों वे ऐसी बुरी तरह ठगे जा चुके हैं कि अब वे उनका विश्वास नहीं करते और उनके द्वारा सभ्य-जगत् के उपहार प्राप्त करना वे घृणास्पद समझते हैं। वे डरते हैं कि उनके बच्चे अगर पढ़ना-लिखना सीख लेंगे तो वे अपने माता-पिता के साथ रहना पसन्द नहीं करेंगे और इस प्रकार पाठशालाएँ उनके बुढ़ापे के एकमात्र आश्रय-साधन को उनसे छीन ले जाएँगी! ऑस्तिऑक अपने पूर्वजों के धर्म का कट्टरता के साथ पालन करना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं और समूदियों की भाँति अपने धार्मिक सिद्धान्तों की दृढ़तापूर्वक रक्षा करते हैं। दक्षिण के प्रान्तों में, 'इरतीश' के किनारे 'सरगुत' में रहनेवाले ऑस्तिऑकों ने बपतिस्मा ले लिया है और अपनी झोपड़ियों में वे ईसा के चित्र लटकाये रहते हैं, परन्तु उनका ईसाई मत यहीं तक सीमित समझना चाहिए। ओबी की सहायक नदियों के आसपास और 'ओबडोरास्क' के नीचे रहनेवाले ऑस्तिऑक लोग शमन-धर्म के ही माननेवाले हैं तथा मूर्त्ति-पूजक हैं।

ऑस्तिऑक शिकारी और उसका कुत्ता

समूदियों की तरह ऑस्तिऑकों की भी कुल आबादी २५,००० के लगभग है और वे अनेक उपजातियों में विभाजित हैं। प्रत्येक उपजाति में एक ही वंश के अनेक परिवार सम्मिलित रहते हैं, जिनके व्यक्तियों की संख्या कई सौ से कम नहीं होती। यद्यपि उनमें से कई बहुत दूर के सम्बन्धी भी होते हैं, परन्तु आपत्ति के समय वे सब एक-दूसरे की सहायता करना अपना जातीय कर्त्तव्य मानते हैं।

ऑस्तिऑक धनुष-बाण चलाने में बड़े कुशल होते हैं। साइबेरिया की अन्य शिकारी जातियों की भाँति वे आखेट में मारे हुए जंगली जानवरों की हड्डियों से भाँति-भाँति के सुन्दर तीक्ष्ण बाण बना लेते हैं। प्रायः ये लोग छोटे कद के होते हैं। उनके शरीर का रंग गहरा और केश समूदियों के जैसे काले होते हैं। उनमें किसी-किसी का रंग अधिक साफ़ होता है और केश भी भूरे होते हैं। ये सरल स्वभाव के, नेक और ईमानदार होते हैं। यद्यपि वे बड़े गन्दे रहते हैं, फिर भी उनकी धुएँ से मैली झोपड़ियाँ नार्वे या आइसलैंड के मछुओं के घरों की अपेक्षा साफ़-सुथरी ही पाई जाती हैं। ऑस्तिऑक लोगों की स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय पाई जाती है। पिता अपनी लड़की को उसी व्यक्ति के हाथ सौंपता है, जो उसका सबसे अधिक मूल्य चुका सके। यह मूल्य भी पिता की स्थिति के अनुसार कम या अधिक होता रहता है। धनी लोग अपनी लड़की के बदले में पचास रेनडियर तक माँग लेते हैं; जबकि गरीब मछुआ केवल थोड़ी सी गिलहरी की खाल और सूखी मछलियाँ लेकर ही संतोष कर लेता है।

रेड इंडियन

अमेरिका के आदिम निवासी

आज से शताब्दियों पहले, जबकि योरप की गोरी जातिवालों ने अमेरिका महाद्वीप या नई दुनिया का नाम भी नहीं सुना था, उस सुदूर भूभाग में एक विशेष जाति के ताम्रवर्णवाले मनुष्यों की बस्तियाँ थीं, जो शताब्दियों से उस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक आबाद थीं। इन ताम्रवर्णी लोगों के पूर्वजों ने एशिया से चलकर पूर्वी अन्तरीप, साइबेरिया और अलास्का के बीच का समुद्र पार करके अमेरिका की भूमि पर पैर रक्खा था। अनुमानतः उन दिनों उत्तरी समुद्र का जल बर्फ के रूप में जमा रहा होगा, जिससे उनकी यात्रा सुगम हो गई होगी अथवा नौकाओं और डोंगियों के सहारे संभवतः वे जल-मार्ग से आए होंगे। उन्हीं के वंशज एस्किमो लोगों का नौकाओं के व्यवहार से परिचित होना इस अनुमान की पुष्टि करता है। उत्तरी अमेरिका में सर्व-प्रथम पदार्पण करनेवाले एशियाई लोग और उनके वंशज दक्षिण की ओर धीरे-धीरे बढ़ते गए, जहाँ की जलवायु उन्हें अधिक अनुकूल प्रतीत हुई तथा जहाँ उपजाऊ भूमि मिलती गई। इन आहार की खोज में भटकनेवाले अहेरी यात्रियों को अमेरिका की शस्य-श्यामला भूमि वास्तव में स्वर्ग-जैसी प्रतीत हुई होगी और इसीलिए अपनी गति का अवरोध करनेवाले किसी भी तरह के शत्रु के अभाव में ये लोग विस्तृत रूप से वहाँ बसते चले गए।

वहाँ शिकार की कमी न थी—पशुओं का मांस खाकर और उनके चर्म के वस्त्र धारण करके जीवन की दो सर्वप्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही वहाँ हो जाती थी। कोलोरॉडो, न्यू-मेक्सिको और नेवादा प्रदेशों में विचित्र प्रकार के प्रस्तर-निर्मित्त नुकीले शस्त्र तथा छुरियाँ और बिसन-भैंसे एवं अन्य पशुओं की हड्डियाँ पाई गई हैं, जिनके द्वारा अमेरिका के उन आदि-निवासियों के तत्कालीन जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में केवल इन्हीं लोगों और उनके वंशजों का पूर्ण आधिपत्य नहीं रहा, वरन अन्य एशियाई जातियाँ भी दक्षिण और पश्चिम की ओर

एक रेड इंडियन परिवार और उसका तंबू

बढ़ती हुई आबादी के दबाव से स्वदेश छोड़कर, पूर्वकथित प्राकृतिक मार्ग द्वारा अमेरिका में आती और बसती गईं। पुरातत्ववेत्ताओं का कहना है कि इनमें से अधिकांश लोग उत्तरी प्रदेशों में अधिक काल तक नहीं ठहर सके, और अपनी नौकाओं की सहायता से समुद्र-तट के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर बढ़ते गए या देश के भीतरी मैदानों और घाटियों में जा बसे। इन प्रवासियों ने सारे महाद्वीप पर इस प्रकार आधिपत्य जमा लिया था कि जब पहली बार योरपवालों ने अमेरिका में पैर रखे तो उन्हें समस्त महाद्वीप एवं आसपास के द्वीपों में भी आर्कटिक-तट से लेकर तिएर्रा - देल - फ़्यू-ए-गो के प्रदेश तक चारों ओर उन प्रवासियों की असंख्य बस्तियाँ दिखाई पड़ीं।

सोलहवीं शताब्दी में योरपीय जातियों ने अमेरिका पर आक्रमण कर उस पर कब्ज़ा किया उसके हज़ारों वर्षों पहले ही से एशिया के उन आदि-प्रवासी अहेरियों के वंशवालों ने अमेरिका में अपनी श्रेष्ठ सभ्यता का झंडा फहरा दिया था। अन्य सभ्य जातियों से कई बातों में पिछड़े हुए होने पर भी उनका उत्कर्ष और विकास काफ़ी ऊँचाई तक पहुँच चुका था। आर्कटिक के बर्फ़ीले तट-प्रदेश में विचित्र प्रकार के हिम-निर्मित घरों में रहनेवाले, रोएँदार पशु-चर्म के वस्त्रधारी एस्किमो लोगों से लगाकर अमेज़न नदी की तराई के पार्श्ववर्त्ती उष्णकटिबन्ध की सीमा पर स्थित उत्तम वनों के निवासी खजूर की पत्तियों के झोपड़ों में रहनेवाले नग्न जंगलियों तक, अमेरिका के इन आदिम वासियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की एक असाधारण क्षमता का परिचय दिया। चाहे जैसा भी वातावरण उन्हें मिला, चाहे जैसी भी जलवायु मिली, इन आदिम जातियों के प्रतिनिधि प्रकृति के रहस्यों से परिचित होकर उन्हें अपनी रहन - सहन के अनुकूल बनाने में निरन्तर सफल होते रहे। उदाहरणार्थ शोशोनी (Shoshoni) जाति के पूर्वजों ने ऊसर मरुभूमि

एक रेड इंडियन सरदार—अपनी प्राचीन वेशभूषा में

के झुलसे हुए मैदानों में रहकर वहीं बिखरे हुए दो-चार कँटीले पौधों से ही अपना आहार प्राप्त करना सीख लिया। उन्होंने सुदूरवर्ती जल-स्रोतों को खोज निकाला और झीलों के किनारे फुदकनेवाले टिड्डों तथा तितलियों और कीड़ों-मकोड़ों को खाकर ही वे अपने उदर की ज्वाला शान्त करते रहे। वे खरगोश पकड़ने के जाल भी बनाने लग गए और अन्य साधनों के अभाव में बाँस तथा झाड़ से ही अपने घर बनाकर रहने लगे। उन भोले-भाले प्रवासियों का सामाजिक जीवन केवल उनकी कुटुम्ब-व्यवस्था तक ही परिमित था।

पर धीरे-धीरे उनका विकास होता गया। गुआतेमाला के पठारों, मोतागुआ नदी की तराइयों और यूकेतान के सघन वनों में 'मय' नामक उनकी एक जाति ने डेढ़ हज़ार वर्षों तक अपनी सभ्यता का डंका बजाया। पैसिफ़िक-तट के पार्श्ववर्त्ती मरुप्रदेशों और शीतप्रधान ऐण्डीज़ पर्वतों में उन्हीं की अन्य एक जाति इन्का लोगों ने अपनी संस्कृति का विकास किया। मेक्सिको की पर्वतीय उपत्यकाओं में ऐज्तेक जाति ने एक महाशक्तिशाली सैनिक राष्ट्र की योजना की। ये सब राष्ट्र काल के प्रवाह में पड़कर मिट गए, परन्तु उनकी सभ्यता के चिह्न आज भी उन ताम्रवर्णी लोगों के गौरव के दिनों की याद दिलाते हैं। इन सब जातियों में भाषा और रहन-सहन की भिन्नता होते हुए भी बहुत-सी बातों में समानता भी थी। आज भी रेड इण्डियन लोग आपस में अपनी पैतृक भाषाओं का ही प्रयोग करते हैं। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि अमेरिका की इंडियन जातियों में शारीरिक बनावट, वर्ण, और आकृति की विशेष भिन्नता नहीं है। उनकी आकृति पूर्वी एशिया की मंगोल जातियों की आकृतियों से मिलती-जुलती है। प्रायः सभी इंडियनों के केश सीधे या कुछ-कुछ घुँघराले होते हैं, आँखें भूरी और शरीर का रंग गहरा होता है, जो विभिन्न प्रदेशों की जलवायु के अनुसार साँवला, ताम्रवर्ण या गेहुँआ पाया जाता है। इन आदिम निवासियों के लिए 'रेड' या 'लाल' शब्द का प्रयोग उतना ही असंगत है जितना कि 'इंडियन' शब्द का। रेड इंडियन जातिवाले न तो इंडियन ही हैं और न उनका वर्ण ही एकदम लाल है। इन्हें इंडियन की उपाधि तो स्पेनिश आक्रमणकारियों से मिली, जो पहले-पहल अमेरिका पहुँचने पर उस प्रदेश को एशिया का वह भूभाग समझ बैठे थे, जिसे वे 'इंडीज़' कहते थे। और 'रेड' या लाल शब्द का प्रयोग उनके लिए किये जाने का कारण यह था कि इन आदिम निवासियों का रंग ताँबे के रंग से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। पर उत्तरी अमेरिका की जंगली जातियों में बहुतों की चमड़ी का रंग भूरा या कत्थई ही पाया जाता है।

अगर आप रेड इंडियनों से उनकी जातीय उत्पत्ति के बारे में सवाल करें तो हर एक से आपको भिन्न-भिन्न कहानी सुनने को मिलेगी। उदाहरण के लिए किओवा जाति के लोग कहते हैं कि पहला मनुष्य स्वयं किओवा था। वह पृथ्वी पर किस तरह और कहाँ से आया, इसे वे नहीं बता पाते। उनकी जाति के विस्तार का उनके कथनानुसार यही इतिहास है कि किओवा ने एक खोखले लट्ठे को डंडे से पीटना शुरू किया, जिसका शब्द सुनकर एक ओर से लड़कों और दूसरी ओर से लड़कियों के झुंड-के-झुंड निकल आए!

उत्तरी अमेरिका में रेड इंडियनों की आबादी लगभग ११,५०,००० है। पुराने ज़माने में ये लोग मुख्यतः शिकार द्वारा ही अपना जीवनयापन करते थे और एक प्रकार के तंबुओं में रहते थे। फिर धीरे-धीरे उन्होंने इन टोपनुमा तम्बुओं में रहना छोड़कर बाँस और लट्ठों के झोपड़े बनाना सीखा। व्यापार के लाभों से परिचित होने पर उन्होंने कोमल मृगचर्म, पोत के मनीबेग या झोले और नीले-सफ़ेद पत्थरों के हार बनाकर बेचना भी शुरू किया। इन कामों में उनको अपनी स्त्रियों से बड़ी सहायता मिलती थी, क्योंकि वे बड़े सुन्दर ढंग से इन वस्तुओं को आकर्षक बना देती थीं। धीरे-धीरे पुरुष और लड़के खेतों में काम करने लगे और फलों तथा शाक की खेती करना सीख गए। उधर स्त्रियों ने रेतीली मिट्टी से वर्त्तनों पर देशी रंगों से बेलबूटे बनाकर भाँति-भाँति का चित्रण करना और गरम राख में पकाकर उन वर्त्तनों को मज़बूत बनाना आरंभ किया। कुछ गाँवों में, जहाँ चाँदी और स्लेट की चट्टानों से निकलनेवाली हरी-नीली धातु पाई जाती थी, स्त्रियों ने उन धातुओं को रगड़-रगड़कर साफ़ कर उनके आभूषण बनाकर बाज़ारों में बेचना शुरू किया। क्रमशः उन गाँवों में जब खानें खोदी जाने लगीं तो बहुत-से आदमी उनमें काम करने लग गए। आज भी वहाँ पाए जानेवाले नीले

चमकीले पत्थरों के हार बच्चों को पहनाते हैं और औरतों की बालियों में भी वे पत्थर पिरोये जाते हैं। उन पत्थरों से बना हुआ पोत का काम बड़ा सुन्दर होता है। रेड इंडियन लोगों की स्त्रियाँ घरेलू कामों में बड़ी निपुण होती हैं और यदि आप उनके गाँवों में जाएँ तो प्रातःकाल ही किसी झरने के किनारे आप उन्हें कपड़े धोते, शाक-भाजी सींचते, अनाज साफ़ करते या पानी भरकर ले जाते हुए देखेंगे।

रेड इंडियन लोगों में उनके सरदार या प्रधान की पोशाक बड़ी सुन्दर होती है। वह नरम सिझे हुए मृग-चर्म की कमीज़ और पाजामा-सा पहनता है जिस पर पोत और सफेद ऊन की गोएँदार झालर लगी रहती है। उसकी टोपी लाल लोमड़ी की खाल की बनी होती है जिसमें एक चोटी पीछे लटकती रहती है। टोपी की शिखा सफेद नेवले की खाल से बनती है जिसके ऊपर गिद्ध के दो बड़े-बड़े पंख लगे रहते हैं। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के निवासी रेड इंडियनों की रहन-सहन और वेशभूषा में यद्यपि अब बहुत-कुछ परिवर्त्तन हो चुका है, किन्तु फिर भी वे समय-समय पर अपनी जातीय पोशाक पहनते और उस पर अभिमान करते हैं।

रेड इंडियन लोग शिकार के बड़े प्रेमी होते हैं। वे धनुष-बाण और बरछों से आखेट करते हैं। जिस असाधारण वेग और चातुर्य से वे अपने शस्त्रों का प्रयोग करते हैं, उसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है। किन्तु राइफ़ल और बन्दूकों से निशाना मारने में वे इतने निपुण नहीं हो पाते। उन्होंने एक बहुत बड़ा आविष्कार करने का श्रेय प्राप्त किया है। सबसे पहले उन्होंने ही भैंस के कुटे हुए मांस में चर्बी मिलाकर 'पेमिकन' नामक पदार्थ बनाने का प्रचार किया। इस प्रकार तैयार किया हुआ मांस बहुत दिनों तक रखने पर भी ख़राब नहीं होता। आजकल डब्बों में बंद होकर जो मांस देश-विदेशों में भेजा जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर सभ्य जगत में जिसका व्यापार तथा व्यव-

रेड इंडियन अपने प्राचीन वेश में लैक्रासो नामक गेंद-बल्ले का खेल खेल रहे हैं

हार प्रचलित है, 'पेमिकन' की प्रणाली उसी का आदि रूप मानी जाती है।

रेड इंडियन लोग सनोवर की छाल से छोटी-छोटी नावें और डोंगियाँ बनाते हैं, जो इतनी हल्की होती हैं कि उन्हें आसानी से उठाकर स्थल पर ले जाया जा सकता है। ये नावें हल्की होने पर भी बहुत मज़बूत होती हैं और उन पर काफ़ी बोझा लादा जा सकता है।

रेड इंडियनों में स्त्रियों और पुरुषों के नाम बड़े विचित्र रखे जाते हैं, जिनके अर्थ होते हैं 'उड़ता बादल', 'बैठा बैल', 'अपनी सास का घातक', 'उनको पाओ और मार डालो', 'दीवानी भावज', 'हर तरफ़ सुननेवाला', 'खोपड़ी-चूर', 'उबलती केटली', 'बड़बड़ाती चिड़िया की पूँछ' आदि।

ये लोग खेल-कूद में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। पुराने ज़माने से इनमें पाँसों और फिरकियों के खेल प्रचलित हैं, जिनमें जुआ भी होता है। कभी-कभी पाँसे के खेल में ये लोग अपनी सारी सम्पत्ति बात-की-बात में हार जाते हैं। इतना ही नहीं, पुराने ज़माने में वे अपनी औरतों और स्वयं अपने को भी जुए में दाँव पर लगा देते थे। हारने पर हारा हुआ व्यक्ति जीतनेवाले का आजन्म दास बनकर रहता था। कुश्ती और दौड़ का भी उनमें बड़ा प्रचार है, जिसमें वे सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। वे लैक्रासो नामक एक खेल भी खेलते हैं, जो अंग्रेज़ी टेनिस के खेल से मिलता-जुलता है। शारीरिक व्यायाम को वे शुरू से महत्व देते आए हैं, इसीलिए वे शरीर से हृष्ट-पुष्ट, बलवान, और लम्बे-तड़ंगे होते हैं।

अगर हम कहें कि अमेरिका के इन सुदूर जंगली प्रदेश के रहनेवालों में खास-खास रोगों को दूर करने के लिए आज के प्राकृतिक उपचारकों के ढंग के 'स्नान' का प्रचार है, तो सहसा किसी को विश्वास न होगा। पर वास्तव में रेड इंडियन बस्ती में 'पसीने का घर' कहा जानेवाला एक स्थान होता है, जो जानवरों की मोटी-मोटी खालों, कम्बलों और मिट्टी का बनाया हुआ एक संकुचित झोपड़ा-जैसा होता है जिसमें हवा जाने का रास्ता बिल्कुल नहीं रखा जाता। इस 'पसीने के घर' में रोगी जब प्रवेश कर लेता है तब बाहर के लोग बड़े-बड़े पत्थरों को आग पर तपाकर लकड़ी के डंडों के सहारे भीतर पहुँचाते हैं और तब प्रवेश-द्वार बिल्कुल बंद कर दिया जाता है। इसके बाद उन तपाये हुए पत्थरों पर वे लोग पानी डालते हैं, जिससे एक नम गर्मी भीतर फैल जाती है। रोगी कुछ ही देर में उस गर्मी की वजह से पसीने-पसीने हो जाता है और घबड़ाकर बाहर भागता है तथा पास में बहते हुए किसी पानी के सोते में कूद पड़ता है। अगर कोई पानी का नदी-नाला निकट नहीं होता तो रोगी के ऊपर ठंढा पानी डाला जाता है।

प्राचीन रेड इंडियन जातियों का धर्म प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और उसके प्रभावों के अध्ययन पर अवलम्बित था। सूर्य, चन्द्र और तारों की गति का अवलोकन प्रत्येक इंडियन का धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। पशु-पक्षियों और जलजीवों की प्रगति तथा पेड़-पौधों की उत्पत्ति, विकास और क्षय को देखकर वे ऋतुओं का अनुमान लगा लेते थे। विद्युत्, बादल, बर्फ़, वर्षा, धूप, शीत तथा उष्णता उनके लिए काल-परिमाण के परिचायक थे। रोगों के अदृश्य आघात से पीड़ित होकर वे उनका कारण जानने की चेष्टा किया करते थे। रसायन-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, खगोल-विद्या, भूतत्त्व तथा ज्योतिष विद्या के सिद्धान्तों से नितान्त अपरिचित होकर भी वे प्रकृति के कई नियमों के जानकार थे। उनमें पाँच ऋतुएँ मानी जाती थीं—एक वसंत का आगम, दूसरी ज्वार पकने का समय, तीसरी ग्रीष्म या सूर्य के ऊँचा होने का मौसम, चौथी पत्तों के गिरने का समय और पाँचवीं शीतऋतु, जब बर्फ़ पड़ती थी और ठण्ढ बढ़ जाती थी।

धर्म के विषय में प्राचीन इंडियन लोग व्यावहारिकता और जीवन-विषयक उपयोगिता को ही अधिक महत्व दिया करते थे। भविष्य के विचार से सर्वथा उदासीन रहते हुए वे वर्तमान के ही पुजारी थे। जब किसी इंडियन के मन में यह धारणा आ जाती कि उसे किसी दुष्टात्मा या प्रेत ने ग्रस लिया है तो उसकी शान्ति और तुष्टि के लिए वह तत्काल प्रयत्न करता था, क्योंकि वह अच्छी और बुरी आत्माओं के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास रखता था। इंडियन जातियों की इसी धारणा के अन्तर्गत एक निराकार सार्वभौम शक्ति की उपासना का विचार भी सन्निहित था, जिसे वे मनुष्य की भाग्य-विधायिनी तथा दैवी तत्त्वों का संचालन करनेवाली शक्ति मानते थे। अलगोंक्विअन जातिवाले

इस शक्ति को 'मनितो', शोशोनी लोग 'पोकुन्त' और इरोकुआई 'ओरेन्दा' कहते थे।

कुछ जातियों में मृतक-संस्कार की रस्म बड़ी धूम-धाम से पूरी की जाती थी। हुरोन (Huron) जातिवाले अपने मृतक के लिए पेड़ों की छाल का एक ताबूत बनाकर गाँव के बाहर जंगल में खड़े किए गए लकड़ी के एक मचान पर रख देते थे और उसी ताबूत के भीतर मुर्दे को लिटा देते थे। उसी में भोजन-सामग्री तथा वस्त्राभूषण भी साथ रख दिये जाते थे। प्रति १२ वर्ष के अन्तर से एक विराट् सामूहिक मृतक-भोज होता था। उस दिन उस अवधि में काल-कवलित होनेवाले जाति के सभी व्यक्तियों की अस्थियाँ मंचों पर रखे हुए ताबूतों से निकालकर बड़े प्रेम से साफ़ की जाती थीं। तब बहुमूल्य वस्त्रों में लपेटकर लोग उन्हें गाँवों में ले जाकर भेंट में दिये हुए आभूषणों के बीच सजाते थे और थोड़ी देर तक उनका प्रदर्शन करते थे। इसके पश्चात् वे अस्थियाँ गाँवों से बहुत दूर पर ले जाकर एक बहुत बड़े खड्ड में गाड़ दी जाती थीं, जहाँ उस जाति के सभी पूर्वजों की क़ब्रें हुआ करती थीं। इस मृतक-संस्कार के पश्चात् उपस्थित दर्शकों तथा सम्बन्धियों को प्रसाद बाँटा जाता था।

अन्य देशों के आदिम निवासियों की भाँति रेड इंडियन लोगों में भी दवादारू और झाड़-फूँक करनेवाले स्याने तथा ओझे हुआ करते थे। ऐसा ओझा बनने के लिए बड़े कठिन अभ्यास और अनवरत शिक्षा की ज़रूरत होती थी। जो व्यक्ति इसकी दीक्षा लेता था, उसे अपने दीक्षा-काल में बहुत दिनों तक उपवास करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी उसके शरीर पर बड़े नृशंस रूप में जगह-जगह घाव कर दिये जाते थे। यह ओझा या स्याना वास्तव में उनका पैग़म्बर, स्याना और वैद्य, सभी कुछ माना जाता था। कुछ जातियों में स्याना होने के पहले उक्त व्यक्ति को एक कुत्ता जीवितावस्था में ही दाँतों से नोच-नोचकर खाना पड़ता था!

रेड इंडियनों की ब्याह-शादी में वर और कन्या-पक्ष के लोग परस्पर भेंट-उपहारों का आदान-प्रदान करते हैं, जिसे भ्रमवश कुछ लेखकों ने कन्या-विक्रय का नाम दिया है। वस्तुतः उनके घरों में महिलाओं की बड़ी इज़्ज़त की जाती है तथा वे ही गृहस्थी की स्वामिनी हुआ करती हैं।

इन रक्त वर्णवालों के लिए श्वेताङ्गों का आगमन मृत्यु के आगमन-जैसा प्रमाणित हुआ। वस्तुतः गोरी जातिवालों से अनवरत युद्ध करने में इन ताम्र वर्णवालों की जनसंख्या का उतना ह्रास नहीं हुआ जितना उन भयंकर बीमारियों के द्वारा, जिन्हें ये गोरे योरप से अपने साथ लाये थे। उन बीमारियों में सबसे घातक थी चेचक की बीमारी जिसका उस समय तक उत्तरी अमेरिका में किसी ने नाम भी नहीं सुना था। इसके अतिरिक्त मोतीझरा और हैज़े ने भी अपने भयंकर प्रकोप से विनाश का ताण्डव रच दिया। इन बीमारियों के साथ-ही-साथ पारस्परिक लड़ाइयाँ, श्वेताङ्गों से युद्ध और बाद में यूनाइटेड स्टेट्स की सेनाओं से घोर संग्राम करते हुए रेड इंडियनों की संख्या इतनी घट गई कि सन् १८७० के लगभग लोगों ने यह अनुमान किया कि आगामी पीढ़ी आने तक उनका संसार से एकदम लोप हो जाना असंभव नहीं। पर सौभाग्यवश, यूनाइटेड स्टेट्स और कनाडा की सरकार ने यह अनुभव किया कि रेड इंडियनों का समूल नष्ट हो जाना बड़े अन्याय की बात होगी, और फलतः बहुत-सी विशेष भूमि और मैदान उनके रहने के लिए अलग कर दिए गए तथा उनके हितों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार यह जाति जो लुप्तप्राय हो चली थी पुनः बढ़ चली है।

कनाडा में रेड इंडियनों की रक्षा के लिए विशेष क़ानून हैं। डाक्टर की अनुमति के अलावा अन्य किसी प्रकार से शराब या नशीली वस्तुओं को किसी रेड इंडियन के हाथ बेचना या उसे भेंट में देना घोर दंडनीय अपराध समझा जाता है। प्राचीनता के स्मृति-चिह्नों की खोज में भटकनेवाले अदूरदर्शी यात्रियों द्वारा खोदी जाने और नष्ट की जाने के भय से उनकी पुरानी समाधियों को भी एक विशेष क़ानून द्वारा सुरक्षित कर दिया गया है।

नये युग की सभ्यता के प्रकाश ने रेड इंडियनों के प्रदेशों में भी प्रवेश करके अब उनकी रहन-सहन को बहुत-कुछ बदल दिया है। मशीनों, मोटरों और बिजली के उपयोग उनको ज्ञात हो चुके हैं। उनमें से बहुतेरे अमेरिका की राष्ट्रीय सेना में भरती होकर इस समय विश्व-व्यापी महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ाई भी लड़ रहे हैं।

किरगीज़ और क़ज़्ज़ाक

मध्य एशिया के ख़ानाबदोश चरवाहे

मध्य एशिया में कुलजा से पश्चिम की ओर वोल्गा नदी के निचले भाग तक और ओबी नदी की शाखाओं से दक्षिण की ओर पामीर तक एवं तुर्कोमान-प्रदेश में किरगीज़ जाति की बस्तियाँ पाई जाती हैं। इस विस्तृत भूभाग में एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपना अधिकार जमानेवाली यह जाति वास्तव में तुर्कों की एक शाखा है। किरगीज़ जाति की दो उपजातियाँ बन गई हैं—एक है कारा-किरगीज़, जो ऊपरी भागों में रहती है, और दूसरी है किरगीज़-कज़्ज़ाक, जो स्टेपीज़ के मैदानों में निवास करती है।

किरगीज़ों की कुल संख्या तीस लाख के लगभग है और वे इतने ही वर्गमील के क्षेत्रफल की भूमि घेरे हुए हैं! उनमें मंगोल जाति का अधिक अंश पाया जाता है और उनकी बोली तातारियों से मिलती है।

ऊपरी भूभागों के निवासी किरगीज़ दूसरी जातियों से सर्वथा अलग रहते आए हैं, किन्तु स्टेपीज़ के मैदानों में जो बस गए थे वे विशेष रूप से वोल्गा के कालमूकों से, जो पश्चिम में रहते थे, और पूर्व के रहनेवाले ख़ानाबदोश ज़ंगारियों से मिल-जुल गए। कालमूक और ज़ंगारी जातिवाले भी मंगोल घरानों के प्रतिनिधि थे।

शरीर से ये लोग साधारण क़द के होते हैं, किन्तु इनके अंग-प्रत्यंग बड़े गठे हुए तथा सुडौल होते हैं। स्टेपीज़ के निवासी भारी बदन के और मोटे पाये जाते हैं। उनके केश काले, दाढ़ी कम या बिल्कुल नहीं, आँखें छोटी, काली और तिरछी, नाक चिपटी, चेहरा चौड़ा, आकृति मंगोल, मुंह छोटा, हाथ-पैर बहुत ही छोटे, त्वचा मटमैले पीले रंग की, आदि देखकर ही अन्य जातियों से उनकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। कुछ लोगों का रंग साफ़ और आँखें नीली या भूरी भी पाई जाती हैं। उनकी बोली तुर्की से मिलती-जुलती है, परन्तु मंगोलियन, फ़ारसी, अरबी और दक्षिणी साइबेरिया की भाषा के शब्दों से भरपूर होती है।

कारा-किरग़ीज़ का अर्थ है काले किरग़ीज़। उनका यह नाम इसलिए पड़ा कि जिन तम्बुओं में वे रहा करते हैं, उनका रंग काला होता है। किरग़ीज़ जाति के यही सबसे प्राचीन और अछूते प्रतिनिधि माने जाते हैं और सच पूछा जाय तो किरग़ीज़ कहलाने का वास्तविक अधिकार इन्हीं को है। कारा-किरग़ीज़ों की संख्या आठ लाख अनुमान की जाती है।

इस जाति के सभी लोग प्रायः खानाबदोश होते हैं और पशुपालन की उनका मुख्य उद्यम है। मुख्यतः वे छोटी जाति के मज़बूत घोड़ों, दुम्बा भेड़ों, बोझा ढोने और सवारी में चलनेवाले बैलों, कुछ बकरियों और ऊँटों को पालते हैं। उनकी खेती-पाती गेहूँ, जौ और बाजरे तक ही सीमित है। इन्हीं अनाजों से वे कच्ची शराब, जिसे 'वोडका' कहते हैं, तैयार कर लेते हैं। व्यापार करने में उनके यहाँ सिक्का नहीं चलता। चीन, तुर्किस्तान और रूस से सौदागर लोग तैयार माल लेकर आते हैं, जिसके बदले में किरग़ीज़ लोगों से उन्हें मवेशी मिल जाया करती हैं। इसी परिवर्त्तन से क्रय-विक्रय का कार्य्य चलता रहता है।

इन पर मानप लोगों का शासन चलता है। ये मानप प्रायः उनके स्वजातीय सरदार या अधिकारी ही होते हैं। पहले वे चाहें तो प्रजा के लोगों को दूसरों के हाथ बेच भी सकते थे। किसी अधीन रियाया के प्राण हरण कर लेने का भी उन्हें पूरा अधिकार रहता था। उन दिनों किरग़ीज़ लोग प्रायः आपस में बहुत लड़ते रहते थे, किन्तु जब से ये लोग सोवियट रूस के शासन में आए हैं, तब से बड़ी तेज़ी से प्रगति करने लगे हैं।

धार्मिक मामलों में कारा-किरग़ीज़ अपने भाई क़ज़्ज़ाकों से विशेष अन्तर नहीं रखते।

स्टेपीज़ के मैदानों में रहनेवाले लोगों को किरग़ीज़

एक किरगीज़ और उसका शिशु

जाति की दूसरी शाखा के रूप में माना जाता है। वे क़ज़्ज़ाक के नाम से प्रसिद्ध हैं। क़ज़्ज़ाक का अर्थ प्रायः घुड़सवार ही लगाया जाता है। सबसे पहले विख्यात कवि फ़िरदौसी ने, जो फ़ारस का रहनेवाला था, अपनी रचनाओं में क़ज़्ज़ाक जातिवालों का उल्लेख किया है, जो बड़े ही ख़ूँख़ार, लुटेरे और हत्यारे माने जाते थे। वे घोड़ों पर सवार रहते थे और उनके मुख्य शस्त्र बर्छे होते थे। इसी प्रकार धीरे-धीरे घटनावश क़ज़्ज़ाक शब्द का प्रयोग उन सब लोगों के लिए किया जाने लगा जो लूटमार का पेशा करते और जिनके गरोह घोड़ों पर सवार होकर फिरते हुए देखे जाते थे। इस भाँति यह नाम अराल और कैस्पियन सागर के बीच के भाग और दक्षिणी रूस में पाई जानेवाली ख़ानाबदोश जातियों के लिए पड़ गया। क़ज़्ज़ाक लोगों की निवासभूमि लगभग बीस लाख वर्गमील लम्बी-चौड़ी मानी जाती है।

क़ज़्ज़ाक बड़े ईमानदार, विश्वसनीय और सरल स्वभाव के होते हैं, परन्तु वे संकीर्ण विचारों के होते हैं और अपने धर्म को सबसे बड़ा मानते हुए दूसरे धर्मवालों से घृणा करते हैं। उनमें अधिकांश मुसलमान हैं। प्रायः सभी क़ज़्ज़ाक ख़ानाबदोश हुआ करते हैं। ये लोग लकड़ी के ढाँचे पर लाल कपड़ा या फ़ेल्ट (नमदा) चढ़ाकर एक अर्धचन्द्राकार तम्बू बनाते हैं, जिसमें वे रहते हैं। उनके तम्बू में कुछ ऊपर की ओर एक खिड़की हवा आने के लिए रखी जाती है। जाड़े के मौसम में वे अपने तम्बुओं में ही पड़े रहते हैं और आँधी-तूफ़ान के कष्ट झेला करते हैं। गर्मियों के दिनों में वे अधिकतर पड़े सोते रहते हैं या कौमिस नाम की शराब पिया करते हैं, जिसे वे स्वयं तैयार कर लेते हैं। रात को उनके दस्तर्ख़ान बिछते हैं और मेहमानों की दावतें होती हैं। उसके बाद क़िस्से-कहानी शुरू होते हैं, जिसके साथ-साथ बाँसुरी और बालालेका नामक बाजा बजता रहता है।

उनके मनोविनोद का सबसे बड़ा साधन घोड़े की सवारी है। क़ज़्ज़ाकों के बारे में एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'क़ज़्ज़ाक घोड़े की ज़ीन पर ही जन्म लेता है।' इसमें सन्देह नहीं कि घुड़सवारी के फ़न में कोई दूसरी जाति उनसे प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकती। वे घोड़े की सवारी के इतने अधिक अभ्यस्त हो जाते हैं कि पैदल अधिक नहीं चल सकते। यद्यपि वे मज़बूत और दीर्घजीवी होते हैं, फिर भी बड़े गन्दे रहते हैं। उनके खाने-पीने का कुछ ठीक नहीं रहता। अधिकतर वे भेड़ और बकरे का मांस खाते हैं, जिसके साथ वे रोटी के बजाय बालामिक नामक पदार्थ का व्यवहार करते हैं। बालामिक आटे के हलुए जैसी एक वस्तु होती है, जो पानी में घोलकर सत्तू की तरह बनाई जाती है। पीने के लिये कौमिस शराब रहती है, जिसे स्वास्थ्यप्रद, बलवर्द्धक और रोगों को निवारण करने की शक्ति रखनेवाली बतलाते हैं। कभी-कभी ये लोग घोड़े का मांस भी खा लेते हैं।

ये लोग एक लम्बा-चौड़ा घेरदार अँगरखा, जिसे चपक कहा जाता है, पहनते हैं। जाड़ों में इसी तरह के कई अँगरखे एक साथ पहने जाते हैं। अँगरखे के उपर वे चमड़े या रेशम का एक मोटा कमरबन्द बाँधते हैं, जिसमें अपनी कटार, तमाखू की थैली, और दो चार पहनने या व्यवहार करने की छोटी-मोटी चीज़ें रख लेते हैं। सूती या रेशमी कपड़े की बनी हुई ख़ूब चौड़ी गरारेदार पतलून पहनने का भी उनमें रिवाज है। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही लोग मख़मल, नमदा, सूती या रेशमी कपड़े की पतलूनें पहनते हैं। बड़े-बड़े काले या लाल चमड़े के बूट और सफ़ेद नमदे की नोकदार टोपी को मिलाकर उनकी पोशाक पूरी हो जाती है, जो स्त्रियों और पुरुषों में एक-सी ही पहनी जाती है।

अपने पड़ोसी कारा-किरग़ीज़ की तरह क़ज़्ज़ाक लोग भी नाममात्र के लिए सुन्नी मुसलमान हैं, परन्तु दिल से वे पुराने ढंग के मूर्तिपूजक ही होते हैं। वे अपने फ़क़ीरों और नजूमियों पर बड़ा विश्वास करते हैं। उनकी धारणा है कि फ़क़ीर या औलिया भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ के बारे में जानता है, सब कुछ कर सकता है, असम्भव को भी सम्भव बना सकता है और इच्छा करने पर सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर करने में सफल हो सकता है। क़ज़्ज़ाक न तो रोज़ा रखते हैं, न वज़ू करते हैं और न नमाज़ ही पढ़ते हैं। उनके देश में न तो मस्जिदें हैं और न मुल्लाओं का नामोनिशान है। वे मुसलमान होते हुए भी हज करने की आवश्यकता को महत्व नहीं देते। शायद ही कोई उनमें से कभी मक्का या मदीना गया हो। हाँ, इतना अवश्य है कि वे पुराने फ़क़ीरों और पीर लोगों के

मज़ारों पर जाकर ज़रूर सिजदा करते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान के इलाक़े में हज़ारों ऐसे मज़ार पड़े हुए हैं, जिन पर दूर-दूर से लोग आकर पूजा-भेंट चढ़ाते हैं। अपने मृत व्यक्तियों के प्रति वे आदरभाव रखते हैं और उनकी क़ब्रों पर समाधि-मन्दिर बनवाते हैं।

इन लोगों में विरला ही कोई लिखना-पढ़ना जानता होगा। जो कोई भी व्यक्ति ऐसा निकलता है कि मामूली लिख-पढ़ सकता हो, उसकी बड़ी इज़्ज़त होती है। जो कोई क़ुरान की मूल प्रति पढ़ लेता है, वह असाधारण विद्वान समझा जाता है। प्रत्येक अवसर पर उसके पास लोगों की भीड़ लगी रहती है और सब उसे सम्मान प्रदान करते हैं।

अशिक्षित और अपढ़ होते हुए भी क़ज़्ज़ाक लोग काव्य और संगीत के बड़े प्रेमी होते हैं। उनके बहुत-से जातीय गीत हैं, जिनका प्रचार एक-दूसरे को सुनाकर होता रहता है। क़ज़्ज़ाक लोग आप ही अपने ख़ान या सरदार चुन लेते हैं, यद्यपि उनकी पूरी स्वीकृति रूस की सरकार से लेनी होती है। ये ख़ान लोग अपनी जाति विशेष के लोगों पर ही शासन कर पाते हैं, जिसकी सीमा के बाहर उनका कोई प्रभुत्व नहीं होता। प्रत्येक घराने के बड़े-बूढ़े लोग ही उस घराने के असली शासक समझे जाते हैं। जन-साधारण के सहयोग से मध्यस्थ और सुल्तानों का चुनाव किया जाता है। लूटमार के अपराधी को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता है और पहले तो कभी-कभी उसे मार भी डालते थे। हत्या और व्यभिचार का अपराध करनेवालों को गला घोंटकर मारने या फाँसी पर लटका देने की सज़ा दी जाती थी। चोरी करनेवाले को चोरी के माल का तिगुना, नौगुना, या सत्ताइस गुना धन दण्डस्वरूप देना पड़ता था।

एक किरग़ीज़ स्त्री

व्यवसाय के विषय में क़ज़्ज़ाकों और कारा-किरग़ीज़ लोगों में बहुत थोड़ा अन्तर है। धनी और सम्पन्न क़ज़्ज़ाक के पास प्रायः दो हज़ार तक दुम्बा भेड़ें पली रहती हैं। बकरियाँ केवल ढोरों के पथ-प्रदर्शन-कार्य्य के लिए पाली जाती हैं। घोड़े यद्यपि छोटे क़द के होते हैं, मगर बड़े मज़बूत और क़दम के सच्चे होते हैं। क़ज़्ज़ाकों के घोड़े प्रायः पचास-साठ मील की मंज़िल एक ही साँस में तय कर डालते हैं।

क़ज़्ज़ाकों में बहुत कम लोग चाँदी, ताँबे और लोहे की वस्तुएँ बनाना जानते हैं। खालों को पकाकर चमड़ा बनाना, ऊन कातना, रँगाई करना, तथा दरियाँ, क़ालीन और नमदे बनाना, ये ही उनके मुख्य व्यवसाय गिने जाते हैं। रूस, चीन और तुर्किस्तान के सौदागरों से अपनी आवश्यकता की तैयार वस्तुएँ लेकर क़ज़्ज़ाक लोग बदले में मवेशी दे दिया करते हैं।

सोवियट रूस के शासन-काल में किरग़ीज़ और क़ज़्ज़ाकों ने बड़ी तेज़ी से प्रगति के पथ पर बढ़ना शुरू किया है, और वर्त्तमान युद्ध में उनके कई रिसालों ने कमाल की बहादुरी दिखाई है। रूस के नियंत्रण में मध्य एशिया के चरागाहों में अब महान् औद्योगिक केन्द्र प्रस्थापित हो गए हैं और अनेक क़ज़्ज़ाक शत-प्रति-शत सभ्य नागरिक बन गए हैं। फिर भी उनमें से कई अब भी अपनी ख़ानाबदोशी की ही ज़िंदगी बसर करना पसंद करते हैं।

तिब्बती

दुनिया की छत के निवासी

एशिया महाद्वीप के ठीक मध्य भाग में, समुद्र की सतह से लगभग १२००० से १७००० फीट तक की ऊँचाई पर बर्फीले पठारों की अनेक श्रेणियाँ एक दूसरे से स्पर्द्धा करती हुई सिर ऊँचा किए हुए खड़ी हैं। प्रकृति की नैसर्गिक छटा से अलंकृत गगनचुम्बी हिमालय का रंगीन दुकूल उन पर लहराया करता है। भूमण्डल के किसी भाग में इतने ऊँचे पठार नहीं पाए जाते। लगभग सात लाख वर्गमील के घेरे में फैले हुए इन पठारों का अधिकांश भाग जनशून्य पार्वतीय प्रदेश है, जहाँ खेती-बारी हो ही नहीं सकती। हाँ, इन पठारों के दक्षिणी भाग में, जो 'बदयूल' या 'भोट' कहलाता है, कुछ लहलहाते खेत और सुन्दर कलापूर्ण मकानों की बस्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इस समूचे रहस्यपूर्ण प्रदेश में—जिसे बाहरी दुनिया 'तिब्बत' के नाम से पहचानती है—लगभग अस्सी लाख प्राणी बसते हैं, जिनमें आधी संख्या उन जातियों की है, जो अपने-अपने सरदारों या प्रधानों की हुकूमत में रहती हैं तथा लासा के केन्द्रीय शासन से सर्वथा स्वतन्त्र हैं या नाममात्र के लिए ही उसका आधिपत्य मानती हैं। लासा-स्थित केन्द्रीय सरकार के शासन में साँपो या ब्रह्मपुत्र नदी के ऊपरी भागों में रहनेवाले लोग हैं, जो सुदूर दक्षिण तक फैले हुए हैं। तिब्बती पठारों का यही भाग सबसे अधिक उपजाऊ और घना बसा है।

इस प्रदेश का नाम 'तिब्बत' क्यों पड़ा, इस विषय में विद्वानों ने पर्याप्त अन्वेषण किया है। सुना जाता है कि प्राचीन काल के कुछ ऐसे प्रमाणपत्र मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि इस देश का राजा 'दीबा' कहलाता था, जो लंगूत तातारों की एक प्राचीन जाति के वंशजों में से था। सन् ४३३ ई० में, तिब्बत के पूर्व में किसी एक राजा ने एक नए साम्राज्य की नींव डाली, जिसे वह 'तुबत' कहता था। तातारी जातियों में एक परिवार विशेष भी कई पीढ़ियों तक 'तुबत' के नाम से प्रसिद्ध था, जिसके कारण भी इस भूभाग का नाम 'तिब्बत' हो जाना सम्भव है। तातारियों की 'सिंफी' जाति की बोली में 'तुबत' का अर्थ 'बिछौना' समझा जाता है।

तिब्बती लोग अपनी उत्पत्ति के विषय में बड़ी मनोरंजक कहानी सुनाते हैं, जो प्राचीन काल से उनमें प्रचलित है। उनका कहना है कि आदि काल में एक आदमी अपने तीन पुत्रों को साथ लेकर हिमालय के पठारों में घूमा-फिरा करता था। उस ज़माने में वहाँ मरुभूमि नहीं थी, ठण्ड भी नहीं पड़ती थी, और ग़रीबी का नामोनिशान भी न था। पेड़ों में बड़े स्वादिष्ट और मधुर फल लगे रहते थे। चावल अपने आप पैदा होता था। खेतों में चाय के पौधे लहलहाया करते थे। बाद में समय बीतने पर गौतम बुद्ध ने उस उपजाऊ प्रदेश को शाप देकर पथरीला और ऊसर बना दिया। उसी समय वह आदमी मर गया। उसका प्रत्येक पुत्र पिता की मृत देह पर अधिकार करके इच्छानुसार उसका अन्तिम संस्कार करना चाहता था। इसी बात पर तीनों पुत्रों में झगड़े का श्रीगणेश हुआ। बड़ा लड़का अपने मृत पिता का सिर लेकर पूर्व की ओर चला गया और उससे मक्कार चीनियों की उत्पत्ति हुई। मँझला लड़का मृतक के हाथ-पैर पाकर संतुष्ट हुआ और घर से निकलकर मरुभूमि की ओर चला गया। उसकी सन्तान मंगोल कहलाते हैं। तीसरा और सबसे छोटा लड़का अपने मृत पिता का वक्षःस्थल और उदर लेकर जहाँ-का-तहाँ रहने लगा और उसकी सन्तान तिब्बती कहलाने

एक तिब्बती पुरुष

लगी, जो अपने गुण, शील, स्वभाव, स्पष्टवादिता, सहानुभूति तथा युद्ध में वीरता और साहस के लिए विख्यात है।

तिब्बती मंगोल जाति के हैं, यद्यपि उनमें दूसरी जातियों का रक्त भी मिला हुआ है। वे प्रायः दुबले-पतले, औसत से अधिक लम्बे, मज़बूत और सुदृढ़ होते हैं। उनकी आँखें काली और छोटी, मुँह बड़ा, केश भूरे, चेहरा दाढ़ी से रहित, रंग साफ़ भूरा या गुलाबी और आकृति प्रभावशाली होती है। उनमें बहुत-से जातीय गुण समान होते हैं। उदाहरणतः वे नम्र, मधुरभाषी, दयावान और अपनी बात के धनी होते हैं। नृत्य, संगीत और अभिनय में उनकी विशेष रुचि होती है। किन्तु वे उद्यमशील नहीं होते। वे रूढ़िवादी तथा प्राचीन संस्कारों के कट्टर पक्षपाती होते हैं। भूत-प्रेत, जादू-टोना और मूर्त्तिपूजा आदि में उनका घोर अन्धविश्वास होता है। स्वभावतः मिलनसार होने के कारण प्रत्येक त्यौहार अथवा कामकाज के अवसर पर मित्रों, बन्धु-बान्धवों, तथा सम्बन्धियों का उनके यहाँ अच्छा ख़ासा जमाव हो जाता है, जबकि सब लोग विराट् भोज में एक साथ सम्मिलित होते और आनन्द मनाते हैं। नाच, गायन और मनोरंजन के साधनों से उनका कोई भी उत्सव ख़ाली नहीं रहता। तिब्बती लोगों का उन्नतिशील न होना ही उनको सभ्यता की दौड़ में अन्य देशवालों से पीछे छोड़े हुए है। कला-कौशल में भी वे चीनवासियों से पिछड़े हुए हैं, जिनकी नाममात्र की अधीनता स्वीकार करके वे पिछले कई वर्षों से रहते चले आए हैं। उनके ऐसे उद्योग-धन्धे जिन्हें राष्ट्रीय माना जा सकता है इने-गिने ही हैं। वे धातुओं का सामान ढालते हैं, किन्तु उनकी बनाई हुई मूर्त्तियाँ और छोटे-छोटे घंटे भारतीय और चीनी कारीगरी की प्रतिछवि मात्र कहे जा सकते हैं। तिब्बत की खानों से बहुत अच्छी जाति का लोहा निकलता है, जिससे वे लोग उम्दा तलवारें तथा दूसरे हथियार बनाते हैं। बहुमूल्य रत्नों का उन्हें बड़ा शौक़ होता है, किन्तु वे उनको काटना-छाँटना या खानों से निकालना नहीं जानते। तिब्बती स्त्रियाँ अधिकतर मूँगे या नीलम के आभूषण पहनती हैं। तिब्बतवालों का मुख्य व्यवसाय ऊन पैदा करना है, जिसके लिए वहाँ का जलवायु बहुत ही अनुकूल पाया जाता है। करघे का काम अधिकतर स्त्रियों के हाथ में है। तिब्बत के लोग यद्यपि जन्म से ही बड़े कुशल व्यापारी होते हैं, परन्तु वे पक्का माल तैयार नहीं कर पाते। उनके देश में शिगाज़े और लासा यही दो व्यवसाय की बड़ी मंडियाँ हैं, जहाँ दिसम्बर और जनवरी के महीनों में सौदागरों के क़ाफ़िले आते-जाते हैं। भेड़ें और याक नामक पहाड़ी बैल बोझा ढोने और सामान ले जाने के लिए काम में लाये जाते हैं। तिब्बती लोगों के मुख्य उद्योग-धन्धे ऊन तैयार करना, उसके रंगबिरंगे कपड़े बुनना, क़ालीन बनाना, मिट्टी के बर्तन तैयार करना आदि हैं। वे ताँबे और लोहे के बर्तन भी बनाते हैं, जिन पर बड़ी सुन्दर नक़्क़ाशी तथा कलापूर्ण चित्रकारी की जाती है। इनके अतिरिक्त वे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल और भी छोटे-मोटे व्यवसाय चलाते हैं।

तिब्बती स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही बेहद लंबी ढीली आस्तीनों के कोटनुमा चोगे पहनते हैं और ऊपर से कमरबंद बाँधते हैं। गर्मियों में ऊन के तथा जाड़ों में भेड़ों की खालों के बने हुए रंगीन चोगे उनमें पहने जाते हैं। पुरुष प्रायः अपना दाहिना हाथ आस्तीन से बाहर रखते हैं, जिसके कारण आस्तीन खाली लटकती रहती है। उनकी बाँह तथा सीने का कुछ भाग कड़े जाड़े में भी खुला ही रहता है। पायजामे के बजाय वे प्रायः भेड़ों की जाँघों पर की खालें पहने रहते हैं। ख़ानाबदोश तिब्बती कमीज़ें नहीं पहनते। वे तम्बुओं में नंगे बदन नम्दे के बिछौनों पर सोते और अपने चोगे उतारकर उन्हें ही ऊपर से ओढ़ लेते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही भेड़ या लोमड़ी की खाल की टोपियाँ पहनते हैं, मगर कभी-कभी लाल रंग के ऊनी कपड़ों से भी सिर ढाँके रहते हैं। पुरुषों के कमरबन्द से तलवार लटकती रहती है और दाहिने कंधे पर एक झोलदार झालर-सी दिखाई देती है, जिस पर बड़ा सुन्दर ज़री का काम होता है और मूँगे तथा नीलमणि टँके रहते हैं। उसी पर एक तावीज़ भी मिला होता है, जिसे लोग अपने धर्मगुरु लामाओं से ले आते हैं। इन लोगों के पीतवस्त्रधारी लामा पुजारियों की पोशाक का रंग अब धीरे-धीरे लाल होता जा रहा है, क्योंकि पीला रंग मिलने में कठिनाई होने लगी है। धुर दक्षिणी प्रदेशों में रहनेवाले तिब्बती अनेक वस्त्र पहनते हैं और कोमल रोएँदार पशुओं की खाल के ओवरकोट भी व्यवहार में लाते हैं। वे कई तरह के टोप और टोपियाँ पहनते हैं। कुछ लोग नंगे सिर

भी रहते हैं। कुछ नम्दे की बनी हुई हैट का भी व्यवहार करते हैं। कोई-कोई सूती या रोएँदार खाल के बने कनटोप भी व्यवहार में लाते हैं। तिब्बत में रईस और धनीमानी लोग चीनियों की भाँति रंग-बिरंगा बड़ा घेरदार चोग़ा पहनते हैं, जिसमें तेंदुए की खाल की झालर या गोट लगी रहती है। चीन की सीमा पर रहनेवालों में ढीले-ढाले नीले रंग के पायजामे और ऊपर को मुड़ी हुई नोकवाले जूते पहनने का रिवाज है। कमरबन्द के थैले में तिब्बती लोग दो-तीन खाने-पीने के छोटे बर्तन, सुँघनी की डिबिया, रुपयों की थैलियाँ, चाय की दो-चार गोलियाँ और अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ रखे रहते हैं। सीधे तनकर चलने के कारण तिब्बती लोग तगड़े दिखाई देते हैं। जब वे बैठते हैं तो अपनी दोनों बाहें आस्तीनों से बाहर निकाल लेते हैं और उनकी पीठ और सीना खुला रहता है।

तिब्बत में दो मुख्य धर्मों का प्रचार है—एक है बौद्ध मत, जो तांत्रिक लामा-मत के रूप में परिवर्त्तित हो चुका है, और दूसरा है बौन या बौनबा-मत जो अधिक प्राचीन तथा कम विख्यात है। मंगोलिया तथा तिब्बत के अधिकांश भाग में लामाओं का मत ही अधिक प्रभावशाली है। लामा-मत के आदि नियम भगवान् बुद्ध के उपदेशों के आधार पर बने हैं, किन्तु समय की गति के साथ-साथ उनमें बहुत-कुछ परिवर्तन होता चला आया है। आज दिन लामा-मत बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों तथा तांत्रिक उपासना-पद्धति के समन्वय के रूप में प्रचलित है। आश्चर्य तो इस बात का है कि भगवान् बुद्ध ने मूर्त्तिपूजा तथा देवी-देवताओं की उपासना का कोई निर्देश नहीं किया, किन्तु उनके अनुयायी ये लामा लोग अपने को बौद्ध कहते हुए भी विविध देवी-देवताओं के साकार रूप की उपासना करते हैं। लामाओं के धर्म में तीन ही सिद्धान्त और तीन बहुमूल्य रत्न माने जाते हैं, जिनकी अत्यन्त पवित्रता से रक्षा करना उस धर्म के प्रत्येक अनुयायी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य होता है। वे तीन रत्न हैं—(१) भगवान् बुद्ध, (२) धार्मिक नियम, (३) और धर्म-गुरु अर्थात् लामा-पुरोहित-वर्ग। वे इन्द्र, यम, शिव और वैश्रवण आदि देवताओं को भी मानते और उनकी पूजा करते हैं। बौद्ध धर्म की भाँति लामा-मत में भी जीवधारियों को हानि पहुँचाना महापाप समझा जाता है और मृतक को धरती में गाड़ना मना है। पदवी, ज्ञान, मर्यादा और ऐश्वर्य में बढ़े-चढ़े लोगों के मृतदेह का दाहकर्म किया जाता है, किन्तु अन्य व्यक्तियों के मुर्दे जंगलों में फिंकवा दिया जाते हैं, जिनको जंगली जानवर तथा पक्षी नोच-नोचकर खा जाते हैं। लामा-मत की सबसे मनोरंजक विशेषता उनके पुजारी-वर्ग या लामा-सम्प्रदाय की प्रधानता है। लामा-सम्प्रदाय में दो सबसे बड़े तथा उच्चपदस्थ प्रधान महन्त होते हैं, जिनको दलाई लामा और ताशी लामा कहते हैं और वही दोनों तिब्बत की शासन-व्यवस्था, धार्मिक प्रबन्ध, तथा राज्याधिकार सम्बन्धी कार्यों का संचालन करते हैं।

तिब्बती लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के बाद उनके धर्मपुरोहित प्रधान लामा की आत्मा दूसरे शरीर में पुनर्जन्म लिया करती है और उस पुनर्जन्म का उत्सव ये लोग बड़े समारोह से मनाते हैं। इस बात का निश्चय करने के लिए कि किसी आत्मा विशेष का पुनर्जन्म कब और किसके शरीर में होगा अनेक प्रकार के साधन प्रचलित हैं। कभी-कभी मरने के पहले ही लामा लोग गुप्त रूप से अपने मित्रों को बतला जाते हैं कि किस परिवार में, किस व्यक्ति में और किस समय पर उनकी आत्मा का पुनर्जन्म होगा। कभी-कभी वे लोग अपनी अन्तिम वसीयत में ये सब बातें लिखकर छोड़ जाते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि धार्मिक ग्रंथों तथा ज्योतिष द्वारा लामाओं की आत्मा के पुनर्जन्म का पता लगाया जाता है। तिब्बत के ज्योतिषी अपने को दैवज्ञ तथा त्रिकाल-ज्ञाता समझते हैं और वे अनेक प्रकार के साधनों तथा अनुष्ठानों द्वारा इस पुनर्जन्म के विषय में भविष्यवाणी करते हैं।

तिब्बत के लोगों की धारणा है कि सभी प्रकार के दुर्भाग्य, जैसे कारोबार में हानि, रोग, शारीरिक बाधाएँ आदि मंत्र और जादू-टोने के प्रयोग द्वारा दूर किए जा सकते हैं। किसी महान् लामा के सिर का बाल या उसकी पोशाक का पुराना टुकड़ा मूल्यवान समझकर बड़ी हिफ़ाज़त से चाँदी की डिबिया में रखा जाता है और तावीज या यंत्र के रूप में उसका व्यवहार किया जाता है। दलाई लामा और ताशी लामा के नख का कटा हुआ भाग

विशेष रूप से पवित्र समझा जाता है। इन दो महान् व्यक्तियों के भोजन की जूठन भी सुरक्षित रखी जाती है। अन्य कई देशों की भाँति तिब्बत में भी स्वस्तिक का चिह्न सौभाग्य का चिह्न समझा जाता है। घर के द्वार, दीवार और कड़ियों पर यह चिह्न प्रायः अंकित दिखाई पड़ता है। हाथों तथा बाँहों पर भी इस चिह्न का गोदना गोदाया जाता है। अर्धचन्द्र और चक्र, जो चन्द्र और सूर्य के प्रतीक समझे जाते हैं, तथा स्वस्तिक का चिह्न प्रायः पोशाक की पीठ पर अंकित किए जाते हैं। लामाओं का विश्वास है कि स्वस्तिक-चिह्न जीवन का द्योतक होता है। सौभाग्य-चिह्न के रूप में वास्तविक और काल्पनिक पशुओं की मूर्त्तियों का भी व्यवहार किया जाता है, जैसे दीर्घ जीवन के लिए कछुआ, शत्रुओं के विरुद्ध जादू-टोना करने में एक परदार सर्प विशेष, एवं आकस्मिक दुर्घटना, दुर्भाग्य तथा रोगनिवारण के लिए गरुड़ की मूर्त्ति शुभ समझी जाती है। धर्म-पताकाओं पर भी सिंह, चीते और परदार सर्प के चित्र अंकित रहते हैं। पाँच पैरवाले चमगादड़ पाँच प्रकार के सुखों के द्योतक माने जाते हैं। क़ालीनों तथा पदमर्यादा-सूचक वस्त्रों की सजावट के लिए भी इसी प्रकार के विचित्र चिह्न अंकित किए जाते हैं।

तिब्बत का एक लामा

तिब्बत की एक विशेष उल्लेखनीय वस्तु वहाँ की धार्मिक ध्वजा या पताका है। वहाँ ऊँचे खम्भों पर हर कहीं ये पताकाएँ फहराती रहती हैं। छोटे-छोटे झंडे, जिन पर जादू के मंत्र छपे रहते हैं, नदियों या पुलों के आरपार रस्सी में बाँधकर लटका दिए जाते हैं अथवा वृक्षों की टहनियों में बाँध दिए जाते हैं। खेत में हल चलाते समय बैल के सींग में भी ऐसी ही छोटी-सी झंडी बाँध दी जाती है, जिससे अच्छी फ़सल उग सके। ये झंडे कभी-कभी दस फ़ीट या इससे भी अधिक लम्बे होते हैं। उनके चारों कोनों पर बाघ, सिंह, गरुड़ और सपक्ष सर्प के चित्र बने रहते हैं, और शेष स्थान में मंत्र लिखे रहते हैं। बड़ी धूमधाम और समारोह के साथ ये धार्मिक पताकाएँ फहराई जाती हैं। जातीय पर्वों के अतिरिक्त प्रत्येक स्थान में कुछ विशेष उत्सव भी होते हैं, जिनमें स्थानीय देवताओं की पूजा की जाती है और धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं। प्रत्येक महीने का आठवाँ, दसवाँ, पचीसवाँ और तीसवाँ दिन तथा प्रतिपदा और पूर्णिमा विशेष रूप में शुभ समझी जाती हैं। इन्हीं दोनों तिथियों में लोग अच्छी से अच्छी भड़कीली पोशाक पहनकर फूल, धूप, वेदी पर जलनेवाले दीपक के लिए घी तथा द्रव्य लेकर स्थानीय मठों में जाते हैं और वेदी के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए उपासना करते हैं। इन मठों का प्रबन्ध लामा-सम्प्रदाय के पुरोहितों के हाथ में होता है, जो चार वर्गों में बँटे हुए हैं। प्रत्येक वर्ग के चार उपवर्ग भी माने जाते हैं। लामा-संप्रदाय का कोई भी सदस्य आजीवन विवाह न करने की शपथ लिये बिना पुरोहित बनने का अधिकार नहीं पा सकता। सभी सदस्य प्रायः मठों और विहारों में रहते हैं। प्रत्येक मठ में एक मन्दिर अवश्य होता है जो ठीक बीचोंबीच में बनाया जाता है और उसके चारों ओर पुजारियों के रहने के लिए छोटे-छोटे कमरे बने होते हैं। उन कमरों के साथ-ही-साथ एक विशाल मंत्रणागृह, पुस्तकालय, भंडारगृह तथा अन्य उपयोगी इमारतें भी होती हैं, जहाँ लामा लोगों की आध्यात्मिक और मानसिक उन्नति के सभी साधन एकत्रित रहते हैं। लामा-सम्प्रदाय में स्त्रियाँ भी सदस्या होती हैं और उनके मठ पृथक् बने होते हैं। लामा लोग संसार में सबसे अधिक पूजा-प्रार्थना करनेवाले लोग होते हैं। उनकी प्रार्थना के चक्र, वेदियाँ, स्तूप, पताकाएँ, शिलाएँ सभी "ॐ मणिपद्मे हुं" नामक मंत्र से अलंकृत

रहती हैं और प्रत्येक व्यक्ति इसी मंत्र का अनवरत जप करता रहता है। संसार की सभी जातियों की प्रार्थनाओं की अपेक्षा लामा लोगों की यह चार शब्दों की प्रार्थना सबसे अधिक बोली जाती, लिखी जाती, छापी जाती, अंकित की जाती और जपी जाती है तथा इसके भक्त इसे संसार के लिए असीम कल्याणकारी समझते हैं। तिब्बती और मंगोल जातियों में प्रार्थना के यही चार शब्द जनसाधारण में प्रचलित हैं। बोलना आरम्भ करने पर उनके बच्चों को सबसे पहले इसी का उच्चारण सिखाया जाता है। मरणासन्न व्यक्ति की अन्तिम श्वास से भी इसी की ध्वनि गूँजती है। लामा लोग प्रायः सौ दानों की माला फेरते हैं, जिसका प्रत्येक दसवाँ दाना औरों की अपेक्षा कुछ बड़ा रखा जाता है। छोटे दाने प्रायः नक़ली मूँगे के और बड़े दाने रुद्राक्ष के होते हैं। ये लोग बाएँ हाथ में माला लिये रहते हैं। मन्दिरों में नियमित रूप से प्रति दिन कई बार प्रार्थना होती है, जिसमें आबाल-वृद्ध-वनिता सभी सम्मिलित होते हैं। मन्दिर में प्रवेश करने पर उपासक मूर्त्ति के सामने नैवेद्य, पुष्प और द्रव्य का चढ़ावा चढ़ाकर प्रणाम करता है और कुछ देर तक खड़ा रहकर लामा की स्तुति को सुनता रहता है, फिर वहाँ से बाहर चला जाता है। मन्दिर से बाहर निकलने पर वह मार्ग में लगी हुई विशाल प्रार्थना की चक्की को दो बार घुमा देता है। मठ के बाहर दीवारों पर भी इस प्रकार के कितने ही प्रार्थना के चक्र लगे रहते हैं।

नए वर्ष के आरम्भ में तिब्बती लोग ख़ूब आनन्दोत्सव मनाते हैं। इस अवसर पर भोज, मद्यपान और जुए की धूम मच जाती है। तीसरे दिन प्रातःकाल 'मोनलम' अर्थात् बृहत् धार्मिक उत्सव आरम्भ होता है। सबेरे से ही राजधानी लासा के आस-पास के समस्त मठों से लामा लोग आ-आकर नगर में इकट्ठा होने लगते हैं। इनकी संख्या दोपहर तक बीस हज़ार तक पहुँच जाती है। दूसरे दिन दो उच्चपदस्थ लामा सेनापति और मजिस्ट्रेट नियुक्त होते हैं, जो आगन्तुक लामाओं में विनयानुशासन क़ायम रख सकें और नियम उल्लंघन करनेवालों को उपयुक्त दण्ड दें। राजदण्ड के रूप में उनके हाथ में पाँच फ़ीट लम्बे लोहे के दण्ड होते हैं, जिन पर सोने और चाँदी का बढ़िया बूटेदार काम किया हुआ रहता है। उनके साथ में २०-२५ कर्मचारी रहते हैं, जिनके हाथ में चाबुक रहते हैं। बहुधा इन चाबुकों का उपयोग करने में वे ज़रा भी नहीं हिचकते। आगामी दस दिनों तक लासा के जोकङ्ग मन्दिर में प्रति दिन तीन बार धार्मिक अनुष्ठान होते हैं। प्रथम मास के पन्द्रहवें दिन समस्त मठों और बड़े-बड़े घरों में घी के असंख्य दीप जलाये जाते हैं और लोग मन्दिरों में चढ़ावा चढ़ाते हैं। बीसवें दिन लगभग पाँच मील की एक घुड़दौड़ होती है। इस घुड़दौड़ में भाग लेनेवाले घोड़े सरकारी और सरकारी कर्मचारियों के होते हैं। तिब्बत की सभी घुड़दौड़ों में घोड़े पर सवारी नहीं की जाती, वरन् उसे हाँका जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि सरकारी घोड़े जीत जाएँ तो आगामी वर्ष तिब्बत के लिए सुखप्रद होगा। 'मोनलम' के दूसरे दिन उच्च सरकारी अफ़सरों और सरदारों के बीच इस बात को लेकर प्रतियोगिता होती है कि उनमें किस दल के नौकर-चाकर अच्छी पोशाक पहने हुए और सुसज्जित रहते हैं। प्रत्येक अफ़सर और सरदार अपने साथ १३ से लेकर २० तक सशस्त्र घुड़सवार नौकर और उनके साथ चार स्त्रियों को लाता है। प्रत्येक स्त्री के साथ एक-एक नौकरानी रहती है। सब ख़ूब भड़कीली पोशाक पहने हुए रहती हैं और सुसज्जित घोड़े पर सवार होती हैं। इसके बाद निर्णय करनेवाले विचारक इस बात का फ़ैसला करते हैं कि कौन पक्ष विशेष सुसज्जित है और उस पक्ष को रूमालों का उपहार देते हैं। इस 'मोनलम' के तेईसवें दिन फिर घुड़दौड़ होती है, जिसमें आख़िरी ३०० गज़ की दूरी तक घोड़े के साथ-साथ मनुष्य भी दौड़ते हैं। तीसरे पहर लामा लोग धार्मिक परिच्छद धारण करके भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति के साथ जुलूस में सम्मिलित होते हैं। जुलूस के साथ बाजे-गाजे और घंटे-घड़ियाल आदि बजते रहते हैं। अंतिम दिन फिर खेल-कूद होता है, जिसमें उच्च कर्मचारियों के नौकर-चाकर कुश्ती तथा इसी तरह की अन्य क्रीड़ाओं में भाग लेते हैं। वर्ष में समय-समय पर और भी कितने ही त्यौहार मनाये जाते हैं। तीसरे महीने के आठवें दिन समस्त राज-कर्मचारी जाड़े की गर्म पोशाक पहनकर दलाई लामा के सामने उपस्थित होते हैं और उन्हें

साष्टाङ्ग दण्डवत् करके पास के एक कमरे में चले जाते हैं और वहाँ ग्रीष्म ऋतु की पोशाक पहनते हैं। इस उत्सव के बाद वसंत ऋतु के प्रारम्भ में खेल-कूद होते हैं। बहुतेरे वार्षिक उत्सव केवल प्रेतों के भगाने के लिए किए जाते हैं, जिनमें लामा लोग भड़कीली पोशाकें पहनकर तथा चेहरे पर नक़ाब डालकर 'प्रेत नृत्य' करते हैं।

तिब्बत के लोग अपने पर्व-त्योहारों से जितना प्रेम करते हैं, उतना शायद ही किसी अन्य जाति के लोग करते हों। उनके लामाओं द्वारा प्राचीन धार्मिक अनुष्ठान नियमित रूप से सम्पन्न होते रहते हैं, जिससे इस ठण्डे देश के निवासियों के एकाकी जीवन में एक प्रकार की सरसता-सी आ जाती है। वे अपने सार्वजनिक 'प्रेत-नृत्य' और जन्म, विवाह आदि से सम्बन्ध रखनेवाली रीति-रस्मों को केवल खेल-तमाशा ही नहीं समझते, वरन उन्हें सर्वव्यापी शत्रु प्रेतात्माओं के विरुद्ध एक वास्तविक संग्राम का अंग मानते हैं। तिब्बत वास्तव में एक धर्म-प्रधान देश है और वहाँ हर काम में धर्म को प्रधानता दी जाती है। इन लोगों की धार्मिक पुस्तकों की संख्या लगभग १०८३ है, जिनमें कोई-कोई ग्रन्थ सौ-सवा सौ जिल्दों में समाप्त होते हैं!

बीस वर्ष की आयु में ही तिब्बती युवक के माता-पिता उसके विवाह का प्रबन्ध करते हैं। अपने वर्ग में से ही किसी परिवार की लड़की को वे चुनते हैं और फिर उसके सम्बन्ध में अपने लड़के से प्रस्ताव करते हैं। यदि लड़का राज़ी हो जाता है तो ज्योतिषी की सलाह ली जाती है और उसे वर-कन्या के जन्मदिन बता दिए जाते हैं। उन पर ज्योतिषी अपनी राय देता है। तब माता-पिता किसी पेशेवर घटक या मध्यस्थ को, जो 'बारमी' कहलाता है, या अपने ही किसी सम्बन्धी विशेषकर चाचा को, दोनों पक्षों के बीच मध्यस्थता करने के लिए नियुक्त करते हैं। यह मध्यस्थ ख़ूब बढ़िया पोशाक पहन तथा 'लांगचांग' नामक शराब का उपहार लेकर कन्या के माता-पिता के यहाँ जाता है, और यदि वे विवाह-संबंध करने को राज़ी हो जाते हैं तो उस 'लांगचांग' को वहाँ उपस्थित सब लोग पान करते हैं। इसके बाद मध्यस्थ वहाँ से वापस आकर वर के माता-पिता को तदनुसार सूचना देता है। फिर ज्योतिषी बुलाया जाता है और अब वह वर-कन्या की असली जन्म-पत्रियों का मिलान करता है। जन्म-पत्रियों के द्वारा वह इस बात का विचार करता है कि प्रस्तावित संबंध सफल और शान्तिपूर्ण होगा या नहीं। इसके बाद कन्या के माता-पिता को वर-पक्ष की ओर से एक निश्चित रक़म दी जाती है, जिसे 'माता के दूध का मूल्य' कहते हैं। इन सब विधियों के पूरे होने में कभी-कभी कई सप्ताह लग जाते हैं। इसके उपरान्त ज्योतिषी विवाह का शुभ दिन नियत करता है। कन्या के घर में कई दिनों तक लगातार भोज और आनन्दोत्सव होते रहते हैं। विवाह के दिन प्रातःकाल कन्या के माता-पिता अपने मेहमानों को एक अन्तिम भोज देते हैं और इसी दिन विशेष रूप से सर्पों के राजा 'लुई गियालयो' के उपलक्ष्य में भोज दिया जाता है। यह गृहदेवता प्रत्येक परिवार का रक्षक समझा जाता है और यदि वह कन्या के साथ उसकी ससुराल तक जाय तो उसके माता-पिता पर विपत्ति आए बिना नहीं रहती ऐसा मानते हैं! बलिदान और पूजा-भेंट द्वारा इस देवता को यह सूचित किया जाता है कि उसके लिए कन्या के परिवार में ही

एक तिब्बती सौदागर और उसका याक

रहना श्रेयस्कर होगा और यदि वह कन्या के पीछे-पीछे जायगा तो उसे वहाँ कम आराम मिलेगा ! उसे प्रसन्न करने के हेतु इसी तरह की और भी अनेक बातें कही जाती हैं। इधर वर के घर में भी भोज और विवाहोत्सव की तैयारियाँ होती रहती है। विवाह के एक दिन पहले वर के माता-पिता मध्यस्थ के नेतृत्व में अपने कुछ इष्ट-मित्रों और बन्धु-बान्धवों को कन्या के लिए विवाह की पोशाक लेकर उसके घर भेजते हैं। कन्या के यहाँ पहुँचकर ये लोग भी भोज में सम्मिलित होते हैं और रात्रि के समय उनका स्वागत-सत्कार किया जाता है।

विवाह के दिन कन्या नहा-धोकर अच्छे-से-अच्छे भड़कीले वस्त्र-आभूषण धारण करती है। इसके पश्चात् उसके माँ-बाप और अतिथि लोग वैवाहिक कर्त्तव्य के संबंध में उसे उपदेश देते हैं। इस काम के लिए धनवान लोग किसी पेशेवर वक्ता को नियुक्त करते हैं, जो ऊँचे स्वर में बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से निम्न आशय का व्याख्यान देता है—वधू को विनम्र होना चाहिए और उसे अपने पति के प्रति दयायुक्त अनुकूल व्यवहार करना चाहिए; उसे अपने पति के परिवार के प्रति और विशेषतया पति के छोटे भ्राताओं के प्रति प्रेम और आदर का भाव रखना चाहिए तथा सहनशीलता के साथ गृहस्थी चलाना चाहिए, आदि। विवाह-कृत्य की समाप्ति पर कन्या का दहेज उसकी ससुराल तक भेजने के लिए सवारियों पर लादा जाता है और तब वर-पक्ष के लोग विदा होने की तैयारी करते हैं। दूसरे दिन खूब सबेरे वर के यहाँ से एक और दल पहुँचता है। इस दल में वर के परिवार के केवल पुरुष सम्बन्धी और मित्र होते हैं। विवाह के दूसरे दिन ये सब मिलकर विदाई के भोज में शामिल होते हैं। फिर वधू अपनी ससुराल के लिए प्रस्थान करती है। उसके साथ उसके कुटुम्ब के बहुत-से लोग भी होते हैं। आगे-आगे श्वेत वस्त्र पहने हुए एक आदमी श्वेत घोड़े पर सवार होकर चलता है। उसके हाथ में एक 'सियाहो' (दण्ड) होता है, जो भूत-प्रेत आदि के निवारण का प्रतीक माना जाता है। वधू एक सजे हुए घोड़े पर सवार होती है और उसके सिर में एक हल्का ऊनी या रेशमी रूमाल लपेटा रहता है। रास्ते में तीन उपयुक्त स्थानों पर ठहरकर सब लोग साधारण जल-पान करते हैं। वर के घर से बाहर की ओर दुष्ट प्रेतों के प्रभाव से बचने के लिए दर्शकों में से एक व्यक्ति वधू के मुख पर छुरे के रूप में एक 'तोरमा' फेंकता-सा है। यह 'तोरमा' लामा लोग बनाते हैं, जो जौ के आटे का तथा मक्खन में भुना हुआ सख्त और लाल रंग का होता है। इसके बाद वह व्यक्ति दौड़कर फाटक के पास जाता है और फाटक केवल उसी के प्रवेश के लिए खुलता और फिर बंद हो जाता है। तदनंतर वर-पक्ष और कन्या के साथ आए हुए लोगों के बीच बहुत-कुछ कहा-सुनी होती है और फिर फाटक खुलता है। जिस समय दुलहिन द्वार के भीतर प्रवेश करती है, एक धनुष, जिसमें सफ़ेद, पीले, लाल, नीले और हरे रंग के झंडे बँधे रहते हैं, वर की माता द्वारा उसके गले में पहना दिया जाता है। विवाह का यह धनुष विवाह के बाद भी सुरक्षित रखा जाता है और प्रत्येक परिवार में गृहदेवता की वेदी पर रखा रहता है। घर में प्रवेश करने से पहले कन्या के साथ आनेवाले व्यक्तियों में से प्रत्येक को थोड़ा 'केमा' अर्थात् भुना हुआ जौ का आटा, मक्खन और दही दिया जाता है। इसके बाद सब लोग घर के भीतर जाते हैं। मित्र और सम्बन्धी लोग दम्पति को उपहार देते हैं और एक लामा उनके भावी जीवन को सुखी बनाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करता है। फिर विवाह का भोज शुरू होता है और इस आनन्दोत्सव के बीच में वर की माता दम्पति के गले में रूमाल बाँध देती है, जिससे यह समझा जाता है कि वर और वधू पति-पत्नी हो गए।

हिमालय के अंचल में बसनेवाली अनेक पहाड़ी जातियों की तरह तिब्बतवालों में भी एक स्त्री के एक से अधिक पति होने की प्रथा प्रचलित है। यदि पति के एक या इससे अधिक छोटे भाई हों तो कन्या को प्रथम विवाह के बाद लगभग एक-एक के अन्तर पर उनमें से प्रत्येक भाई के साथ बारी-बारी से विवाह करना पड़ता है ! ये विवाह निजी तौर से घर ही में होते हैं और ऐसे अवसरों पर जिन भाइयों का उक्त स्त्री से विवाह हो चुका होता है, वे किसी काम से या दूसरे बहाने से घर से अनुपस्थित रहते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक ही समय में सब भाई मिलकर एक ही स्त्री के साथ रहते हैं। इस प्रकार के विवाह से जो सन्तान

उत्पन्न होती है, वह इन पतियों में बड़े को पिता और छोटों को चाचा कहती है। इस प्रकार का विवाह तिब्बत की एक विशेषता है। तिब्बती स्त्री का अपने पतियों पर विशेष प्रभाव होता है और घर पर भी उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। सन्तानहीन स्त्रियाँ अपने बाँझपन को दूर करने के लिए पुरोहितों की सलाह लेती हैं और पुरोहित उनके इस अन्धविश्वास से पूरा लाभ उठाते हैं। प्रत्येक तिब्बती परिवार में संतान की इच्छा बड़ी प्रबल होती है और बच्चों को लड़कपन में इतने लाड़-प्यार से पाला जाता है कि वे बिगड़ जाते हैं।

बच्चा पैदा होने के कई दिन बाद उसकी माता उसे लामा के सामने उपस्थित करती है, जो उसके ऊपर पवित्र जल छिड़ककर मन्त्र पढ़ता है। जन्म के तीन दिन बाद मित्र और सम्बन्धी बधाई देने आते हैं और उपहार के रूप में अपने साथ मांस, चाय, शराब और मक्खन लाते हैं। इन सब वस्तुओं के साथ एक रूमाल अवश्य होता है। किसी बड़े घर में सन्तान उत्पन्न होने पर उपहार में बहु-मूल्य पदार्थ, कपड़े, रेशम और क़ालीन आदि भेंट किए जाते हैं। आगन्तुकों को विदा होते समय चाय और जलपान कराया जाता है और उन्हें बच्चे का पिता एक-एक रूमाल भेंट करता है। जन्म के लगभग दस दिन बाद नवजात बच्चे के माता-पिता किसी स्थानीय ज्योतिषी को बुलवाते हैं, जो जन्मकाल की गणना करके उसकी कुण्डली तैयार करता है और माता-पिता के परामर्श से उसका नामकरण भी करता है। असली नाम के साथ एक उपनाम भी जुड़ा रहता है। नामकरण-संस्करण के अवसर पर प्रीतिभोज की विशेष व्यवस्था की जाती है। भूत-प्रेत तथा दुष्ट ग्रहों की बाधाएँ दूर रखने के लिए लामा के दिए हुए यन्त्र या तावीज बच्चे के शरीर के किसी अंग में बाँध दिए जाते हैं। हर एक तिब्बती स्त्री, पुरुष और बच्चा इस प्रकार के यन्त्र या तावीज नियमित रूप से अपने शरीर पर धारण करता है।

एक तिब्बती स्त्री

किसी दूर प्रदेश की यात्रा करने पर, अथवा जिसमें ख़तरे की सम्भावना हो, ऐसी यात्रा के समय यात्री अपने साथ बहुत-से जादू-टोना किए हुए यन्त्र या तावीज लेकर प्रस्थान करता है। कभी-कभी वह इसी प्रकार के पचीसों तावीज अपने शरीर पर लटकाये रहता है। यात्रा में जादू-टोने के यन्त्र-तावीज़ों के अलावा देवताओं और साधु-सन्तों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी तिब्बती लोग अपने साथ रखते हैं। साधारण जनता का जादू-टोने में यह विश्वास इतना प्रबल होता है कि वह समझती है कि इनके प्रभाव से मृत्यु तक को जीता जा सकता है। सन् १६०४ ई० में ब्रिटिश सरकार की ओर से एक सैन्य दल तिब्बत भेजा गया था, जिसके हाथों बारम्बार पराजित होने पर भी तिब्बतवालों ने पागलों की तरह बन्दूकों और तोपों का सामना किया था! इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने पर पीछे पता चला कि प्रत्येक बार जब तिब्बती लोग युद्ध में हार जाते थे तो लामा लोग उन्हें नए जादू के तावीज़ देकर और यह कहकर कि पहला जादू सिर्फ़ सीसे की गोलियों के लिए था, बाद का निकल की गोलियों

के लिए है, लड़ने को भेजते थे! ऐसा इनका अंधविश्वास है!

तिब्बती परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु का समय निकट आने पर अधिक-से अधिक संख्या में लामा बुलाए जाते हैं। इनमें एक लामा बराबर उस व्यक्ति की मृत्यु की निगरानी करता रहता है ताकि उसकी आत्मा के निकलते समय शीघ्रता के साथ अनुष्ठान किया जा सके। यदि मृत्यु के समय कोई लामा मौजूद नहीं होता तो मरणासन्न व्यक्ति के ऊपर एक श्वेत चादर डाल दी जाती है, जिससे उसकी आत्मा मृत शरीर से उपयुक्त समय के पूर्व निकलने न पाए। लामा के न आने तक कोई भी मृतक को छू नहीं सकता। उसके सब संबंधी, बन्धु-बान्धव और मित्र उस कमरे से हटा दिए जाते हैं और अकेला लामा उस मृत व्यक्ति के सिरहाने बैठा रहता है। वह मृत व्यक्ति की खोपड़ी के मध्य भाग से एक बाल खींच लेता है और उससे आत्मा को निकल जाने का आदेश देता है। कहते हैं, शरीर से बाहर निकलकर आत्मा कुछ समय तक अपने पूर्व-परिचित और जाने हुए स्थानों में मँडराती रहती है। इस हेतु धर्म-ग्रन्थों से वाक्य पढ़कर उसे इस बात की शिक्षा दी जाती है कि पुनर्जन्म के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। मुर्दे को गाड़ने से पहले एक लामा ज्योतिषी मृत्यु-कुण्डली बनाता है, जिसमें यह लिखा रहता है कि कौन लोग मृतक के पास आ सकते हैं और उसे उठा सकते हैं, परलोकगत आत्मा की शान्ति के लिए कौन-से प्रार्थना-मंत्र पढ़े जाएँगे, मृत व्यक्ति किस रूप में दफ़नाया जायगा और उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए कौन दिन शुभ होगा। मुर्दे को छूने के लिए जो लोग चुने जाते हैं वे उसे बढ़िया कपड़े पहनाते हैं और बैठाकर चारों ओर से बाँध देते हैं। इस अवस्था में उसके घुटने ठुड्डी से सटे रहते हैं और दोनों भुजाएँ घुटने के आरपार कसकर बँधी हुई रखी जाती हैं। कमरे के एक कोने में इसी रूप में मुर्दे को रख दिया जाता है। इसके बाद कई दिनों तक भोज होते हैं और उस कमरे में अनेकों दीपक जलाए जाते हैं। भोज के समय मुर्दे के सम्मुख भी भोजन परोसा जाता है।

तिब्बत में मृत शरीर के अन्तिम संस्कार के चार तरीक़े प्रचलित हैं—जलाकर, नदी में फेंककर, ज़मीन के अंदर दफ़नाकर और कुत्तों, जंगली जानवरों तथा गीधों के खाने के लिए मुर्दे को योंही छोड़कर। उनकी धारणा है कि इस प्रकार मृतक का शरीर अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु इन चार तत्वों में से किसी एक में अवश्य मिल जायगा। काफ़ी ईंधन मिल जाने पर मुर्दे जलाये जाते हैं। केवल अपराधियों और दण्डित व्यक्तियों के मृत शरीर नदी में फेंक दिए जाते हैं। जो लोग छूत की बीमारियों तथा संक्रामक रोगों से मरते हैं, उनके तथा लामाओं के मृत शरीर दफ़नाये जाते हैं। घर से मुर्दे को हटाने के पहले एक बड़ा भोज होता है, जिसकी समाप्ति पर एक पुरोहित एक लम्बे रेशमी रूमाल के छोर को मुर्दे से बाँध देता है और प्रेतात्मा को उस घर से चले जाने तथा मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवों को तंग न करने के लिए आदेश देता है। इसके बाद पुरोहित और लामा अपने बायें हाथ में रूमाल के दूसरे छोर को पकड़े हुए और दूसरे पुरोहितों को आगे किए हुए मुर्दे को श्मशानभूमि में ले जाते हैं। ऊँची पहाड़ी भूमि में, जहाँ लकड़ी नहीं मिलती, मुर्दे को योंही अन्य पशुओं और पक्षियों के खाने के लिए फेंक दिया जाता है। जिस नगर या गाँव में मृत्यु होती है, उसके पास की पहाड़ी के किसी शिखर पर मृतक को ले जाते हैं और वहाँ उसके शरीर से मांस काट-काटकर गीधों को खिला देते हैं। हड्डियों को चूरचूर करके चूर्ण बनाकर लेई जैसी एक वस्तु तैयार करते हैं और उसे कुत्तों के खाने के लिए फेंक देते हैं। घर से मुर्दे को हटाने के बाद जिस प्रेत के उपद्रव से मृत्यु हुई थी, उसके भगाने का अनुष्ठान किया जाता है। पहले कीचड़ और पयाल से लगभग एक फ़ुट लम्बी एक सिंह की आकृति बनाई जाती है, जिसके जबड़े और दाँत जौ के आटे के बने होते हैं। उसकी गर्दन में एक रस्सी डाल दी जाती है, जो पाँच रंग के धागे की बनी होती है। सिंह के ऊपर मनुष्य की एक मूर्त्ति सवार करा दी जाती है। यह मूर्त्ति नर-भक्षक प्रेत की द्योतक होती है और जौ के आटे से बनाई जाती है। सिंह को ले चलने के लिए एक और मानव-मूर्त्ति बनाई जाती है, जिसके अंग-प्रत्यंग तो मनुष्य के-से होते हैं और सिर पक्षियों-जैसा। यह आकृति मिट्टी से बनती है और इसके हाथ में सिंह के गले में बँधी रस्सी का छोर रख दिया जाता है। सिंह को हाँकने के लिए बन्दर-जैसे सिरवाली एक और मूर्त्ति खड़ी कर दी

जाती है। ये सभी मूर्त्तियाँ एक तख्ते पर खड़ी कर दी जाती हैं, जिसमें उनके ले जाने में सुविधा हो। इसके बाद सभी उपस्थित व्यक्ति प्रेतों को वहाँ से भगाने के लिए हथियार ग्रहण करते हैं। तलवार, कटार, हँसिया, पत्थर, छुरी, ढेले, कंकड़, डंडे, जो भी हाथ आए, उन्हें लेकर वे खड़े हो जाते हैं। रात होने पर अनुष्ठान आरम्भ होता है। पहले लामा एक लम्बा-चौड़ा मन्त्र पढ़ता है और तब उपस्थित लोग खूब ज़ोर से चिल्लाते हैं—"भागो, भूत भागो!" वे अपने हथियारों को घुमाते हैं और कल्पित प्रेतों पर कंकड़-पत्थरों की बौछार करते हैं। पुरोहित द्वारा संकेत मिलने पर एक व्यक्ति, जो ज्योतिषी द्वारा पहले ही निर्दिष्ट कर दिया जाता है, उस तख्ते को, जिस पर सिंह आदि की मूर्त्तियाँ उपस्थित रहती हैं, उठाकर घर से कुछ दूर ले जाता है और एक चौराहे पर उसे रखता है। इसके बाद लामा जादू के मन्त्रों का उच्चारण करता है और तपे हुए पत्थरों के टुकड़ों को इधर-उधर फेंकने लगता है। दूसरे घरों में प्रेत न घुसने पाएँ, इसके लिए उसके चारों ओर जौ के आटे का घेरा डाल देते हैं।

अब केवल एक अनुष्ठान बाक़ी रह जाता है। जिस दिन मुर्दा घर से उठाया जाता है, उस दिन मृतक की एक प्रतिछवि उसके नाम के साथ काग़ज़ के एक टुकड़े पर अंकित की जाती है। उस काग़ज़ की पीठ पर जादू-टोना किया होता है। इस प्रतिमूर्त्ति को अंकित करने के पहले मृत देह को दफ़नाने के दिन से लेकर मृत्यु के उनचासवें दिन तक मृत व्यक्ति के खाने-पीने के लिए सब चीज़ें, जो उसको जीवित दशा में दी जाती थीं, बराबर दी जाती हैं। प्रति दिन उस प्रतिमूर्त्ति की एक नक़ल हूबहू तैयार की जाती है और उसकी असल को घी के चिराग़ की लौ में जला देते हैं। आख़िरी काग़ज़ के जल जाने पर आत्मा स्वर्ग में जाने के लिए मुक्त हो जाती है। जले हुए काग़ज़ की राख को मिट्टी के साथ मिलाकर छोटी-छोटी त्रिभुजाकार गोलियाँ तैयार की जाती हैं और उन्हें पर्वतों की गुफ़ाओं या उसी प्रकार के किसी बाहरी स्थान में रख देते हैं। सिर्फ़ एक गोली गृहदेवता की वेदी पर रखी जाती है। जिस समय मृत व्यक्ति की प्रतिकृतियाँ जलाई जाती हैं, ज्योतिषी ध्यानपूर्वक उनकी शिखाओं को देखता है और उनके रंग और धुएँ से गतात्मा के भाग्य का निर्णय करता है। यदि शिखा सफ़ेद और उज्ज्वल हुई तो आत्मा उच्चतम स्वर्ग में पहुँची हुई समझी जाती है; शिखा का रङ्ग लाल होने तथा उसके कमल-जैसी फैलती हुई होने पर यह समझा जाता है कि आत्मा ने पूर्ण आनन्द से युक्त स्वर्ग को प्राप्त कर लिया है। शिखा का रङ्ग पीला होने और उसके धुएँ से भरे होने पर यह समझा जाता है कि आत्मा किसी निम्न कोटि के प्राणी के रूप में फिर जन्म ग्रहण करेगी।

तिब्बत में 'पौनबो' या 'बौन' नाम का जो दूसरा धार्मिक सम्प्रदाय है, वह लाल-पीले वस्त्रोंवाले लामा-सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है। बौन-सम्प्रदाय के लोग काले वस्त्र धारण करते हैं। उनकी अनेक जातियाँ और वर्ग हैं और वे १८ मुख्य देवी-देवताओं को मानते हैं। उनमें सबसे अधिक प्रचलित और पूजनीय नृसिंह जैसा एक देवता होता है। बौन जातिवाले यात्रा के अवसर पर काले रंग के तम्बुओं में रहते हैं। वे अपने धर्म के कट्टर अनुयायी होते हैं तथा अपने देवताओं में से प्रत्येक को बड़ी श्रद्धा के साथ पूजते हैं। इनमें ख़ानाबदोश जातियों के लोग तलवार, बर्छी या बन्दूक़ से लैस रहते हैं। कहीं-कहीं तोड़ेदार बन्दूकें भी व्यवहार में लाई जाती हैं।

तिब्बत के प्रधान शासक दलाई लामा का अधिकार यद्यपि तिब्बत की सीमाओं तक ही है, तथापि तिब्बत के बाहर मंगोलिया के निवासियों द्वारा भी वह पृथ्वी पर बौद्ध धर्म के सबसे महान् पुरोहित के रूप में पूजा जाता है। एक दलाई लामा के मर जाने पर दूसरे का चुनाव विचित्र ढंग से होता है। उसके देहान्त के समय देश भर में जो भी बालक पैदा होते हैं उनकी तरह-तरह से परीक्षा की जाती है और जिस बालक में दलाई लामा के पद के योग्य सबसे अधिक लक्षण मिल जाते हैं, उसी को उस पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। १९३३ में पिछले दलाई लामा की मृत्यु हुई थी। खोजते-खोजते १९३९ में एक बालक मिला जो उस पद के योग्य माना गया। दलाई लामा नियुक्ति की स्वीकृति चीन की सरकार से प्राप्त की जाती है और हर साल लामा राजधानी से करस्वरूप बहुत-से मूल्यवान् उपहार भी चीन भेजे जाते हैं।

तिब्बत में बहुमूल्य रत्नों की खानें पाई जाती हैं, किन्तु लोग रत्नों को काटना और सुडौल बनाना नहीं जानते। देश का अधिकांश व्यापार चीनी लोगों के हाथ में है।

बद्दू

मरुभूमि के ख़ानाबदोश लुटेरे

अरबी भाषा में 'बद्दू' शब्द का अर्थ है 'मरुभूमि का मनुष्य'। उसकी प्राचीन जन्मभूमि अरब से सीरिया तक का प्रदेश माना जाता है। पर वह फैलते-फैलते इराक़ से मिस्र तक और अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी तट तक जा पहुँचा है। यही नहीं, वर्त्तमान युग में वह ईरान और तुर्किस्तान की ओर भी बढ़ आया है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आजकल बद्दुओं की कुल संख्या पाँच लाख से कम नहीं है। अकेले अरब में ही उनकी संख्या एक लाख के लगभग है। इराक़, फ़िलिस्तीन और सीरिया में भी वे लोग ख़ूब फैले हुए हैं। मनुष्य-गणना में इन ख़ानाबदोशों को शामिल करने का प्रयत्न वास्तव में बहुत कठिन होता है और इसीलिए इनकी संख्या का ठीक-ठीक पता नहीं लग पाता। जो लोग मनुष्य-गणना करने के लिए बद्दुओं के पास भेजे गए, उन्हें टैक्स लगानेवाला समझकर बद्दुओं ने उनका विश्वास नहीं किया और चूँकि ये किसी सरकार के अधीन अपने को नहीं मानते, इसलिए इन्होंने अपनी संख्या बतलाना अस्वीकार कर दिया।

ऊँची श्रेणी के बद्दू बस्ती बनाकर भी रहते हैं। ऐसी प्रत्येक बस्ती का एक सरदार या शेख़ होता है जो उस पर शासन करता है। इन्हीं में मरुभूमि के जीवन का वास्तविक रोमांचक रूप देखने को मिलता है। उनके पास बड़े-बड़े सजे हुए ख़ीमे और तम्बू रहते हैं। शेख़ बड़े क़ीमती और बढ़िया कपड़े पहनता है और उसके अधीन जातिवाले भड़कीले धारीदार वस्त्र धारण करते हैं, जो उनके वीर वेश के अनुकूल होते हैं। बद्दुओं की जातीय पोशाक ऊँट के बालों का बुना हुआ, काली और सफ़ेद धारियों का 'अबा' नामक एक लम्बा चोग़ा होता है, जिसके नीचे ख़ूब चुस्त रेशमी या सूती कमीज़ पहनी जाती है। ऊपर से कमर में चमड़े की एक चौड़ी पेटी या रंगीन फेंटा बाँधा जाता है, जिसमें एक पिस्तौल या कटार लगाई जा सकती है।

अरब के रेतीले मैदानों में निरंतर भटकते रहनेवाले बद्दू

रेगिस्तानी ख़ानाबदोश बद्दुओं में सिर पर एक गहरे रंग का धारीदार रेशमी या सूती बड़ा रूमाल बाँधने का चलन है। यह रूमाल सिर पर पलटकर बाँधा जाता है और उसके दो सिरे दायें-बायें कन्धों तक लटकते रहते हैं। इस रूमाल के ऊपर ऊँट के बालों को बटकर बनाई हुई मोटी रस्सी की पगड़ी-सी पहनी जाती है, जो रूमाल को नीचे खिसकने नहीं देती। प्रायः धूप से आँखों को बचाने के लिए इस रूमाल का छोर आगे खींच लिया जाता है।

ऊँची और धनी जातियों की बद्दू स्त्रियाँ रंगीन और भड़कीले वस्त्र पहना करती हैं। लाल, नीले या पीले रंग का रूमाल उन लोगों में सिर ढकने के काम आता

है। वे धारीदार और आकर्षक ढंग का एक लम्बा चोग़ा पहनती हैं, जिसके ऊपर वे बड़ी सुन्दर पतली करधनी बाँधती हैं। पर रेगिस्तान में भटकनेवालों को यह सब नसीब नहीं होता। उन स्त्रियों के वस्त्र पुरुषों की अपेक्षा बहुत साधारण होते हैं। अरब की सभ्य औरतों की भाँति वे मुँह पर नक़ाब नहीं डालतीं। किसी अजनबी के सामने पड़ने पर वे अपनी लम्बी चादर के छोर से मुँह का निचला भाग ढँक लेना ही पर्याप्त समझती हैं। उन्हें कानों की बालियों और छोटे-मोटे आभूषण पहनने का बड़ा शौक़ होता है। यदि सम्भव होता है तो वे हाथों और पैरों में चाँदी के कड़े भी पहनना पसंद करती हैं। प्रायः वे अपने सिर पर बाँधने के रूमाल में तावीज़ भी पहनती हैं, जो आबदार पारदर्शी पत्थर के टुकड़े को पोत के दानों में सजाकर बनाया जाता है। उनका विश्वास है कि तावीज़ पहनने से किसी की नज़र नहीं लगती। बद्दू स्त्रियों का रंग गेहुआँ और आँखें काली, चमकीली व आकर्षक होती हैं। युवावस्था में उनका सौन्दर्य प्रशंसनीय होता है, किन्तु वे बहुत थोड़ी आयु में ही वृद्धा हो जाती हैं। इसका कारण उनका कठोर और परिश्रमी जीवन ही होता है।

बद्दू जाति के पुरुष गृहस्थी का सारा भार अपनी स्त्रियों पर ही छोड़े रहते हैं। वे ओखली में अनाज कूटतीं, हाथ की चक्की से उसे पीसतीं, और रोटी पकाती हैं। वे ही दही जमाकर उससे अपनी विशेष पद्धति से मक्खन निकालती हैं, कुएँ पर जाकर पानी भर लाती हैं, चरखा काततीं, कपड़े बुनतीं और ख़ीमों की मरम्मत करती हैं। किसी पड़ाव से कूच करने पर स्त्रियाँ ही तम्बुओं को लपेटती और सामान बाँधती हैं। बाज़ार-हाट जाते समय वे छोटे बच्चों को पीठ पर बाँध लेती हैं। उनके बच्चे बड़े हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होते हैं, पर कुछ बड़े होने पर उनकी आँखें कमज़ोर हो जाती हैं। सूर्य की तेज़ धूप और उड़ती हुई बालू के कण बराबर आँखों में पड़ते रहने के कारण बद्दू जातिवालों की दृष्टि शीघ्र ही दूषित हो जाती है और कभी-कभी बिल्कुल ही जाती रहती है। उनमें अंधों की संख्या बहुत अधिक होने का यही कारण है।

मरुभूमि का निवासी बद्दू कभी भी एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता। वह बराबर चलता-फिरता ही दिखाई देता है। आज यहाँ तो कल वहाँ और अगले दिन कोसों दूर आप उसे पायेंगे। इस प्रकार वह लगातार ख़ानाबदोशी का जीवन व्यतीत करता है। क़द में वह साधारण औसत से भी कम होता है और शरीर से दुबला-पतला तथा क्षीण दिखाई देता है। उसके पहनने के वस्त्र मोटे होते हैं, और रहने का तम्बू भी बहुत साधारण होता है। उसकी सवारी के घोड़े और ऊँट भी ख़ुराक कम मिलने के कारण अधिकतर दुबले-पतले ही होते हैं और उनसे वह बुरी तरह काम लेता है। कभी-कभी उसके पालतू पशुओं में दो-चार बकरियाँ भी शामिल होती हैं, जिनके तन पर मांस के बजाय केवल हड्डियों का ढाँचा और खाल ही दिखाई पड़ती है! ऊँट उसके बड़े काम का जानवर है, फिर भी उसके साथ वह निर्दयता का व्यवहार करता है। बोझा लादने और उतारने के समय ऊँट को बिठाने के लिए वह उसकी टाँगों के जोड़ों पर डंडा मारता है।

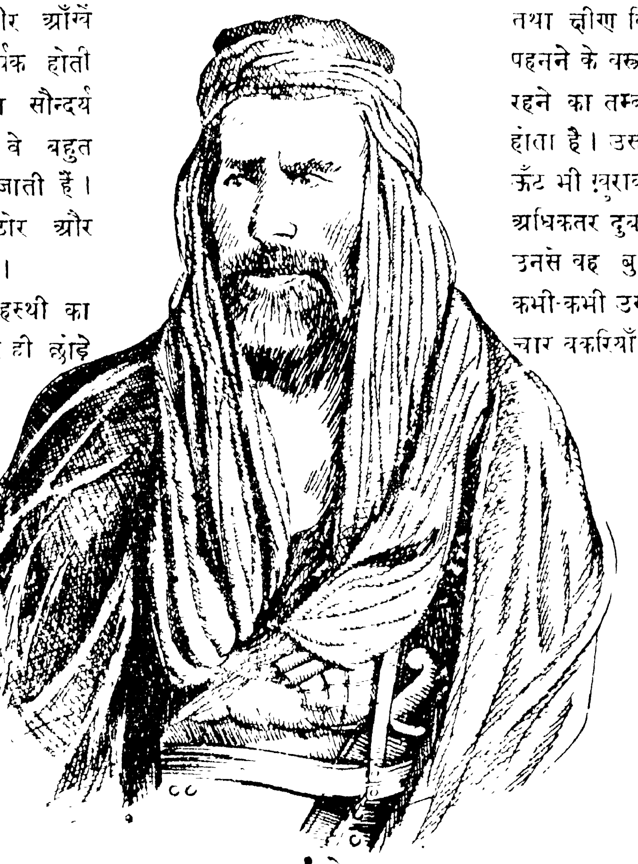

एक बद्दू शेख़

रास्ते में विश्राम के समय और थकान उतारने के अवसर पर भी बेचारे ऊँट की पीठ से बोझ नहीं उतारा जाता और उसे उसी दशा में खड़े-ही-खड़े खाना दिया जाता है। इस निष्ठुर व्यवहार के बावजूद यह जानवर अपने स्वामी की बड़ी सेवा करता और सब कष्ट उठाता रहता है। कोसों तक जलती हुई बालू में बिना पानी पिए वह बेधड़क चलता रहता है और मरुभूमि में उगनेवाली काँटेदार भाड़ियों को ही खाकर अपनी भूख मिटा लेता है। ऊँट की आँखों की पलकें बड़ी होती हैं, जिससे आँधी आने पर वह अपनी आँखें भली भाँति ढक लेता है। उस समय वह नाक के नथुने भी संकुचित कर लेता है, जिसमें बालू के कण उड़कर उनमें प्रवेश न कर सकें। मरुभूमि की आँधियाँ खानाबदोश बद्दुओं के जीवन में बड़ी भयानक समझी जाती हैं। आँधी आते ही उसकी ओर पीठ करके ऊँट घुटनों के बल बैठ जाते हैं और यात्री अपने तम्बुओं या किसी दूसरी सुरक्षित जगह में पनाह लेते हैं। आँधी के साथ उड़ते हुए बालू के कणों से बचाव करना बड़ा कठिन होता है। पर बद्दुओं के शरीर की चमड़ी उसकी अभ्यस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त जो लम्बे चोग़े वे पहनते हैं, उनसे भी काफ़ी बचाव हो जाता है। यदि किसी अन्य देशवाले को वैसी मरुभूमि की आँधी का सामना करना पड़े तो अवश्य ही उसके हाथ-पैर और चेहरे पर जगह-जगह घाव हो जायँ और रक्त बहने लगे।

आदि काल से ही बद्दू लोग गड़रिए का काम करते आए हैं और मवेशी पालना उनका पेशा रहा है। अपने ढोरों के लिए चराई का स्थान खोजने के अभिप्रायः से ही वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए सदा बाध्य होते आए हैं। मरुभूमि में फिरते हुए जहाँ-कहीं थोड़ी हरियाली और पानी के कुएँ वे देखते हैं, वहीं अपने तम्बू गाड़ देते हैं और जब तक उनके ढोरों को चारा और पानी मिलता रहता है, वे वहीं पड़े रहते हैं। चारे और पानी का अभाव होने पर वे फिर वहाँ से कूच कर जाते हैं और दूसरा पड़ाव खोजते हैं। परन्तु इस प्रकार के शान्तिप्रिय ढंग से जीवन-निर्वाह करते हुए बद्दुओं को सन्तोष नहीं होता। वे अपने कठोर जीवन के घोर संघर्ष के कारण मरुभूमि के डाकू और लुटेरे बन गए हैं। बद्दुओं का नाम सुनते ही मरुभूमि के यात्रियों और काफ़िलेवालों की जान सूखने लगती है, उनका ऐसा आतंक वहाँ छाया हुआ है। काफ़िलों को लूटने में बद्दुओं को बड़ा आनन्द आता है। वे राइफ़लें, बर्छे और तलवारें लेकर उन पर टूट पड़ते और यात्रियों को मार-पीटकर बात-की-बात में उनका माल-असबाब लूट ले जाते हैं। इसीलिए मरुभूमि के यात्री और काफ़िले-वाले सौदागर टोलियाँ बनाकर तथा अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर उस प्रदेश में यात्रा करते हैं। फिर भी बद्दुओं का भय उन्हें सदा बना ही रहता है। और सच पूछा जाय तो बद्दू वास्तव ही में ऐसा शत्रु है कि जिससे डरना स्वाभाविक है। वह अपने क़ैदियों से बड़ी बेरहमी से पेश आता है और उनकी स्वतंत्रता की जो क़ीमत वह वसूल करता है वह बड़ी लम्बी रक़म होती है। अरब लोगों में एक कहावत चली आती है जिसका आशय है—'बद्दू को मेहमान बनाना चोर को घर दिखाना है।' बद्दुओं के गरोह ऐसे ख़ूँख़ार, शक्तिशाली और लड़ाके होते हैं कि वे हज के लिए मक्का जानेवाले यात्रियों से भी कर वसूल कर लेते हैं। बद्दुओं का कहना है कि जिस भाँति दूसरे देशों में शासक और राज्याधिकारी लोग चुंगी और टैक्स लेते हैं उसी भाँति हम भी काफ़िलेवाले सौदागरों और मरुभूमि के यात्रियों को लूटकर अपना हक़ वसूल करते हैं। उनका वक्तव्य है कि मरुभूमि हमारा देश है। अगर तुम्हें इधर से यात्रा करना है तो हमारा हक़ हमें दो। यदि कोई मुसाफ़िर या सौदागर किसी शक्तिशाली फ़िर्क़े के सर्दार का दस्तख़ती परवाना दिखलाए तब प्रायः बद्दू लोग उसे नहीं छेड़ते और सकुशल जाने देते हैं। इस प्रकार का परवाना या आज्ञापत्र किसी प्रमुख शेख़ या सर्दार से ख़रीद लिया जाता है जो यात्रियों के साथ अपने कुछ अनुचरों को भेज देता है। हाँ, इधर कुछ वर्षों से अरब में इब्न साऊद के शासनतंत्र की प्रस्थापना के बाद इस प्रकार की यात्राएँ अब अधिक सुरक्षित हो गई हैं।

परन्तु बद्दुओं में इस अराजकता के साथ-साथ अतिथि-सत्कार के नियमों की भी बड़ी कड़ी पाबन्दी है और वे घर आए हुए मेहमान का स्वागत-सत्कार करना अपना परम धर्म समझते हैं। यदि कोई अजनबी उनका नमक खा ले तो फिर उसे वे कभी नहीं सताते।

आइए, अब लुटेरे बद्दुओं की कहानी का ताँता यहीं छोड़कर हम आपको धनी बद्दुओं के एक ख़ीमे की भी सैर करा लाएँ। मरुभूमि के बीच में एक छोटा-सा हराभरा नख़लिस्तान है, जिसमें एक ख़ीमा लगा हुआ है। ख़ीमे के बाहर एक छोटा-सा अहाता झाड़ियों की दीवार से घेर दिया गया है। इसी अहाते में एक तरफ़ आग जल रही है, जिससे ख़ीमे के अन्दर भी हल्की-सी रोशनी जा रही है, क्योंकि ख़ीमे का द्वार उसी ओर को है। आग पर पानी खौलाया जा रहा है। कुछ स्त्रियाँ काम में व्यस्त-सी इधर-उधर आ-जा रही हैं, जो सम्भवतः भोजन बनाने की तैयारी में लगी होंगी। अहाते के दूसरी ओर बैठे हुए ऊँटों की परछाइयाँ दिखाई दे रही हैं। थोड़ा समय और बीतता है। लीजिए, भोजन तैयार हो गया। ख़ीमे के अन्दर चटाइयाँ बिछी हुई हैं, जिन पर सब लोग बैठे हुए हैं। खाना परोसा जाता है। गोश्त, आटा और गरम तेल एक में मिलाकर यह पकवान बनाया गया है। भरा हुआ कटोरा जब एक के सामने लाया जाता है तो वह इच्छानुसार उसमें से लेकर अपने पास बैठे दूसरे व्यक्ति को कटोरा दे देता है। यही क्रम चलता रहता है, जब तक सबके सामने खाना नहीं आ जाता। अब पानी की बारी आती है। मिट्टी की एक बड़ी सुराही जिसमें पानी भरा हुआ है, इसी भाँति प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में आती और चली जाती है। कुछ लोग सफ़ाई के ख़याल से अपने चोग़े के एक छोर से सुराही का मुँह ढँककर छना हुआ पानी पीते हैं, कुछ योंही गट-गट करके पी जाते हैं। चावल इनका मुख्य भोजन है। खजूर और कुछ मिठाइयाँ भी दस्तरख़्वान पर दिखाई देती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मेज़बान कोई समृद्धिशाली सरदार है। भोज चल रहा है। मेज़बान के अनुचरों या मित्रों में से एक व्यक्ति बाँसुरी बजाने में उस्ताद है। वह अपनी बाँसुरी उठाकर एक सुरीली तान छेड़ता है। सब लोग 'वाह-वाह' कर उठते हैं। भोज का आनन्द दुगुना हो जाता है। उस रोज़ का ख़ास मेहमान अपने मेज़बान से बातचीत करने की कोशिश करता है, क्योंकि वह परदेशी है। अचानक ख़ीमे के बीच में पड़े हुए परदे के पीछे से, जहाँ स्त्रियाँ हैं, धीमी हँसी सुनाई देती है। बीच-बीच में परदे के छेदों से

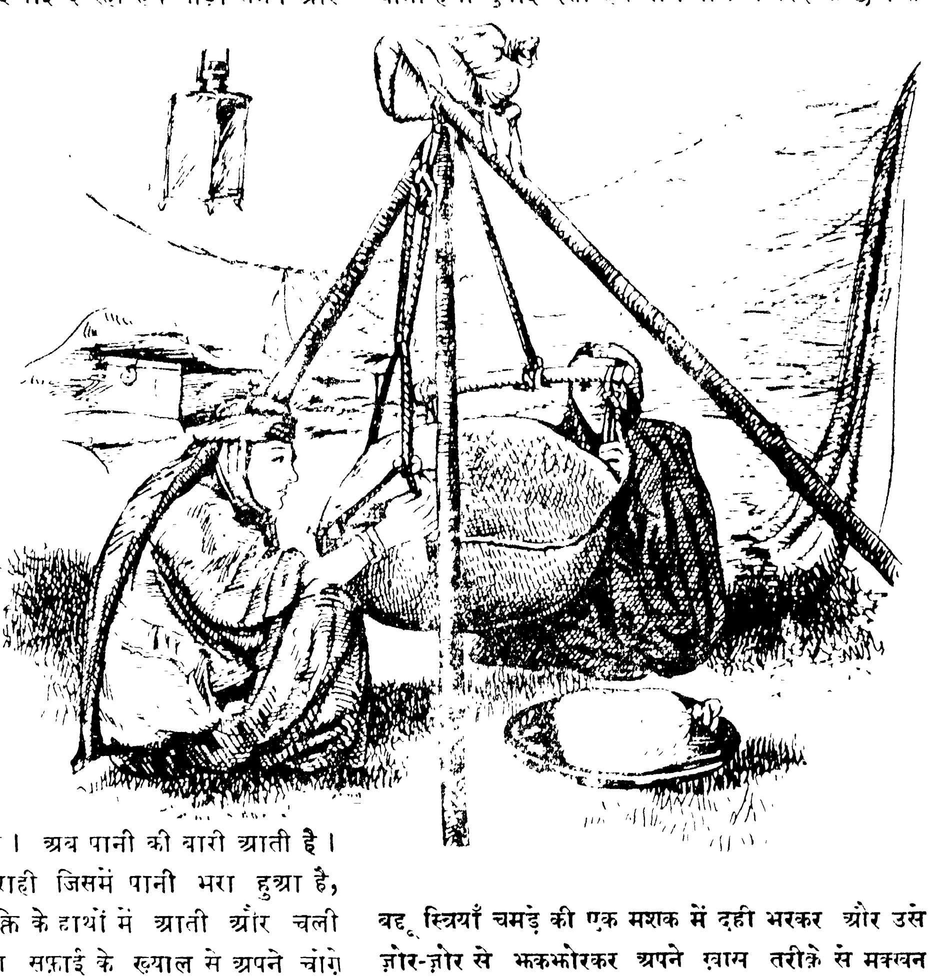

बद्दू स्त्रियाँ चमड़े की एक मशक में दही भरकर और उसे ज़ोर-ज़ोर से झकझोरकर अपने ख़ास तरीक़े से मक्खन निकाल रही हैं।

परदेशी मेहमान को देखने में प्रयत्नशील कुछ आँखें चमक उठती हैं। भोज समाप्त होने पर हुक्का सुलगता है और सिगरेटें वितरित होती हैं। इतने में क़हवा तैयार होकर आता है, जो मित्रता का विशेष सूचक है। क़हवा बिल्कुल ताज़ा है और उसमें ख़ूब शकर पड़ी हुई है। उसमें गुलाब-जल की सुगन्धि भी आ रही है। सब लोग क़हवा पीते हैं। इसके बाद एक बर्त्तन में दहकते हुए अंगारे लाये जाते हैं, जिन पर धूप, अगर, और लोबान वग़ैरह सुगन्धित पदार्थ छोड़े जाते हैं। सारा ख़ीमा ख़ुशबू से भर जाता है। हर एक व्यक्ति उस बर्त्तन को लेकर उसे बड़े चाव से सूँघता है। दिमाग़ तर हो उठता है। फिर मज़ेदार गप और क़िस्से शुरू होते हैं। इस तरह साँझ हँसी-ख़ुशी में व्यतीत हो जाती है। सब मेहमान उठ खड़े होते हैं और दुआ-सलाम के बाद विदा होते हैं। ख़ीमे की फ़र्श पर मोटे-मोटे कम्बल बिछा दिए जाते हैं और मेज़बान तथा उसके परिवार के लोग चुपचाप सो जाते हैं। नींद उन्हें अपनी गोद में छिपा लेती है, मगर अहाते के बाहर थोड़ी दूर पर कुछ काली परछाइयाँ टहलती हुई दिखाई देती हैं। वे हैं पहरा देनेवाले बद्दू सिपाही, जो रात भर जागकर अपने मालिक के जान-माल की हिफ़ाज़त करते हैं!

जिप्सी

दुनिया के मशहूर आवारे

इस भूमण्डल के सभी देशों में—सभ्यता की सीमा पर पहुँचे हुए विख्यात नगरों से लेकर जंगली जातियों की आदिम बस्तियों तक प्रायः जहाँ भी मानव जाति का निवास है—गाड़ियों, घोड़ों और ऊँटों पर सवार तथा पैदल चलनेवाली अनेक ख़ानाबदोश जातियों के छोटे-छोटे क़ाफ़िले प्रायः दिखाई दे जाते हैं, किन्तु उनमें से सभी जिप्सी जाति के लोग नहीं कहे जा सकते। असली जिप्सी तो एशिया, योरप और उत्तरी अफ्रीका में ही अधिकतर घूमते पाए जाते हैं। कहते हैं, ये लोग दरअसल भारत-वर्ष के निवासी थे, जहाँ से चलकर वे धीरे-धीरे बालकन प्रदेशों में पहुँचे और कई शताब्दियों के बाद क्रमशः योरप के पश्चिमी देशों में फैल गए। यहाँ आकर वे 'जिप्सी' कहे जाने लगे, क्योंकि उस समय लोगों की धारणा थी कि ये "इजिप्शियन" या मिस्र देश के निवासी हैं। इस प्रकार जिप्सी शब्द केवल "इजिप्शियन" नाम का अपभ्रंश है। इंगलैंड के कतिपय लेखकों ने तो अपनी पुस्तकों में जिप्सियों को "इजिप्शियन" के नाम से भी सम्बोधित किया है। परन्तु सच पूछा जाय तो जिप्सी लोगों का "इजिप्ट" या मिस्र देश से कोई संबंध नहीं रहा है। वे मूलतः भारत के हैं, जहाँ से चलने पर समयान्तर से उनकी जातियों में अन्य ख़ानाबदोश जातियाँ भी मिलती गईं और इस प्रकार उनकी संख्या बढ़ने पर वे संसार के सभी देशों में धीरे-धीरे फैलते गए। उनकी भाषा में अभी तक संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों का विकृत रूप व्यवहृत होता है, जिससे उनका भारतीय होना निर्विवाद रूप से सिद्ध है। वे अपने देवता को "देवला" कहते हैं, जो संस्कृत के "देव", हिन्दी के "देवता" या मराठी के "देवा" का ही एक रूपान्तर ज्ञात होता है। प्राकृत के शब्द उनकी बोली में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं। यह सच है कि जिन-जिन देशों में वे फिरते रहे हैं, वहाँ की भाषाओं का उनकी बोली पर समयानुकूल प्रभाव पड़ता गया है। इसीलिए लोगों की यह धारणा हो गई है कि जिप्सियों की अपनी कोई मूल भाषा नहीं है, वह विविध बोलियों की खिचड़ी-मात्र है। जो भी देश उनको रुचिकर प्रतीत होता गया, वहीं वे बसते गए और वहीं की बोली को बहुत-कुछ अपनाते गए। इस प्रकार उनकी बोलचाल में भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं के शब्दों का स्वाभाविक समावेश होता गया।

शारीरिक दृष्टि से भी जिप्सी लोग, जिनका रक्त शुद्ध हो, पूर्वीय देशवासी ज्ञात होते हैं। उनकी चमकदार काली आँखें, अंडाकार चेहरा, काले केश, गेहुँआ रंग, श्वेत चमकीले दाँत, छोटे हाथ-पैर और सुन्दर आकृति

सभी उनकी इस विशेषता के द्योतक हैं। जहाँ-कहीं भी जिप्सी लोग पाए जाते हैं, वहीं उनको अपरिचित, विदेशी और निर्वासित जातिवाले समझकर उस देश विशेष के राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन में उनका प्रवेश निषिद्ध समझा जाता है। उनके स्वभाव की विचित्र उच्छृंखलता के कारण ही सब उन्हें हेय समझते हैं। जिप्सी एक अस्थायी, भ्रमणशील, स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करनेवाली जाति है और अपनी चोरी करने की आदत छोड़ना उसके लिए नितान्त असम्भव हो गया है, जिसके कारण सभी देशों के लोग उससे सम्पर्क रखते हुए घबराते हैं। फिर भी अपनी भड़कीली रंगबिरंगी पोशाक, आकर्षक आकृति, विचित्र सौन्दर्य, रहस्यमय जीवन और संगीतप्रियता के कारण वे मानव-स्वभाव की भावुकता को जाग्रत करने में समर्थ होते हैं। साधारण मनुष्य उन्हें जीवन की चिन्ताओं और उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त तथा पक्षियों की भाँति स्वच्छन्द विचरण करते हुए देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगता है। सम्भव है कि लोगों की पहले की दूषित धारणाएँ उनसे भयभीत होने के कारण ही उत्पन्न हुई हों। बचपन ही से ऐसी बेसिर-पैर की अनेक कहानियाँ जिप्सियों के बारे में सुनने को मिलती हैं, जिनमें बतलाया जाता है कि वे छोटे बच्चों को चुरा ले जाते हैं तथा उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। किन्तु बड़ा होने पर प्रायः कई लोग विचार करते हैं कि क्या ही अच्छा हो यदि हमें भी उन्हीं की तरह खुली हवा और मैदान में रहने को मिले—उन्हीं की तरह हम भी स्वच्छन्दता से विचरण कर सकें, हरे-भरे जंगल में आग के ऊपर तीन डंडों के सहारे लटकते हुए वर्त्तन में पका हुआ स्वादिष्ट भोजन हमें भी मिले, और संगीत की मधुर धारा में बहते हुए हम भी कल की चिंता छोड़ आज का दिन नैसर्गिक शोभा देखते हुए व्यतीत कर सकें। जिप्सी लोगों की यही निश्चिन्तता और स्वच्छन्द जीवनधारा उनके आन्तरिक संतोष का कारण है। उनकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ साधारणतया सीमित होती हैं और आनन्द मनाना ही उनका मुख्य ध्येय होता है। परन्तु सच पूछा जाय तो अपने इसी संतोष के कारण जिप्सी जाति संसार में सभ्यता में पिछड़ी हुई दिखाई देती है।

चौदहवीं शताब्दी में जिप्सी यूनान में रहा करते थे, किन्तु ठीक सौ वर्ष बाद सबसे पहले उनका एक बहुत बड़ा गरोह पश्चिमी योरप की ओर बढ़ता हुआ दिखाई दिया। कुछ दिनों में उस गरोह के दो भाग हो गए, जिनमें से प्रत्येक एक भिन्न दिशा की ओर चल पड़ा। थोड़े वर्षों के उपरान्त उनके अन्य कई छोटे-बड़े गरोह भी पूर्वगामी लोगों का अनुसरण करते दिखाई दिए और इस प्रकार धीरे-धीरे उनका विस्तार होता चला गया। इन्हीं दिनों जिप्सियों के विषय में अनेक प्रकार की विचित्र कथाएँ प्रचलित हो गईं। ऐसी कथाओं में से एक में बतलाया गया है कि जिस समय महात्मा ईसा शैशव काल में अपनी माता के साथ मिस्र गए हुए थे, उस समय जिप्सियों के पूर्वजों के किसी एक परिवार ने उनको शरण देने से इन्कार कर दिया था जिसके कारण माता-पुत्र दोनों ने उनको यह शाप दे दिया था कि तुम्हारे वंशज इस पाप का प्रायश्चित्त करते हुए संसार भर में घूमते फिरेंगे और कहीं भी स्थायी

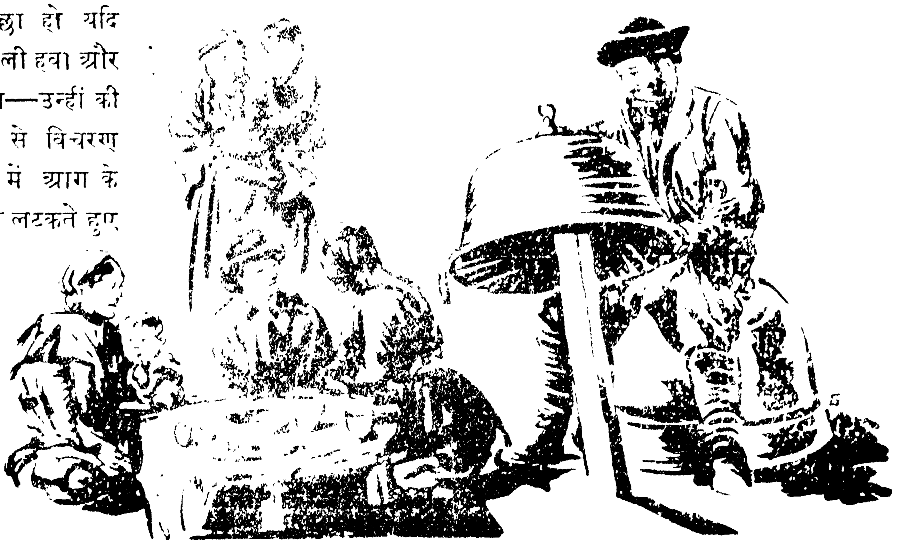

एक हंगेरियन जिप्सी ठठेरा और उसका परिवार

रूप में न रह सकेंगे। यह कहानी स्वयं जिप्सियों ने प्रचलित नहीं की, परन्तु इसके कारण उन्होंने अनुभव किया कि वे लोगों के कौतूहल का लक्ष्य बन सकते हैं, अतएव उन्होंने इस कहानी को प्रोत्साहन देकर इसके द्वारा लाभ उठाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे वे इसकी सत्यता में विश्वास भी करने लगे। परन्तु अपने भ्रमणशील जीवन में उन्होंने प्रायश्चित्त करनेवाले यात्रियों-जैसा व्यवहार नहीं रखा और न अपनी रहन-सहन में ही उन्होंने पश्चात्ताप की भावना आने दी। उनकी स्त्रियाँ विशेष प्रकार की हस्तलाघवता द्वारा छोटी-मोटी वस्तुएँ उड़ा ले जाने में बड़ी निपुण होती थीं। वे किसानों के पालतू सुअरों को एक अजीब तरह का विष खिला देती थीं, जिससे वे पागल होकर मर जाते थे, साथ ही उनका मांस भी खराब नहीं होने पाता था। किसान लोग इन मरे हुए सुअरों को बेकार समझकर त्याग देते थे और इस कारण वे स्त्रियाँ बड़ी आसानी से उनको माँग लाती थीं। इस प्रकार उनके परिवार का पालन होता रहता और उनको कभी भी भोजन का अभाव नहीं रहता था। जिप्सी स्त्रियाँ शुरू से ही भविष्य-वक्ताओं और ज्योतिषियों का भी कार्य्य करती आई हैं और पुरुष प्रायः सुनार, लोहार, मछुए, घोड़े के व्यापारी और गायक होते आए हैं। पूर्वकालीन युग में वे डाकू और लुटेरे भी होते थे और आजकल भी वे कहीं-कहीं चोर-उठाईगीरों का काम करते पाए जाते हैं। धातुओं का काम, मुख्यतः लोहा, टीन और पीतल का सामान बनाने में भ्रमणशील जिप्सी लोग ग्रामीण किसानों आदि के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। वे घोड़ों की नालें जड़ते, केतलियाँ, बर्त्तन तथा अन्य दैनिक व्यवहार में आनेवाली घरेलू वस्तुएँ तैयार करते तथा आवश्यकता पड़ने पर जड़ी-बूटियों द्वारा रोगनिवारण करने की विचित्र औषधियाँ भी बनाया करते हैं। लोहार आदि का पेशा करने के कारण उनकी उत्पत्ति के विषय में बहुत-सी अन्धविश्वास की भावनाओं का भी प्रचार हो गया है। एक किम्वदन्ती है कि किसी जिप्सी ने महात्मा ईसा को सूली चढ़ाते समय प्रयुक्त होनेवाली लोहे की कीलें बनाकर दी थीं तभी से जिप्सियों को अभिशाप लग गया, जिसके कारण वे सदा के लिए खानाबदोश हो गए। इतना ही नहीं, उस आदिम जिप्सी लोहार ने बाद में उन कीलों में से एक चुरा भी ली थी जिसके फलस्वरूप ईश्वर ने उसके वंशजों को आज्ञा दे दी कि आवश्यकता पड़ने पर वे चोरी भी कर सकते हैं! यह एक कौतूहल की बात है कि जिप्सी जब से पहलेपहल योरप में दिखाई दिए तभी से सूली चढ़े हुए महात्मा ईसा के सभी चित्रों में केवल तीन ही कीलें चित्रित की जाने लगीं।

इंगलैंड के जिप्सी अपनी जाति को 'रोमनी' कहते हैं—वे अपने को जिप्सी कभी नहीं बतलाते। जिन देशों में वे 'रोमनी' नहीं कहलाते, वहाँ उन्होंने अपना नाम 'ज़िंगारी' रख लिया है, जो जर्मन भाषा के 'ज़िगेनर' का अपभ्रंश है। हम पहले लिख आए हैं कि जिप्सी लोगों की बोली में सभी भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। किन्तु उसमें लगभग दो हज़ार मूल शब्द ऐसे हैं जो साधारणतया स्थायी रूप से प्रयोग में आते हैं और वे भारतीय भाषाओं के प्रतीत होते हैं। संसार की सभी जिप्सी जातियों की बोलियों में ये शब्द समान रूप से प्रचलित पाए जाते हैं। जिप्सी अपनी जाति में पुरुष को 'रोमनी चाल' और स्त्री को 'रोमनी ची' कहते हैं। जो व्यक्ति जिप्सी रक्त का नहीं होता उसे वे 'गाज़ियो' कहते हैं। आपस की बातचीत में जिस प्रकार हम 'भाई' और 'बहन' शब्दों का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार जिप्सी 'पाल' और 'पेन' कहते हैं। प्रत्येक सम्भ्रान्त पुरुष को 'राय' और सम्भ्रान्त महिला को 'रानी' कहा जाता है। जिप्सी स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा विशेष चतुर होती हैं और जिन-जिन देशों की वे यात्रा करती हैं, उनके राज-परिवारों में भी सरलता से घुस-पैठ पैदा कर लेती हैं। इसका कारण उनका भाग्य देखना और ज्योतिषियों का पेशा मात्र होता है, जिसे वे 'डकरिंग' कहती हैं। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि जिप्सी स्त्रियों की प्रगति यहाँ तक सीमित न रहकर ऊँचे घराने की दयालु महिलाओं को अच्छी तरह ठगने की भी रही है। जिन स्त्रियों ने उनकी बातों में आकर उनका विश्वास किया उन्हीं को जिप्सी स्त्रियों की चालाकी का शिकार बनना पड़ा। उदाहरणार्थ एक जिप्सी स्त्री ने एक रईस घराने की महिला को बतलाया कि मेरे हाथ पर थोड़ी सोने की गिन्नियाँ रख दो और फिर उनको एक पोटली में बाँधकर अपने बिछौने के गद्दे में उस पोटली को एक साल तक छिपाकर सुरक्षित

रखी रहो तो साल भर के बाद वे गिन्नियाँ चौगुनी हो जायँगी। कहने की बात नहीं कि उस भद्र महिला ने लालच में पड़कर वैसा ही किया, परन्तु एक साल पूरा होने के बाद जब बड़ी उत्सुकता से उसने पोटली खोली तो उसमें गिन्नियों के बजाय ताँबे के अधेले और पाइयों ही निकलीं! तब तक वह जिप्सी औरत चम्पत हो गई थी।

यद्यपि जिप्सियों का अपना कोई विशेष धर्म नहीं होता, फिर भी उनके कुछ संस्कार और सिद्धान्त ऐसे मिलते हैं, जिनके कारण उनको एकदम बर्बर और असभ्य नहीं कहा जा सकता। अपना भ्रमणशील जीवन आरंभ करने के पहले वे संभवतः हिन्दू-धर्मावलम्बी थे। ईसाइयों के क्रूस (Cross) को वे 'त्रिसूल' कहते हैं, जो भगवान् शिव के शस्त्र का नाम है। उनका जो भी कुछ धर्म रहा हो, उसे समय के प्रवाह में पड़कर बहुत दिन पहले ही उन्होंने भुला दिया। मुसलमानी देशों में वे अपने को मुसलमान और ईसाई देशों में ईसाई कहने लगे। वे अपने बच्चों को कई बार बपतिस्मा दिलवाते हैं और इसे वे एक प्रकार का टोना मानते हैं। अधिकतर जिप्सी स्वरूपवान और सुन्दर होते हैं, किन्तु उनमें स्त्रियाँ प्रायः प्रौढ़ावस्था को पहुँचते-पहुँचते कुरूप हो जाती हैं, यद्यपि उनकी आँखें बुढ़ापे में भी आकर्षक बनी रहती हैं। स्त्रियाँ अपना शृंगार करने में बड़ी कुशल होती हैं। नर्त्तकियों के रूप में वे मुसलमानी देशों में रईसों के हरम में भी दाखिल हो चुकी हैं और बहुत-से मुसलमान सरदारों और पाशा लोगों ने उनसे विवाह कर उन्हें अपने घरों में बिठा लिया है। अरब और ईरान के बाज़ारों में अक्सर भड़कीली पोशाकें पहने हुए वे एक दरी के टुकड़े पर नाचती हुई दिखाई देती हैं और मनचले नवयुवकों को अपने रूप-जाल में फँसाया करती हैं। संगीत और नृत्य में निपुणता प्राप्त करके वे खूब पैसा कमाती हैं और उनका यह पेशा सभी देशों में चलता रहता है।

जिप्सी युवक-युवती

जिप्सी प्रायः काफ़िले बनाकर चलते हैं और अपनी गृहस्थी का सारा साज-सामान अपने साथ रखते हैं। वे वर्गाकार छोटे तम्बुओं में रहते हैं, जिनकी बनावट बड़ी सादी रहती है। लम्बे डंडों की दो समानान्तर क़तारें खड़ी करके उनके सिरों को झुकाकर वे एक-दूसरे से बाँध देते हैं, जिससे एक पिरामिड-जैसी छत बन जाती है। उसके चारों ओर भूरे मटमैले पुराने कपड़े लपेट दिए जाते हैं, जिनके ऊपरी सिरे एक गाँठ द्वारा बँधे रहते हैं। तब ज़मीन में खूँटे गाड़कर इन कपड़ों के नीचे के सिरे उनमें लपेट दिए जाते हैं। बहुधा कुछ इंच ऊँची मिट्टी की मेंड़ भी तम्बू के चारों ओर खड़ी कर दी जाती है, जिसमें वर्षा से बचाव रहे, अथवा इर्द-गिर्द एक छिछली खाई-जैसी खोद देते हैं। बस, इतने से ही जिप्सियों का तम्बू तैयार हो जाता है। जिप्सी लोग पालथी के आसन से बैठकर भोजन करते हैं, उन्हें कुर्सी-मेज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती। रात को सोने के लिए वे एक मोटा गद्दा बिछा लेते हैं और उसे दिन में लपेटकर कपड़े से ढक देते हैं, जिससे वह बैठने के लिए मसनद या तकिए का काम देता है। प्रत्येक जिप्सी-परिवार में एक बहुत बड़ी केतली या बटलोई अवश्य होती है, जिसमें उसका शोरवा तैयार

किया जाता है। वह केतली कभी खाली नहीं रहती, कुछ-न कुछ हर वक्त उसमें पकता ही रहता है। मुर्गियाँ, मछली, खरगोश और अन्य पशु-पक्षी, जो भी पकड़कर या चुराकर लाये जाते हैं, उसी केतली में पकाए जाते हैं। जिप्सी जंगली काँटेदार स्याही का मांस बड़े चाव से खाते हैं और आपस की दावतों में ऐसे मांस की एक कटोरी अवश्य भोज्य पदार्थों में शामिल रहती है।

कुछ वर्ष पहले, लन्दन के इर्द-गिर्द बहुतेरे खुले हुए मैदान थे, जहाँ जाड़ों के मौसम में जिप्सियों के काफ़िले आकर ठहरते और अपने तम्बू लगा दिया करते थे। उन दिनों देहात के जंगलों में ठण्ड बढ़ जाती थी और नमी के कारण वहाँ रहना कठिन होता था। पर आजकल गाँवों और शहरों में सभी जगह पुलिस के कारण ब्रिटिश द्वीपों में जिप्सियों की प्रगति पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं और जहाँ भी वे रहते हैं, सरकारी इन्सपेक्टर उनकी देखरेख के लिए पहले ही पहुँच जाते हैं। ऐसी दशा में विलायत में पहले जैसी स्वच्छन्दता से जीवन व्यतीत करना उनके लिए कठिन हो गया है। योरप महाद्वीप में फैले हुए जिप्सियों की संख्या सात लाख के लगभग अनुमान की जाती है। ये रूमानिया, बल्गेरिया और हंगेरी में सबसे अधिक संख्या में पाये जाते हैं। आर्मीनिया, ईरान, सीरिया तथा अन्य एशियाई देशों में और मिस्र, अलजीरिया एवं अफ्रीका के दूसरे कुछ भागों में भी जिप्सियों की बहुतेरी बस्तियाँ पाई जाती हैं।

एक जिप्सी स्त्री नृत्य कर रही है

जिप्सियों ने अटलांटिक पार के देशों पर भी धावे किए हैं और अमेरिका में कनाडा से ब्रैज़िल तक वे पाए जाते हैं। किन्तु नई दुनिया में अधिकतर संयुक्त राष्ट्र में ही उनकी बस्तियाँ हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में भी कहीं-कहीं पर उनके गरोह घूमते-फिरते दिखाई दे जाते हैं; परन्तु इन नए देशों में जिप्सियों की दाल विशेष नहीं गल पाती और लोगों को ठगने की उनकी प्रकृति को विकास का अवसर नहीं मिल पाता। इतना अवश्य है कि इन देशों में उनको घूमने-फिरने की पूरी स्वतंत्रता मिलती है और वे वास्तविक जिप्सी-जीवन की स्वच्छन्दता का आनन्द उठाते हुए खुले मैदानों में आकाश के नीचे पड़े रहते हैं।

योरप के मध्यवर्त्ती तथा दक्षिण-पश्चिमी भागों में रहनेवाले जिप्सी अपनी संगीत और नृत्यकला के लिए विख्यात हैं। उनका मुख्य बाजा बेला या वॉयलिन है। उनके संगीत का प्रचार हंगेरी प्रदेश में खूब हुआ है। वे ताल-स्वर का अच्छा ज्ञान रखकर बाजे बजाते और गाते हैं। कहीं-कहीं वे एक प्रकार का हार्प जैसा बाजा भी काम में लाते हैं।

अपने खानाबदोशी के जीवन में जिप्सी लोग प्रायः अत्याचारों के भी शिकार हुए हैं, जिनका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। उनके तौर-तरीक़ों तथा उनकी बुरी आदतों ने कितनी ही बार उनको भीषण यंत्रणाएँ भोगने को विवश किया है। आरम्भ में वे जिस देश में भी गए, वहीं उनका स्वागत-सत्कार किया गया और लोगों ने उनके साथ सहानुभूति तथा दया का व्यवहार किया। उनकी कला को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया और उन्हें आर्थिक सहायता भी मिली। दूर देशों की कहानियाँ सुनाने के कारण लोगों के घरों में भी उनका आना-जाना रहने लगा। पर इन सुविधाओं का जिप्सियों ने दुरुपयोग किया। उनकी चोरी और लूट की आदतों ने शीघ्र ही उनको बदनाम कर दिया और फलतः अधिकारियों की दृष्टि उन पर पड़ी। जिन कामों को वे कभी नहीं करते थे—जैसे छोटे बच्चों का अपहरण और नर-मांस-भक्षण—उनके भी अपराधी ठहराये जाकर वे दण्डित हुए।

उनको बदमाश और आवारा घोषित करके उनके अंग-प्रत्यंग को जलते हुए लोहे से दागा गया, उनके कान काट डाले गए, तथा अनेक अमानुषिक यंत्रणाओं द्वारा सताए जाकर बिना किसी न्यायालय में विचार हुए उनको फाँसी या सूली तक की सज़ाएँ दे दी गईं। उनके साथ इस दुर्व्यवहार का एक कारण यह भी था कि वे जिन देशों में जाते थे वहाँ वे सन्देह की दृष्टि से देखे जाते और अपरिचित समझकर उनको प्रत्येक सम्भावित दुर्घटना का दोषी ठहराने में लोगों को आसानी होती थी।

जिप्सियों के कुछ गरोह मातृपक्ष के होते हैं और कुछ पितृपक्ष के। वे लोग भाई-बहन की लड़कियों, पौत्रियों और सौतेली बहनों से भी विवाह कर लेते हैं, यद्यपि एक पिता की सन्तान परस्पर विवाह-सूत्र में नहीं बँधती। चाचा के लड़के-लड़कियों का परस्पर सम्बन्ध होना अनुचित नहीं समझा जाता। मामा की लड़कियों से विवाह करना तो बहुत ही अच्छा माना जाता रहा है। बहुविवाह की भी प्रथा उनमें प्रचलित रही है। जातीय नियम के अनुसार बड़ी बहन का विवाह हुए बिना छोटी बहन नहीं ब्याही जाती। वर और कन्या की पवित्रता का निर्णय करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता मानी जाती है। प्रायः वर कन्या को लेकर भाग जाता है और कुछ दिनों बाद जाति के मुखिया की अनुमति से विवाह-कार्य सम्पन्न किया जाता है। विवाह में लड़के-लड़की का हाथ मिलाना, दोनों के रक्त में आटा सानकर बनाई हुई रोटी खाना और किसी पेड़ की डाल पर से कूदना ये प्रधान रस्म मानी जाती रही हैं। वर कन्या को गोद में उठाकर घर ले जाता है। इस प्रकार की प्रथाओं का समावेश उनमें कई देशों के रिवाजों के अनुसार ही हुआ है।

नीग्रो

अफ्रीका महाद्वीप के आदिम निवासी

वर्णभेद के उपासक श्वेतांगों की बोलचाल में उनसे भिन्न वर्ण का प्रत्येक व्यक्ति 'काला आदमी' या 'नीग्रो' होता है! उनकी तथाकथित सभ्यता में इस शब्द की व्यापकता इतनी अधिक है कि बिना किसी भेदभाव के वे लोग किसी भी गहरे रंग की चमड़ीवाले को 'नीग्रो' कह बैठते हैं! हमारे देश में भी इसी तरह अफ्रीका से आए हुए गहरे काले वर्ण की जाति के लोगों के लिए 'हब्शी' शब्द का व्यवहार होता रहा है, जो मुसलमानों के शासनकाल में भारत में आए थे। किन्तु सच पूछा जाय तो 'हब्शी' केवल वही हैं, जो अबीसीनिया या 'हब्श' देश के निवासी हैं, सभी नीग्रो हब्शी नहीं कहे जा सकते, जैसा कि भ्रम-वश लोग मान बैठे हैं। और न श्वेताङ्ग जातियों का अपने से भिन्न वर्ण की जाति के सभी लोगों को 'नीग्रो' कहना ही न्याय-संगत है। 'नीग्रो' केवल उन जातियों के मनुष्यों को ही कहा जाना चाहिए, जो अफ्रीका महाद्वीप में सहारा मरुभूमि और 'आशा अन्तरीप' की सीमाओं से घिरे हुए प्रदेशों में अधिकता से पाए जाते हैं और जो उन प्रदेशों के वास्तविक आदिम निवासी कहे जा सकते हैं। परन्तु जिन भूभागों में वे रहते हैं, उनके आसपास विषुवत् रेखा के समीप के प्रदेशों में रहनेवाले बौनी जाति के पिगमी लोग, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के बुशमेन जातिवाले तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में सुदूर दक्षिण तक फैले हुए अन्य जातियों के लोग भी बसे हुए हैं। ये वास्तविक 'नीग्रो' नहीं हैं। उनमें और नीग्रो लोगों में बड़ी भिन्नता है। नीग्रो जातिवालों का गहरा रंग, घुँघराले ऊन-जैसे घने बाल, और बड़ा सिर ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे उनको बड़ी सरलता से पहचाना जा सकता है। नीग्रो का भीतर को दबा हुआ संकुचित ललाट, चौड़ा जबड़ा और विशेष प्रकार की खोपड़ी उसे अन्य जातियों से सर्वथा भिन्न बतलाने के लिए पर्याप्त हैं।

रंग-रूप और आकृति के विचार से अफ्रीका की आदिम जातियों के तीन भेद माने जाते हैं—(१) नीग्रो तथा अर्धनीग्रो जातियाँ, (२) हैमिटिक जातियाँ और (३) सेमि-

टिक जातियाँ। इनमें से प्रत्येक वर्ग में अनेक उपजातियाँ हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं :—

(१) नीग्रो तथा अर्ध-नीग्रो

(क) नीग्रितो (पिगमी)

बुशमैन, बतवा, ओबाँगो, और अक्का आदि।

(ख) हाटेनटॉट

नामाकुआ, कोराकुआ, ग्रीकुआ, आदि।

(ग) बंटू

ज़ुलू, काफ़िर, बसूतो, बेचुनाज़, माकुआ, मातेबेले, मानगंजा, बेंचू, बगेल्स, बरुआ, बालुंदा, बासबा-हिली, बान्यामवेसी, बालेग्गा, ओवाहेरो, फ़ज़ी-वज़ी, ओवाम्पो, बैकांगो, बतेके, दुआलो आदि।

(घ) सूदानी नीग्रो

कू, फ़ाँती, अशान्ती, मोरुबा, न्यूपे, मंदिनग्ना, उलोफ़, बैम्बारा, सोनरहाई, हौसा, बत्ता, कनूरी, बागिरमी, मोस्गू, कनेम, माबा, न्यूबा, दिन्का, शिल्कु, बारी, मानवत्तु, ज़ंदे आदि।

(२) हैमिटिक जातियाँ

(क) नीग्रो रक्तमिश्रित हैमिटिक

फ़ान, कुला, तिब्बू, अगुस, मसाई, फ़ेलाहिन आदि।

(ख) शुद्ध हैमिटिक

बर्बर (शुलूह, मज़ाब, कबीले, तुरेग़) गाला, सोमाली, अफ़ार (दानाकिल), बेगा आदि।

(३) सेमिटिक जातियाँ

अरब, हिमयारित (अम्हारा, तिगरे, शोआ) आदि।

इन जातियों में बहुतेरा सभ्य, कुछ अर्धसभ्य और कुछ एकदम असभ्य हैं। आधुनिक सभ्यता से यद्यपि ये बहुत-कुछ प्रभावित होती जा रही हैं, फिर भी इनमें से अधिकांश प्राचीनता और परम्परागत रीति-रिवाजों को माननेवाली ही हैं। इनकी विचित्र जीवनचर्या का यदि विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जाय तो बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। ये जातियाँ परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हुए भी सदियों से एक साथ रहती चली आई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एशिया तथा अन्य विदेशों से आए हुए प्रवासियों का रक्त भी इनमें काफ़ी मिल चुका है, परन्तु इनक मौलिकता अभी तक नहीं नष्ट हो सकी है। विदेशियों ने अफ्रीका का नाम काला महाद्वीप (Black Continent) जो रखदिया है सो वहाँ की आबादी में इन कृष्ण-वर्णीय जातियों की प्रचुरता को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त जान पड़ता है।

ऊपर उल्लिखित जातियों के अति-रिक्त इस महाद्वीप के अन्तर्गत सुदूर जंगलों के भीतर अनेक ऐसी जातियाँ भी निवास करती हैं, जिनके विषय में अभी तक पर्याप्त अनुसन्धान नहीं किया गया है। नरमांसाहारी, विषबुझे बाणों तथा बर्छों का उपयोग करनेवाले

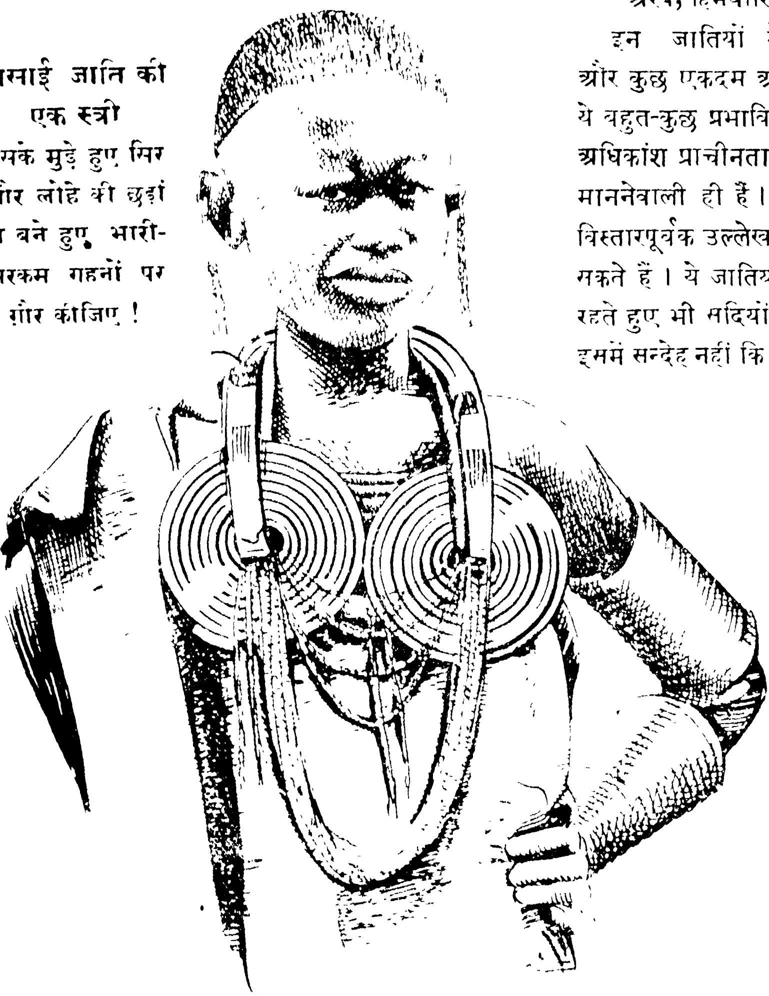

मसाई जाति की एक स्त्री

इसके मुड़े हुए सिर और लोहे की छड़ों से बने हुए भारी-भरकम गहनों पर गौर कीजिए!

नितान्त जंगली लोगों की बस्तियों से लेकर पिरैमिड की छाँह में बसी हुई सभ्य अरब जातियों तक शताब्दियों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति को लिये हुए इस महाद्वीप को जो विविध मानवीय टोलियाँ आबाद किए हुए हैं, उन्हें देखकर हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। अफ़्रीका वास्तव में इतना रहस्यमय भूभाग है कि उसकी वास्तविक आत्मा को पहचानना बड़ा कठिन है।

नीग्रो जाति के मनुष्यों के शरीर का रंग एकदम आबनूसी काला नहीं होता जैसा कि भ्रमवश कुछ योरपीय विद्वानों ने अब तक बतलाया है, वरन् सूदानी और सुमाली जातिवाले ही अधिक काले होते हैं, जो नीग्रो नहीं कहे जा सकते। नीग्रो जाति के लोग गहरे कत्थई या ऐसे गेहुएँ रंग के होते हैं जो प्रायः ताम्रवर्ण, बादामी या लालिमा लिये हुए पाया जाता है। वातावरण के अनुसार ही शारीरिक वर्ण में भी भिन्नता पाई जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही व्यक्ति का रंग उसकी अवस्था और स्वास्थ्य के अनुरूप बदलता रहता है। नीग्रो का रंग बुढ़ापा आने पर गहरा होता जाता है, किन्तु नवजात शिशुओं का रंग साफ़ और हल्का होता है। इनके केश साधारणतया छोटे होते हैं और उनमें स्वाभाविक छल्ले-से पड़ जाते हैं, जिनके कारण वे घुँघराले और गुलझट खाये हुए दिखाई देते हैं। कुछ जातियों में केश काफ़ी लम्बे होते हैं, जो बड़े कलापूर्ण ढंग से सँवारे जाते हैं। नीग्रो लोगों के चेहरे पर बाल प्रायः नहीं होते या बहुत कम होते हैं, दाढ़ी का भी अभाव-सा ही रहता है। मूँछों के स्थान पर दस-पाँच पतले बालों की हल्की-सी रेखा मात्र होठों के कोनों पर दिखाई देती है। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, नीग्रो लोगों के सिर की बनावट विशेष रूप से ध्यान देने योग्य होती है, यद्यपि अनेक जातियों के पारस्परिक मिश्रण के कारण उसमें भी भिन्नता पाई जाती है। प्रायः उनके सिर काफ़ी बड़े होते हैं और कपाल की हड्डियाँ ख़ूब दृढ़ और मज़बूत होती हैं। सिर कुछ लम्बे और पीछे की ओर चौड़े होते हैं तथा ललाट भीतर को दबा हुआ-सा जान पड़ता है। नाक ऊपर से चौड़ी और नथुने खुले हुए होते हैं, जिनके कारण उनकी नासिका चिपटी और दबी हुई दिखाई देती है। नीग्रो लोगों का बदन बड़ा सुडौल और सुदृढ़ होता है तथा उनकी लम्बाई का औसत ५ फ़ीट ७ इंच से कम नहीं होता। उनके अंग-प्रत्यंगों के आकार में भिन्नता का कारण विभिन्न जातियों की रहन-सहन और स्वभाव ही कहा जा सकता है, फिर भी वे साधारणतया काफ़ी हृष्ट-पुष्ट होते हैं। उनकी शारीरिक उन्नति का मुख्य कारण उनका शारीरिक परिश्रम ही है,

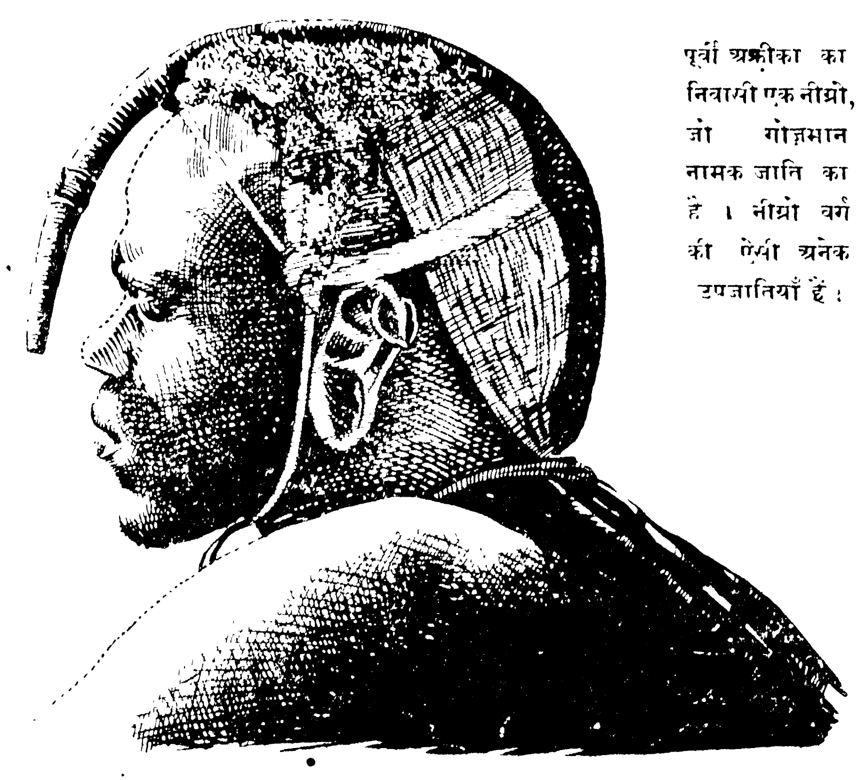

पूर्वी अफ्रीका का निवासी एक नीग्रो, जो गोज़मान नामक जाति का है। नीग्रो वर्ग की ऐसी अनेक उपजातियाँ हैं।

जिसमें वे योरपवालों से कहीं अधिक बढ़े-चढ़े होते हैं। हाँ, मानसिक विकास में वे अपेक्षाकृत न्यून होते हैं, जिसके कारण उनको दूसरों का आश्रित रहना पड़ता है। नीग्रो लोगों को आमाशय-सम्बन्धी विकार नहीं सताते और उनमें शारीरिक कष्ट सहने की बड़ी शक्ति होती है। डाक्टरी चीरफाड़ करते समय उनको बेहोश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और प्रायः शल्यचिकित्सा के ऐसे प्रयोग, जिनमें योरपियन लोग पीड़ा के कारण प्राण तक छोड़ दें, उनमें बड़ी सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। ब्रिटिश मध्य अफ्रीका में एक युद्ध के उपरान्त जान्सटन नामक एक योरपियन सज्जन ने अपनी आँखों देखे एक ऐसे ही दृश्य का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं कि 'नीग्रो जाति के सैनिकों पर ऐसे घोर कष्टदायक शल्य-प्रयोग किये जा रहे हैं, जिनमें साधारण व्यक्ति तड़प उठे. परन्तु नीग्रो सैनिक बराबर मुस्करा रहे हैं। कभी-कभी उनमें से कोई व्यक्ति धीरे से मुँह बनाता है और आँखें मींच लेता है, परन्तु अधिकांश व्यक्ति घास की रस्सियाँ उँगलियों से बटते जाते हैं और चीरफाड़ के औज़ारों को अपने बदन पर चलते हुए बड़े कौतूहल से देख रहे हैं।' ऐसा कष्ट-सहिष्णु होना वास्तव में नीग्रो लोगों की एक विशेषता है।

नीग्रो जातिवालों की पोशाक भी बड़ी अजीब होती है। कुछ तो नितान्त नंगे रहते या नाममात्र को कपड़े पहनते हैं। अन्य जातिवाले, उदाहरणतः 'सुहेली' लोग, ऊपर से नीचे तक वस्त्रों से ढके रहते हैं। 'करीरान्दो' प्रदेश के निवासी नीग्रो बिल्कुल कपड़े नहीं पहनते। आम तौर पर नीग्रो लोगों की वेशभूषा बिल्कुल सादी रहती है। बच्चे तो प्रायः नंगे ही घूमा करते हैं। स्त्रियाँ एक प्रकार का चुस्त घाँघरा पहनती हैं, जो कमर से घुटनों तक आता है। पुरुष बहुत ऊँचा तहमत या लुंगी बाँधते हैं, जिसे वे प्रायः उतारकर रख भी देते हैं। ऐसे प्रान्तों में जहाँ पानी अधिक बरसता है और ठण्ड पड़ती है—मुख्यतः पठारों में लोग पशुओं की खाल का बना हुआ ऊँचा कोट या लबादा पहनते हैं, जिसे वे कन्धों पर लापरवाही से डाले रहते हैं। ये खालें बिल्कुल कच्ची होती हैं, किन्तु उनको छील-छीलकर तथा बार-बार पीटकर नर्म बना लिया जाता है, जिससे उनके बने वस्त्र पहनने योग्य रह सकें। दक्षिणी अफ्रीका में खालों के बने कपड़ों का बहुत चलन है। उत्तरी अफ्रीका तथा समुद्री तट के पास के प्रान्तों में सूत के बुने हुए कपड़े व्यवहार में लाए जाते हैं। विषुवत् रेखा के पार्श्ववर्त्ती प्रदेशों में रहनेवाली जातियाँ पेड़ों की रेशेदार छालों, जड़ों और घास के बने कपड़े पहनती हैं। प्रायः अंजीर की छाल को कूटकर नरम तथा लोचदार बना लेते हैं और उसके वस्त्र बनाकर पहनते हैं। यूगान्दा प्रान्त तथा उसके आसपास के इलाकों में ऐसे कपड़ों का काफ़ी चलन है।

केनया प्रान्त की एक नीग्रो युवती

वस्त्रों की ही भाँति नीग्रो जातियों में आभूषण भी तरह-तरह के पहने जाते हैं। अधिकतर लोहे या पीतल के मोटे मोटे कड़े, बाज़ूबन्द, छल्ले और बालियाँ पहनने का रिवाज है। हाथ-पैर, कान-नाक आदि सभी इन्हीं आभूषणों से लदे रहते हैं। तार को पीट-पीटकर बनाए गए पीतल के छोटे-छोटे दाने और कौड़ियाँ खाल के वस्त्रों तथा पेटियों पर सी ली जाती हैं और उन्हीं की झालर लगा ली जाती है। कुछ जातियों में भुजाओं के ऊपर हाथीदाँत के कड़े

पहने जाते हैं। इन लोगों की टोपियाँ पक्षियों के परों तथा रोएँदार जानवरों की खालों की बनती हैं, जिन्हें सैनिक या लड़ाकू जातियों के वीर ही अधिकतर धारण करते हैं। इनके धर्म-पुरोहित, स्याने, ओझे और जादूगर लोगों की पोशाक बड़ी विचित्र होती है और वे लोग तरह-तरह की भयानक और घृणास्पद वस्तुएँ आभूषणों की जगह पर पहने रहते हैं। प्रायः बड़ी-बड़ी अलभ्य वस्तुएँ उनके वस्त्रों में टँकी रहती हैं, जैसे पेड़ों की जड़ें, मुर्दों की हड्डियाँ, खाली कारतूस, सीसे की गोलियाँ, घोंघे, सीप, आदि, ताकि अपनी जाति-वालों में उनकी विशेषता प्रकट होती रहे।

नीग्रो लोगों में तरह-तरह के रंगों से गोदना भी गोदा जाता है और बड़ी विचित्र आकृतियाँ शरीर के अंग-प्रत्यंग में अंकित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त वे बदन पर घाव करके उसे दागते भी हैं, जिससे उस स्थान की चमड़ी उभर आती है। बार-बार ऐसा करने से उनके शरीर पर मनोनीत चिह्न बन जाते हैं, जिन्हें वे सौन्दर्य-वर्धन का साधन समझते हैं। इन घावों में रंग भरते रहने के कारण नीग्रो लोगों का शरीर भाँति-भाँति की आकृतियों का खासा अलबम बन जाता है! ये आकृतियाँ प्रायः रेखाचित्रों के रूप में होती हैं, और कभी-कभी उनमें बड़ा कलापूर्ण चित्रण किया रहता है। कुछ जातियों में इस प्रकार का गोदना केवल जाति या वर्ग का चिह्न मात्र समझा जाता है, किन्तु अन्य जातियाँ उसे शृंगार का साधन भी समझती हैं, जो उनके मत में व्यक्तिगत सौन्दर्य बढ़ाने का सर्वोत्तम उपचार है। कानों की लौर तथा होंठ बहुत बढ़ाये हुए रखने का भी कहीं-कहीं रिवाज़ है और उनमें छेद करने के बाद लकड़ी की छोटी-बड़ी फिरकियाँ डाल दी जाती हैं, जिनका आकार क्रमशः बढ़ाया जाता है। दाँतों को रेतकर नुकीला बनाने की भी इनमें प्रथा है। कहीं-कहीं सामने के दो-चार दाँत उखाड़ डालने का भी चलन है। ये बातें व्यक्तिगत सौन्दर्य की कसौटी समझी जाती हैं और फलतः ऐसे कष्टप्रद उपायों का अवलम्बन करने को सभी सदा सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं।

कांगो प्रदेश का एक नीग्रो योद्धा

नीग्रो लोगों का मुख्य शस्त्र होता है भाला या बरछा। ज़म्बेसी प्रदेशवाले एक हलका खाँचेदार फलवाला 'असेगाई' नाम का छोटा बरछा प्रयोग में लाते हैं, जो फेंककर मारा जाता है। मसाई जाति के लोग बहुत वज़नी, लम्बे फल का दोधारा बरछा, जो भोंकने या छेदने के काम आता है, काम में लेते हैं। प्रायः सभी जातियों में धनुष-बाण का व्यवहार प्रचलित है। ये लोग बाणों को अक्सर ज़हर से बुझाते हैं, जो कुछ पौधों की पत्तियों तथा जड़ों के रस से तैयार किया जाता है। गदा और मुद्गरनुमा मोटे डंडे भी युद्ध, सार्वजनिक प्राणदंड, तथा शिकार के समय काम में लाये जाते हैं। ये प्रायः लकड़ी, पत्थर या लोहे के बनते हैं। कहीं-कहीं हड्डियों के भी शस्त्र बनाये जाते हैं।

नीग्रो जातिवाले रहने के लिए पेड़ों की झुकी हुई डालियों और लट्ठों के झोपड़े बनाते हैं, जिनके ऊपर वे घास-फूस या पत्तियों की छतें डालते हैं। उनकी दीवारें भी इन्हीं की बनती हैं। कहीं-कहीं दीवारें बनाई ही नहीं जातीं और केवल छप्परों के नीचे ही लोग रहते हैं। ये झोपड़े प्रायः बहुत छोटे होते हैं, किन्तु जाति के सरदारों तथा मुखिया लोगों के घर औरों की अपेक्षा सुन्दर और मज़बूत होने के अतिरिक्त बहुत बड़े भी बनते हैं। साधारणतया झोपड़ों की बनावट मधु-मक्खी के छत्तों की तरह होती है, किन्तु कहीं-कहीं वे लम्बे, चौकोर तथा अंडाकार भी बनाए जाते हैं। खानाबदोश जाति के नीग्रो लोग नरकुल तथा काँस के

पत्तों से लट्ठों के ऊपर अस्थायी झोपड़े बना लेते हैं और उनके चारों ओर जानवरों की खालें लपेट लेते हैं। जिन स्थानों में नीग्रो अन्य बाहरी जातियों के सम्पर्क में आ चुके हैं, वहाँ वे पत्थर के मकान भी बनाने लगे हैं, किन्तु अधिकांश लोग अभी झोपड़ों में ही रहते हैं। जहाँ दल-दल और कीचड़ की ज़मीन मिलती है वहाँ दीमक से बचने के लिए ऊँचे-ऊँचे लट्ठों के मचान बाँधकर उन पर झोपड़े बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं एक ही लट्ठे के ऊपर घोंसलों की तरह छोटी-छोटी घास-फूस की गुमटियाँ बनाई जाती हैं, जहाँ लोग खाना पकाते हैं। ये गुमटियाँ गोलाकार बनती हैं। पूर्वी अफ्रीका तथा गिनी प्रदेश के नीग्रो चौकोर या वर्गाकार मिट्टी के घर भी बनाने लगे हैं।

इन लोगों का मुख्य भोजन है अनाज या साग-पात। ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, कद्दू, शकरकंद, लौकियाँ और मटर इनके आहार में मुख्य स्थान पाते हैं। कुछ जातियाँ जंगली फलियों और फलों को खाकर ही अपना भूख मिटाती हैं। कुछ लोग, जो समुद्री किनारों पर रहते हैं, नारियल को ही अपना मुख्य खाद्य पदार्थ बनाए हुए हैं। नीग्रो लोगों की अनेकों जातियाँ पशु पालती हैं और उन्हीं से उनकी जीविका चलती है। भेड़ों के झुंड-के-झुंड उनके यहाँ पले रहते हैं, जिनका वे दूध पीते और मांस खाते हैं। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जिनमें निरामिष भोजन का व्यवहार धार्मिक रूप से वर्जित है। नदियों के आस-पास रहनेवाले लोग मछलियाँ मारते हैं और यही उनका मुख्य आहार है। ऐसी भी जातियाँ हैं, जिनमें मछलियों के मांस का व्यवहार करना जातीय दुर्गुण समझा जाता है। नर-मांस खाने की प्रथा बहुत दिनों तक नीग्रो जाति में प्रचलित रही, किन्तु धीरे-धीरे उसका ह्रास होता जा रहा है। छिपे तौर पर अभी भी उनमें कहीं-कहीं नर-मांस खाने का चलन है। कांगो और ओगोवा की तराइयों में रहनेवाले नीग्रो ही आजकल नर-मांस खानेवाले समझे जाते हैं। किन्तु औषधि या देवता के प्रसाद के रूप में अफ्रीका की प्रायः सभी नीग्रो जातियाँ नर-मांस खाना बुरा नहीं समझतीं, यद्यपि वे लुक-छिपकर ही ऐसा करती हैं। नर-मांस खाने का चलन वास्तव में उनकी प्राचीन रूढ़ियों और धार्मिक संस्कारों का ही परिणाम है, जिसे छोड़ते हुए ये लोग आजकल भी घबराते हैं। मनुष्य की जाँघों का मांस खाने से वीर बन सकते हैं, ऐसी नीग्रो लोगों की पुराने ज़माने में धारणा थी। इसीलिए किसी वीर शत्रु को मारकर उसका हृदय और कलेजा भूनकर खाने की उनमें प्रथा थी। ऐसा करने से मृत व्यक्ति जैसा साहस और शौर्य अनायास ही आ जाना सम्भव समझा जाता था।

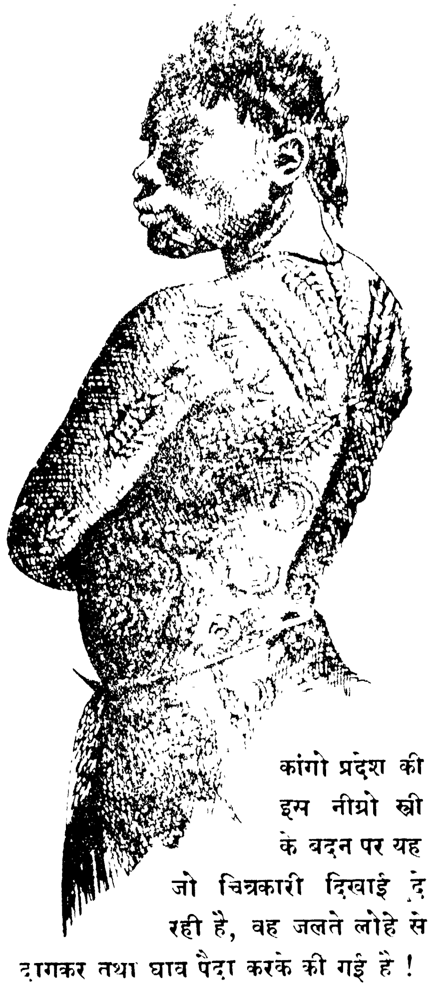

कांगो प्रदेश की इस नीग्रो स्त्री के बदन पर यह जो चित्रकारी दिखाई दे रही है, वह जलते लोहे से दागकर तथा घाव पैदा करके की गई है!

नीग्रो जातियों का सामाजिक संगठन प्राचीन प्रणाली पर ही अवलम्बित है, जिसके अनुसार घर का बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति ही परिवार विशेष का शासक समझा जाता है। प्रायः लोग स्वतंत्र परिवारों की बस्तियों के रूप में रहते हैं। प्रत्येक बस्ती या परिवार का एक मुखिया होता है, जो आयु के अनुसार ही चुना जाता है। इनमें बड़े-बूढ़ों का ही अधिकार सर्वोपरि मान्य समझा जाता है। ऐसे कुछ गाँवों के बड़े-बूढ़े मिलकर एक सम्मिलित समिति भी बनाते हैं या अपना एक मुखिया चुन लेते हैं जो उन पर शासन करता है। ऐसे ही कई मुखिया लोग मिलकर अपना एक

प्रधान या सरदार चुन लेते हैं, जिसके अधिकार को सभी मानते हैं। इस प्रधान या सरदार को वे राजा की तरह मानते हैं और उसकी शासन-पद्धति या तो उसकी इच्छानुसार ही बनाई जाती है या मुखिया लोगों की समिति के परामर्श से वह अपनी हुकूमत चलाता है। प्रत्येक दशा में ऐसी शासन-पद्धति दासत्व-प्रथा से मुक्त नहीं होती और सभी जातियों में क्रीतदास पाये जाते हैं, जो तरह-तरह के सेवा-कार्य करते हैं।

नीग्रो जातियों में दो मुख्य श्रेणी के लोग हैं। एक तो वे जो खेती-बारी करते हैं, दूसरे वे जो मुख्यतः सैनिक होते हैं। उनकी शासन-योजना में भी यही दो भिन्न वर्ग माने जाते हैं। नीग्रो लोग बड़े परिश्रमी होते हैं और शारीरिक श्रम से कभी थकते नहीं। इच्छा होने पर वे कठिन-से-कठिन काम कर डालते हैं। प्रायः वे स्वभाव के लालची होते हैं, किन्तु अवसर आने पर असीम उदारता का भी परिचय देने से पीछे पैर नहीं हटाते। उनकी स्वार्थ-परायणता प्रसिद्ध है, किन्तु स्वामिभक्ति तथा सेवा-कार्य में अपने प्राणों का बलिदान देने में अन्य जाति के लोग उनकी समानता नहीं कर सकते। स्वभावतः वे बड़े वीर सैनिक होते हैं, किन्तु शीघ्र ही घबड़ा भी जाते हैं और ज़रा-सी हार होने पर भाग खड़े होते हैं। वे दयावान और कोमल प्रकृति के होते हैं, किन्तु उत्तेजित होने पर उनमें अमानुषिक निर्दयता आ जाती है और वे भयानक से भयानक कार्य्य कर डालने में भी संकोच नहीं करते। नीग्रो लोगों के उद्योग-धन्धे पुराने ढंग के ही पाये जाते हैं और नई सभ्यता का उनमें अभी पर्याप्त विकास नहीं हो सका है। कृषि-कार्य्य में भी वे बहुत पिछड़े हुए हैं। खेती के लिए झाड़ी और जंगली पौधों को आग मे जलाकर वे ज़मीन साफ़ करते हैं। वे ज़मीन में खाद देना जानते ही नहीं। लोहे के नुकीले औज़ारों या डंडों से खोदकर ज़मीन को वे वैसी ही छोड़ देते हैं। उसे पानी से सींचना भी वे नहीं जानते। उनकी कुछ ही जातियाँ ऐसी हैं, जो कपड़े बुनना जानती हैं। नदियों की तराइयों से खोद-खोदकर वे कच्चा लोहा निकालते हैं और साधारण भट्ठियों में गलाकर उसे साफ़ करते हैं। खालों को पकाकर चमड़ा बनाना उनको नहीं आता—केवल वही जातियाँ जो बाहरी सभ्य जातियों के सम्पर्क में आ चुकी हैं, पक्का चमड़ा बना लेती हैं। उनके बनाए हुए मिट्टी के बर्त्तन भी बहुत भद्दे होते हैं। वे चाकुओं से लकड़ी पर नक़्क़ाशी कर लेते हैं, किन्तु वह भी बहुत साधारण ढंग ही होती है। कहीं-कहीं नक़्क़ाशी का काम बहुत अच्छा बनता है, किन्तु उस पर अन्य जातियों की कला की छाप स्पष्ट जान पड़ती है।

सूदान-निवासी फज़ी-वज़ी जाति का एक योद्धा

नीग्रो लोगों का धर्म एक प्रकार की मूर्त्तिपूजा ही है, यद्यपि उसका पूर्ण विकास उनमें नहीं हो पाया है। साधारणतया सभी नीग्रो एक सर्वोपरि दैवी शक्ति को मानते हैं, जिसके विषय में उनके विचार

उलझे हुए तथा अविकसित हैं। वे वर्षा, तूफान तथा अन्य प्राकृतिक कार्यों के अधिष्ठाता देवताओं का अस्तित्व भी मानते हैं, जिनके लिए उन्होंने अपनी भाषा में अलग-अलग नाम रख छोड़े हैं। किसी भी असाधारण घटना का कारण कोई-न-कोई देवता ही माना जाता है। सभी नीग्रो भूत, प्रेत तथा आत्माओं में विश्वास रखते हैं और उनकी संख्या अगणित समझते हैं। प्रत्येक अवांछित घटना को वे किसी-न-किसी भूत-प्रेत का प्रकोप मानते हैं। उनकी मूर्त्तिपूजा प्रकृति-पूजा का ही एक रूप कहा जा सकता है, जो परिवर्तित होकर साधारणतया जड़ वस्तुओं की पूजा के रूप में बदल गया है। उन्हीं जड़ वस्तुओं में वे भूत-प्रेतों तथा आत्माओं का अस्तित्व मानकर यह समझते हैं कि जो उन जड़ वस्तुओं का स्वामी है, उसका भला-बुरा कुछ अदृश्य शक्तियों की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। विभिन्न जातियों में ऐसी पूजा का कम या अधिक प्रभाव देखा जाता है। पूर्वी अफ्रीका में लोग इन बातों में कम विश्वास करते हैं, किन्तु पश्चिमी प्रदेशों में ठीक उसका उल्टा है। पुरोहितों, स्यानों और जादूगरों की प्रधानता सर्वत्र पाई जाती है और वे इन लोगों को खूब ठगते हैं। तरह-तरह के ढोंग रचकर, जादू-टोने और भूत-प्रेतों का आवेश बतलाकर वे अपनी जीविका चलाते हैं और धर्मान्धता के उपासक नीग्रो लोग उनकी आज्ञा को देववाक्य समझकर उसका अक्षरशः पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते है। बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठानों की योजना की जाती है, जिनमें पशु-बलि के अतिरिक्त कभी-कभी नरबलि भी चढ़ा दी जाती है! भूत-प्रेतों और देवी-देवताओं के रूठने पर उनके मनाने के लिए महीनों धार्मिक कृत्य और उपासना-पूजा चलती रहती है। इतना ही नहीं, नीग्रो लोगों के शासन-विधान में न्याय करने में भी भूत-प्रेतों की प्रधानता स्वीकार की जाती है। अभियुक्तों के दोषी-निर्दोषी होने का निर्णय शारीरिक कष्ट देकर या ज़हर पिलाकर किया जाता है। ऐसी परीक्षा का अवसर तब आता है, जब पंचायत के लोग तथा अधिकारीवर्ग किसी अभियोग का फ़ैसला करने में असमर्थ होकर भूत-प्रेतों के हाथों में मामला सौंप देते हैं। तब प्राकृतिक पदार्थों के ज़रिए निर्णय प्राप्त किया जाता है, जो सर्वमान्य होता है।

अफ्रीका के बहुतेरे नीग्रो विदेशियों के सम्पर्क में आ जाने के बाद से सभ्यता की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहे हैं और दिनोंदिन उन्नति कर रहे हैं। उनमें बहुतेरे ऊँची शिक्षा भी प्राप्त करने में सफल हुए हैं। अफ्रीका के अलावा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका तथा पश्चिमी द्वीपों में भी काफ़ी तादाद में वे बसे हुए हैं। इनके पूर्वज किसी ज़माने में गुलाम बनाकर गोरों द्वारा अफ्रीका से अमेरिका ले जाये गए थे। पर अमेरिका में गुलामी प्रथा का अंत होने के बाद नीग्रो जाति-वालों ने बड़ी उन्नति की और आज तो ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें वे गौरवर्णवालों के साथ बराबर क़दम बढ़ाते हुए न चल रहे हों! उनके बड़े-बड़े विद्यालय स्थापित हो चुके हैं और कई अख़बार निकलते हैं। एकाध द्वीप में तो वही स्वयं शासन भी करते हैं। पर अफ्रीका में अब भी उनमें से कई जंगली जीवन व्यतीत करते हैं।

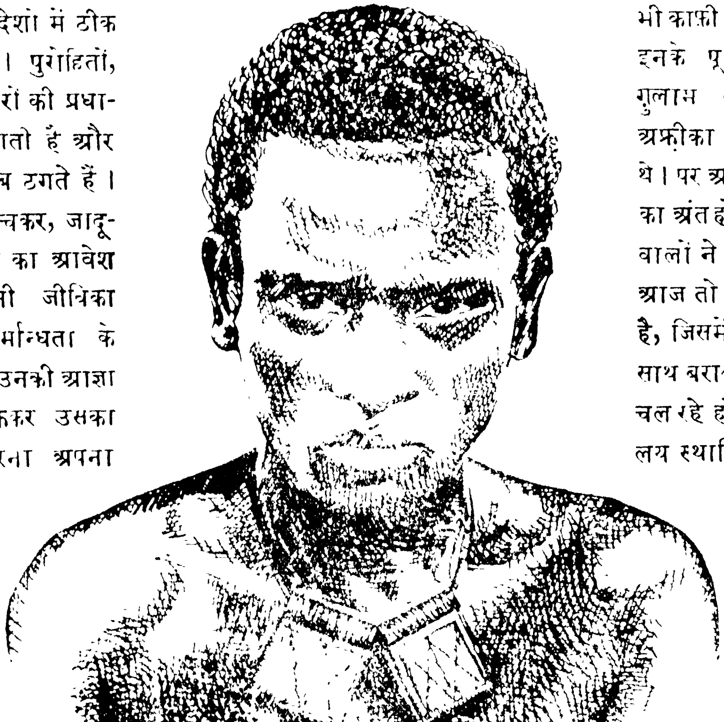

अबीसीनिया की दनकाली प्रदेश-निवासी दानाकिल जाति का एक पुरुष

पिगमी

संसार के सबसे नाटे या बौने मनुष्य

हमारे अपने देश के छोटे-बड़े शहरों में राह-चलते कभी-कभी कोई बौना व्यक्ति दिखाई दे जाता है और लोग ठहरकर बड़े कौतूहल से उसे देखने लगते हैं। प्रायः दक्षिण भारत से आनेवाले साधुओं में आपने ऐसे बौने देखे होंगे और ईश्वर की अद्भुत सृष्टि पर आश्चर्य किया होगा। किन्तु यदि हम आपसे कहें कि अफ्रीका महाद्वीप के घने जंगलों में ऐसे ही बौने लोगों की सैकड़ों बस्तियाँ हैं, तो क्या आप सहसा विश्वास करेंगे? पर बात बिल्कुल सत्य है और यदि आप अफ्रीका की यात्रा करें तो यूगान्डा प्रान्त से गेबून तक, विषुवत् रेखा से तीन अंश उत्तर तथा तीन अंश दक्षिण में जो विस्तृत भूभाग है, वहाँ हज़ारों की संख्या में जंगली बौने आपको घूमते-फिरते दिखाई पड़ेंगे। ये लोग यूगान्डा प्रान्त में जंगलों की एक पतली पट्टी में, जो सेमलिकी नदी के पूर्व और पश्चिम में है, निवास करते हैं। किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि कई शताब्दियों पहले, ये जंगली बौने या पिगमी समस्त यूगान्डा प्रान्त में फैले हुए थे। बेलजियन कांगो के जंगलों में वे बहुतायत से पाए जाते हैं। फ्रेंच कांगो और गेबून के इलाकों में भी उनकी बस्तियाँ हैं। इन्हीं नाटे मनुष्यों में ऊपरी नील नदी के तटों पर रहनेवाली अक्का या टिकीटिकी जाति, नियाम-नियाम प्रदेश की बौनी जाति, इतूरी वन की तम्बूटी जाति, और कांगो नदी के मोड़ पर दक्षिण में रहनेवाली बतुआ जाति भी सम्मिलित समझी जाती है।

शरीर के क़द के लिहाज़ से पिगमी लोग संसार में सबसे नाटे मनुष्य समझे जाते हैं—उनका क़द ४ फ़ीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। कभी-कभी तीन या साढ़े तीन फ़ीट के बौने भी दिखाई दे जाते हैं। उनके नाटे क़द के अलावा पिगमी लोगों में और भी अनेक विशेषताएं होती हैं। उनके गुथे हुए छल्लेदार केश, ऊपर दबी हुई और सिरे पर फैली हुई चिपटी नाक, बड़ा ऊपरी होंठ, दबी हुई ठुड्डी, सारे शरीर पर घने ऊन-जैसी रोमावली, लम्बी भुजाएं और छोटी टाँगें देखकर अनायास ही उनको अन्य जातियों से पृथक् पहचाना जा सकता है। विद्वानों का कथन है कि पिगमी लोगों के पूर्वज प्राचीन नीग्रो जातियों में से थे। उनके शरीर का रंग कुछ मटीला ताम्रवर्ण होता है। कुछ व्यक्ति गहरे भूरे रंग के होते हैं। आँखें प्रायः बड़ी और चमकदार होती हैं। पैर बड़े तथा नीचे को झुके होते हैं। पैरों की उँगलियाँ और अँगूठे श्वेतांगों की अपेक्षा बड़े होते हैं। पिगमी लोग अपने पैरों की उँगलियों और अँगूठों के बीच का स्थान अजीब तरह से बढ़ा लेते हैं, जिससे वे पेड़ों पर बड़ी सरलता से चढ़ जाते हैं। घने जंगलों में ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर वे बन्दरों की भाँति उछलते-कूदते चढ़ जाते हैं। अपने पैरों की उँगलियों से डालें पकड़कर वे उलटे लटक भी जाते हैं। यह उनकी ही अपनी एक विशेषता है।

एक पिगमी स्त्री

अधिकतर पिगमी बिल्कुल नंगे रहते हैं। कभी-कभी वे सामने की ओर पेड़ों की पतली छाल का टुकड़ा लटकाए रहते हैं, अथवा कमर में खाल लपेट लेते हैं। स्त्रियाँ प्रायः दो-चार पत्तियों के गुच्छों से अपने गुप्त अंगों को ढके रहती हैं। ये पत्तियाँ प्रतिदिन बदल दी जाती हैं। पिगमी अपने बदन पर बहुत कम गोदना गोदाते हैं। वे पीतल के गहने पहनने के विशेष शौक़ीन होते हैं और उन्हीं से अपना पूरा शृङ्गार कर लेते हैं। अपने ऊपरी होंठ में छेद करके ये लोग उसमें नरकुल या स्याही के काँटे डाले रहते हैं, जो एक प्रकार के आभूषण समझे जाते हैं। वे अपने सिर के घुँघराले बालों को बड़े कलापूर्ण ढंग से

कतरकर सजाते हैं और उनमें भाँति-भाँति के चित्र बनाते हैं। बालों की छोटी-छोटी वेणियाँ बनाकर उनमें पक्षियों के पर भी वे लगाते हैं, जो सिर के ऊपर उठे रहते हैं।

पिगमी जातिवालों के रहने के झोंपड़े भी बिल्कुल आदिम ढंग के बनते हैं। इसके लिए पेड़ों की टहनियों को झुकाकर उनसे एक गोलाकार बाड़ा बनाया जाता है, जिस पर केले की पत्तियों से पटाव किया जाता है। इसे चारों ओर से पत्तियों से अच्छी तरह ढककर उसमें नीचे ज़मीन से मिला हुआ प्रवेश-द्वार रखा जाता है, जो बहुत छोटा होता है। चारों हाथ-पैरों पर चलकर ही उस बाड़े के भीतर जाना होता है। यह बाड़ा ७ फ़ीट लंबा-चौड़ा और ४ फ़ीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। ऐसे ही दस या बारह बाड़े एक गाँव में होते हैं, जहाँ ये लोग रहते हैं। ये बाड़े अस्थायी रूप से रहने के काम आते हैं, क्योंकि पिगमी ज्यादातर शिकार की खोज में जंगल के एक भाग से दूसरे भाग में मारे-मारे फिरा करते हैं। कुछ लोग टहनियों तथा पत्तियों की सहायता से पेड़ों के ऊपर ही रहने के घर बना लेते हैं, क्योंकि अफ़्रीका के जंगलों में पेड़ प्रायः एक दूसरे से ख़ूब सटे हुए उगते हैं, जिससे उनकी डालों के बीच में प्राकृतिक घर अपने आप बन जाता है।

पिगमियों में खेती करने या ज़मीन जोतने-बोने का काम कोई जानता ही नहीं। वे जंगली हिरन, बन्दर और पक्षियों का शिकार करके उनका मांस खाते हैं। शिकार करने में वे धनुष-बाण से काम लेते हैं और यही उनका प्राचीन शस्त्र माना जाता है। वे दीमक, मधुमक्खी के छत्ते, और कीड़े-मकोड़े तक खा जाते हैं! इसके अतिरिक्त शहद, जंगली मटर और कुकुरमुत्ता भी उनका आहार होता है। फल वे बड़े चाव से खाते हैं। फलों में केले उन्हें सबसे ज्यादा पसंद आते हैं, जो या तो वे पड़ोसियों से माँग लाते हैं या बदले में कुछ देकर ख़रीद लेते हैं। कभी-कभी वे दूसरी जातिवालों के यहाँ लूटमार करके भी केले छीन लाते हैं। फल और तरकारियाँ वे कच्ची ही खा लेते हैं। हाँ, मांस को वे गरम राख में भूनते हैं और जब वह सूखकर कड़ा हो जाता है तब उसे खाते हैं। उनकी गृहस्थी के सामान में थोड़े से खाना पकाने के मिट्टी के बर्त्तन और पानी रखने के लिए लौकियों या कद्दू की सूखी तूंबियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।'

पिगमी लोगों के नर-मांसभक्षी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वे बड़े साहसी शिकारी और कुशल धनुर्धारी होते हैं। उनका निशाना बहुत कम चूकता है। बौने होते हुए भी वे बड़े फुर्तीले और सुडौल बदन के होते हैं। घने जंगलों की ऊँची-ऊँची झाड़ियों में वे बड़ी सफ़ाई से कूद-फाँद करते रहते हैं और लम्बी एवं ऊँची छलाँगें मारने में कभी-कभी बन्दरों को भी मात कर देते हैं! दक्षिणी कांगो में रहनेवाली पिगमियों की एक जाति के लोग, जो बतुआ कहलाते हैं, तीर-कमान से हाथियों तक का शिकार करते हैं! उनके तीरों की नोकें ज़हर से बुझी रहती हैं, जिनके लगने पर बड़े से-बड़ा जानवर या मनुष्य फिर बच नहीं सकता। इसके लिए वे कुछ ज़हरीले पौधों का रस निकालकर पकाते हैं और उससे बड़ा घातक विष तैयार कर लेते हैं। कभी-कभी मरे हुए जानवरों और दीमकों को सड़ाकर उनसे भी ज़हर तैयार किया जाता है, जो बाणों के फल बुझाने के काम आता है।

पिगमियों में बहुत थोड़ी उमर में ही शादी-ब्याह हो जाता है। जब वे ९ या १० साल के होते हैं तभी अपना ब्याह कर लेते हैं। विवाह की रस्म भी बड़ी सीधी-सादी होती है। वर जिस कन्या को पसंद करता है, उसके पिता के पास जाकर वह उसे ख़रीद लेता है और उसका मूल्य दे देता है। यह मूल्य दस या बारह बाण, कभी-कभी एक या दो बर्छे, और थोड़ी-सी तम्बाकू के रूप में चुकाया जाता है। कोई भी पुरुष जी चाहे उतनी स्त्रियों से विवाह कर सकता है, यदि उसमें प्रत्येक का मूल्य देने का सामर्थ्य हो। गर्भिणी स्त्रियाँ जंगल में जाकर बच्चा जनती हैं और दाँतों से नाल काटकर झिल्ली आदि स्वयं धरती में गाड़कर चली आती हैं। पिगमियों के परिवार में तीन व्यक्तियों से अधिक प्राणी नहीं हुआ करते। उनमें लड़का पैदा होने पर बड़ा आनन्द मनाया जाता है और लड़की होने पर पिता उसे केले की पत्तियों से ख़ूब पीटता है। पति-पत्नी, माता-पिता और बच्चों में परस्पर बड़ा प्रेमभाव रहता है। विषुवत् रेखा के निकट के जंगलों में रहनेवाले पिगमियों की आयु साधारणतया कम होती है, शायद ही उनमें कोई ४० वर्ष के बाद तक जीता हो। मृतक को क़ब्र खोदकर दफ़ना दिया जाता है। सुनते हैं, सरदार या प्रधान के मरने पर उसकी सब

स्त्रियों को भी उसके साथ ही गाड़ देने की अमानुषिक प्रथा इन लोगों में कभी रही है !

अफ्रीका के पिगमियों में मृत्यु के बाद के जीवन या परलोक के विषय में कोई भी धारणा नहीं पाई जाती। उनका कहना है कि मृत्यु का अर्थ ही सब वस्तुओं, इच्छाओं और कार्यों की समाप्ति है। वे लोग औदा नाम के एक बौने शैतान का अस्तित्व मानते है, जो आकस्मिक मृत्यु लाता है तथा व्याधियाँ और बीमारियाँ फैलाया करता है। पितरों तथा भूत-प्रेतों की वे पूजा नहीं करते। इन लोगों में कोई पैतृक सरदार या मुखिया नहीं माना जाता। प्रायः वे किसी कुशल शिकारी को अपना सरदार बना लिया करते हैं और वही थोड़े-से लोगों पर शासन करता रहता है। मामबूत जाति के पिगमी सरदारों में पुत्र को पिता की पदवी पर कोई अधिकार नहीं होता, वरन् वे अपने अन्तरंग मित्रों को ही अपनी पदवी सौंप जाया करते हैं। पिगमियों में शासन-सम्बन्धी कोई क़ानून नहीं हुआ करते। इतूरी पिगमियों में यदि किसी की हत्या हो जाती है तो उसके भाई-बन्धु एकत्रित होकर घातक की खोज करते हैं और उसे देखते ही चुपचाप छिपकर तीरों से उसका काम तमाम कर देते हैं। पिगमी गाने-बजाने के बड़े शौक़ीन होते हैं। उनके बहुत-से पुराने जातीय गीत हैं, जिनको वे गाया करते हैं। वे ताँत के एकतारे या तम्बूरे बनाते हैं। प्रायः किसी पेड़ के तने को काटकर वे उसे भीतर से खोखला कर देते हैं। फिर उसके दोनों सिरों पर हिरन की खाल मढ़कर उसका ढोल बनाया जाता है। ये लोग बड़ा अच्छा नृत्य करते हैं और ढोल की आवाज़ के ताल पर ठीक-ठीक पैर चलाते हैं। नाचने में वे अपने शरीर के अंग-प्रत्यंगों को बड़े कलापूर्ण ढंग से चलाते-फिराते हैं। सब लोग मिलकर एक लम्बी क़तार में नाचते जाते हैं, जो सर्पाकार घूमती जाती है और फिर सीधी हो जाती है।

पिगमी लोगों को रेखा-चित्र बनाने का भी कुछ अभ्यास रहता है। अपने प्रत्येक बाण पर वे नई-नई नक़्क़ाशी किया करते हैं। ज़हर बनाने की तरकीब जानने के लिए अपनी पड़ोस की दूसरी जातियों में वे प्रसिद्ध हैं। साथ ही ज़हर उतारने की औषधियाँ भी वे बना लेते हैं। शरीर में किसी जगह दर्द या सूजन होने पर वे उस जगह की खाल छीलकर निकाल देते हैं। उनका यह विश्वास है कि इस प्रकार रोगी चंगा हो जाता है। ऐसे ज़र्राही के प्रयोग में वे तेज़ बाणों की नोक से काम लेते हैं। जो लोग पिगमियों के सम्पर्क में रहे हैं, उनका अनुभव है कि ये लोग असाधारण बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली होते हैं। उनका

• कुशल धनुर्धारी पिगमी

यह गुण किसी भी नीग्रो जाति में नहीं मिलता। पिगमी प्रत्येक कही हुई बात को शीघ्र समझ जाते हैं और किसी भी विषय को तत्काल ग्रहण करने की कुशाग्रता उनमें पाई जाती है। वे पशु-पक्षियों की बोलियों की बड़ी अच्छी नक़ल कर लेते हैं। वे बड़े हँसोड़ और परिहासप्रिय होते हैं। उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य करना पड़ता है। वे प्रसन्न-चित्त और संतोषी हुआ करते हैं, किन्तु कभी-कभी वे मामूली बातों में ही शीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं। पर तारीफ़ इस बात की है कि उनको शान्त होते भी देर नहीं लगती और बात की बात में वे फिर हँसने लगते हैं। स्वच्छता उनको बहुत प्रिय होती है। स्वभावतः वे शर्मीले होते हैं और दूसरों के प्रति बड़े आदर का व्यवहार करते हैं। उनकी बोली पड़ोस की कंसवाहिली, बंटू, मामफ़ आदि नीग्रो जातियों की बोली का अपभ्रंश मालूम होती है, किन्तु वे कुछ मौलिक शब्दों का भी बातचीत में प्रयोग करते हैं, जो सम्भवतः उनकी प्राचीन भाषा के बचे-खुचे नमूने हों।

ज़ुलू

दक्षिणी अफ़्रीका के सूरमा

हमारे देश के इतिहास में जिस प्रकार देश, जाति और धर्म पर मर मिटनेवाले राजपूतों की प्राचीन गौरवगाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई हमें मिलती हैं, उसी प्रकार दक्षिणी अफ़्रीका के इतिहास के पृष्ठों पर वहाँ की वीर सैनिक ज़ुलू जाति के शौर्य्य की कहानी अंकित है। जाति और स्वदेश के लिए ज़ुलू जाति के प्राचीन शूरवीरों ने अनेकों बार अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। अपनी जातीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए श्वेत जातियों से लड़ने में ज़ुलू जाति के मुट्ठी भर वीर सैनिकों ने जो अद्भुत रणकौशल प्रदर्शित किया था, उसकी समानता के उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम पाए जाते हैं। असभ्य और जंगली कही जानेवाली इस सैनिक जाति ने अनेकों बार शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये हैं। नये-नये ढंग के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रणदक्ष विदेशियों की समूची सेनाएँ ज़ुलू लोगों की तलवारों के घाट उतर चुकी हैं। शत्रु जातियों ने भी ज़ुलू वीरों के रणकौशल और अदम्य वीरता को अनेक बार मुक्तकण्ठ से सराहा है। योरप की श्वेत जातियों के मुक़ाबले में अपनी शक्ति का असामान्य परिचय देनेवाली ज़ुलू जाति का प्राचीन गौरव अमरत्व प्राप्त कर चुका है और उसे इतिहासज्ञ भूल नहीं सकते।

अफ़्रीका महाद्वीप के दक्षिण-पूर्व तथा 'टोंगालैंड' और नैटाल प्रान्त के बीच में बसा हुआ भूभाग ही 'ज़ुलूलैंड' या ज़ुलू जाति की निवास-भूमि कहा जाता है। यह विस्तृत प्रदेश छोटी-बड़ी पहाड़ियों तथा नीचे पठारों से भरा हुआ है, जो समुद्र-तट तक फैले हुए हैं। समुद्री किनारों पर ऊँची-ऊँची रेतीली पहाड़ियाँ और सघन झाड़ियाँ दिखाई देती हैं, जिनका मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ पाँच सौ फ़ीट की ऊँचाई तक घने अन्धकारपूर्ण जंगलों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रदेश में पानी की कमी नहीं पाई जाती और अनेकों बड़ी-बड़ी नदियाँ भीषण वेग से बहती हुई तथा तट-प्रदेश को सींचती हुई समुद्र से जा मिलती हैं। ज़ुलूलैंड की आबादी अनुमानतः दो लाख से कम नहीं समझी जाती। उन्नीसवीं शताब्दी में ज़ुलू लोगों के सैनिक-राज्य-काल में यह प्रदेश काफ़ी समुन्नत था। प्राचीन ज़ुलू सामन्तों और सूरमाओं ने पास-पड़ोस के अनेक छोटे-बड़े राज्यों को जीतकर अपने देश में मिला लिया था और इस प्रकार ज़ुलूलैंड की सीमा का बहुत विस्तार हो गया था। क्रमशः अफ़्रीका के मध्य-पूर्वी भाग में रहनेवाली बहुत-सी जातियों ने उनसे पराजित होकर उनका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और वे भी ज़ुलू जाति में समा गईं तथा ज़ुलू कहलाने लगीं। ज़ुलू लोगों की बढ़ती हुई सैनिक शक्ति का सामना करनेवाली एक भी जाति सारे अफ़्रीका महाद्वीप में नहीं दिखाई पड़ती थी और धीरे-धीरे अनेक प्रान्त उनके अधिकार में आ गए थे।

सच पूछा जाय तो वास्तविक ज़ुलू जाति की आबादी अधिक नहीं है। यद्यपि वे आरम्भ से ही बड़े वीर सैनिक

रहे हैं, किन्तु अन्य जातियों के सम्पर्क में आकर कालान्तर में ज़ुलू जाति अनेक जातियों का मिश्रण बन गई। आदि ज़ुलू लोग इस प्रदेश में, जिसे ज़ुलूलैंड कहा जाता है, कब और कैसे आए, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। लोगों का अनुमान है कि सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में वे श्वेत अम्फ़ालोसी नदी की घाटियों में बसे हुए थे और उनके एक मुखिया या सरदार का नाम 'ज़ुलू' होने के कारण समस्त जाति का नाम ज़ुलू पड़ गया। अठारहवीं शताब्दी में जो योरपीय यात्री ज़ुलूलैंड में गए उनका कहना है कि 'ज़ुलू लोग बड़े अभिमानी, दुराग्रही और असहनशील ज्ञात होते हैं। अन्य देशी जातियों की अपेक्षा वे भोजन बनाने में अधिक कुशल और सफ़ाईपसन्द हैं। वे अपने शरीर को भी स्वच्छ रखने का बड़ा ध्यान रखते हैं और प्रतिदिन प्रातःकालिक स्नान उनकी धार्मिक क्रियाओं का एक अंग माना जाता है। अपने सिर के बालों को भली प्रकार सँवारने का उन्हें बड़ा शौक़ है। वे अपनी स्त्रियों की गतिविधि का बड़ी कठोरता से निरीक्षण करते हैं।'

मानव-विज्ञान के विद्वानों का कहना है कि ज़ुलू लोग अफ्रीका की बंटू जाति के ही वंशज हैं। अपने शारीरिक डील-डौल तथा वीरता के लिए ये लोग अफ्रीका की सभी जातियों से अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। सन १८७९ ई० तक, जब तक ये लोग स्वतंत्र थे, सैनिक व्यायाम, शिकार, नृत्य, युद्धशिक्षा और शस्त्र-संचालन संबंधी प्रतियोगिताओं में सामूहिक रूप से वे भाग लिया करते थे। इसके अतिरिक्त उनमें पारस्परिक लड़ाइयाँ भी हुआ करती थीं और अवसर पाने पर आस-पास की दूसरी जातियों पर भी आक्रमण करके वे उन्हें अपने अधीन बना लिया करते थे। इन्हीं कारणों से उनकी सैनिक शक्ति और उनका संगठन दूसरों के लिए भयास्पद बना हुआ था। सन १८७० में ज़ुलू लोगों ने विदेशियों से बन्दूक़ें और तोपें भी ख़रीद-ख़रीदकर लड़ाइयों में उनका उपयोग किया। वे आग्नेय शस्त्रों के प्रयोग से परिचित हो जाने के कारण बड़े ख़तरनाक हो उठे और अनेक वर्षों तक अनवरत प्रयत्न करने के बाद दक्षिणी अफ्रीका के ब्रिटिश शासकों ने उनको अपने अधीन करने में सफलता पाई।

ज़ुलू जातिवाले शरीर से हृष्टपुष्ट और मज़बूत होते हैं। वे न तो अधिक लम्बे और न अधिक नाटे ही होते हैं। प्रायः साधारण से अधिक ऊँचे क़द के लोग भी पाए जाते हैं। वे बड़े फुर्तीले, चुस्त और तेज़ भागनेवाले होते हैं। उनका रंग कुछ भूरापन लिये हुए गहरा कत्थई होता है। साधारणतया पुरुष पशुओं की रोएँदार पतली खाल का एक टुकड़ा कमर में लपेटे रहते हैं और स्त्रियाँ पशु-चर्म का ऊँचा घाँघरा पहनती हैं। उत्सव और त्योहार के अवसर पर वे लोग बड़ी आकर्षक और भड़कीली पोशाकें पहना करते हैं। ज़ुलू लोगों का मुख्य शस्त्र 'असे-

लचीली टहनियों को बड़ी चतुराई से बुनकर बनाए जानेवाले ज़ुलू लोगों के झोपड़े का ढाँचा।

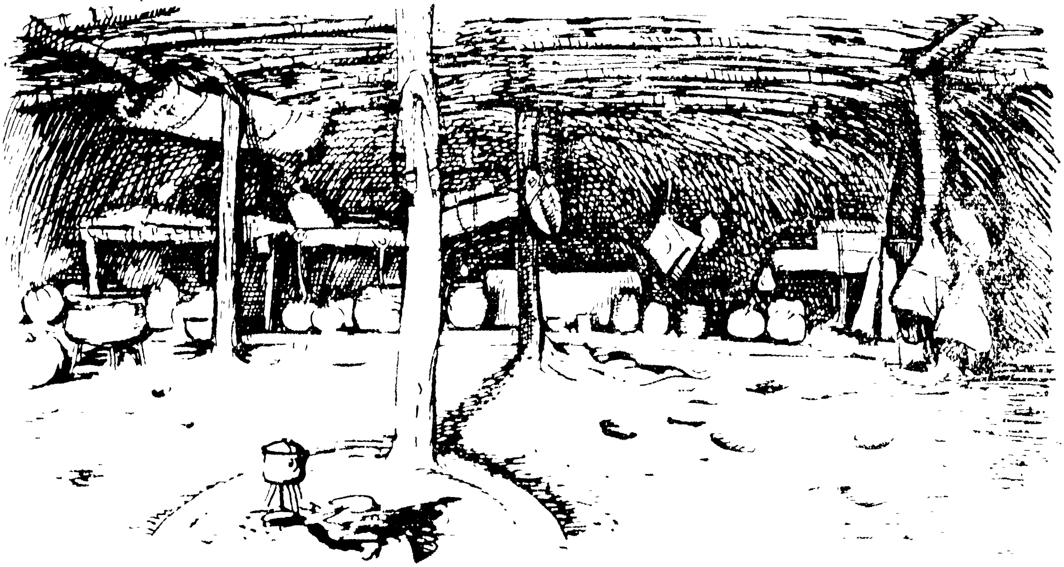

अपने दैनिक उपयोग के साज-सामान सहित ज़ुलू लोगों के झोपड़े का भीतरी दृश्य

गाई' नामक एक हलका भाला होता है, जिसे वे झोंकने के काम में लाते हैं। प्रत्येक सैनिक रणभूमि के लिए प्रस्थान करते समय ऐसे कई भाले अपने साथ लेकर चलता है। ये लोग बैलों की खाल की बड़ी मज़बूत ढालें भी व्यवहार में लाते हैं, जिनके ऊपर प्रत्येक सेना का चिह्नविशेष भिन्न-भिन्न रंगों द्वारा अंकित रहता है।

ज़ुलू लोगों की आबादी कई बस्तियों में बँटी रहती है, जिनको 'क्राल' कहते हैं। प्रत्येक बस्ती या क्राल में एक पूरा कुटुम्ब और उस कुटुम्ब के सम्बन्धी लोग रहते हैं, जो एक ही वर्ग के माने जाते हैं। प्रत्येक क्राल का एक सरदार या प्रधान होता है, जो प्रायः परिवार के बड़े-बूढ़े व्यक्तियों में से चुना जाता है। यही सरदार या प्रधान पूरे क्राल पर शासन करता है और उसी पर क्राल के प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक आचरण का उत्तरदायित्व रहता है। प्रायः एक ही सरदार या प्रधान के शासनाधिकार में एक से अधिक क्राल और बस्तियाँ भी होती हैं। ऐसे ही अनेक सरदारों के ऊपर एक जातीय मुखिया या अधिकारी शासन करता है, जो पुराने ज़माने में राजा की हैसियत रखता था। उस मुखिया के सारे अधिकार आजकल एक ब्रिटिश कमिश्नर के हाथ में हैं, जो ज़ुलू जाति पर शासन करता है। ज़ुलू लोगों के क्राल गोलाकार बाड़े के रूप में बनाए जाते हैं, जिनमें बाहर की ओर एक चहारदीवारी रहती है, जिसमें पालतू पशु रखे जाते हैं। उस चहारदीवारी और बाड़े की परिधि के बीच उनके झोपड़े बनते हैं, जिनमें ये लोग रहते हैं। इनके राजा या शासक का क्राल श्वेत अम्फ़ोलोसी नदी की उपत्यका में अलन्दी नामक स्थान पर बना हुआ था। पहले इनकी प्रायः प्रत्येक उपजाति दूसरी उपजातियों से सर्वथा स्वतंत्र रहा करती थी, किन्तु धीरे-धीरे जब प्रसिद्ध ज़ुलू सरदार तशाका ने अपना प्रभुत्व बढ़ाकर आस-पास की अनेक जातियों को पराजित कर अपने अधीन कर लिया तब सभी उपजातियों ने उसको अपना सरदार मानकर उसका आधिपत्य स्वीकार करते हुए संगठित रूप में एक हो जाना उचित समझा। इस प्रकार तशाका उनका राजा कहलाने लगा और उसके समय से जो शासन-पद्धति चली आती है उसमें अब तक विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

सामाजिक आचार विचार के सम्बन्ध में ज़ुलू लोग अपनी सच्चरित्रता, अतिथि-सत्कार, और सरल स्वभाव के लिए विख्यात रहे हैं। पुराने ज़माने में वे किसी प्रकार का नशा नहीं करते थे और न उनमें चोरी, लूटमार तथा अन्य बुरे कामों का ही चलन था। पर योरपीय जातियों के सम्पर्क में आने के बाद से उनके आचरण और व्यव-

हार में बड़ा परिवर्त्तन आ गया है और वे नई सभ्यता के सभी दोषों को अपनाते जा रहे हैं। उनमें से बहुतेरे लोगों ने ईसाई धर्म भी स्वीकार कर लिया है। व्यापार और उद्योगधन्धों में उनकी रुचि बिल्कुल नहीं है। केवल अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ, लोहे की साधारण चीज़ें, ताँबे, सींग, हड्डी और परों के गहने, टोकरियाँ, चटाइयाँ, लकड़ी पर नक़्क़ाशी का काम आदि बनाना ये जानते हैं। गाय, जंगली बिल्ली, बंदर और अन्य पशुओं के चर्म से वे अपने पहनने के वस्त्र भी तैयार कर लेते हैं। ज़ुलू जातिवाले खेती-पाती करने में ज़मीन जोतने की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। उनकी मुख्य सम्पत्ति उनके ढोर या भेड़ों के गल्ले ही हुआ करते हैं। कहीं-कहीं ज्वार, बाजरा, शकरकंद और तम्बाकू की खेती होती है। इनके देश में सोना, ताँबा, लोहा तथा अन्य धातुएँ पाई गई हैं, किन्तु खनिज उद्योग में ज़ुलू जाति बहुत पिछड़ी हुई है।

ज़ुलू लोगों में एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता है, यदि वह प्रत्येक दशा में वधू का मूल्य, जिसे उनकी भाषा में 'श्रृकुलोबोला' कहते हैं, पूर्ण रूप से चुकाने को तैयार हो। यदि किसी के पास बहुत-से ढोर होते हैं तो वह कई पत्नियाँ रख लेता है। इस प्रकार इनमें विवाह व्यक्ति विशेष के पास पशु-धन के अनुपात से ही हुआ करता है। इसी पशुधन के लिए ज़ुलू लोग अपनी पड़ोसी जातियों तथा श्वेतांगों की बस्तियों पर आक्रमण किया करते थे और जितने भी जानवर हाथ आ जाते, उतने हाँक लाते थे। उनके जातीय नियमों के अनुसार प्रत्येक युवक के लिए स्वतंत्र जीवनयापन करने के हेतु बहुत-से पशु पालना आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए उनको लूटमार करने की छूट दे दी जाती थी। वधू प्राप्त करने के लिए इन लोगों में जो पशु दिए जाते हैं, उनकी संख्या दस से कम नहीं होती। कन्या का पिता यह मूल्य दो कारणों से लेता है। एक तो इसलिए कि वर से यह पशु-धन एक प्रकार की ज़मानत के रूप में लिया जाता है, ताकि विवाह के पश्चात् वह कन्या को दुःख न दे और उसे अच्छी तरह संतुष्ट रखे; दूसरा इसलिए कि कन्या पिता के घर में रहकर घर का जो काम-काज करती थी, वह विवाह के पश्चात् न कर सकेगी, अतएव हर्जाने के तौर पर वर को उस हानि की भरपाई करनी ही चाहिए। इन लोगों में उपजातियों, वर्गों और कुटुम्बों के प्रधान लोग प्रायः सामूहिक निर्वाचन से नहीं चुने जाते, वरन् उनकी यह पदवी पैतृक हो जाती है। मुख्य पत्नी का सबसे बड़ा पुत्र ही इनमें पिता के बाद प्रधान की पदवी प्राप्त करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार-सम्बन्धी बड़े विचित्र नियम इन लोगों में प्रचलित हैं। वह सम्पत्ति मुख्यतः पालतू पशुओं तक ही सीमित रहती है। ज़ुलू लोगों में बहु-विवाह और वधू को वर की ओर से दहेज देने का जो नियम है, उसके कारण किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी का निर्णय करने में प्रायः खून-खराबा तक हो जाता है। वधू को वर की ओर से दहेज देना एक प्रकार से वधू का मूल्य देना समझा जाता है। इस प्रकार विवाह एक सौदे के रूप में होता है, जिसके कारण दहेज और वधू के मूल्य सम्बन्धी झगड़े होना स्वाभाविक ही है।

ज़ुलू महिलाएँ अपना विचित्र केश-विन्यास कर रही हैं

ज़ुलू लोगों में 'हलोनिया' नामक एक सामाजिक नियम प्रचलित है, जिसके अनुसार परिवार की स्त्रियाँ सास-ससुर की उपस्थिति में सामने नहीं आतीं और अपने पति के

परिवार के मुख्य व्यक्तियों का नाम कभी ज़बान से नहीं निकालतीं। पुरुष भी उसी प्रकार अपनी सास या पत्नियों की माताओं के सामने नहीं आते और न अपने श्वसुर-परिवार के प्रमुख व्यक्तियों के नाम लेते हैं।

पुराने ज़माने में ज़ूलू लोगों में स्यानों का बड़ा ज़ोर था, जो अपराधियों का पता लगाने के लिए बुलाए जाते थे। ये जादूगर जघन्य-से जघन्य कृत्य सम्पन्न करते थे और लोगों को विष देकर मार तक डालते थे। ज़ूलूलैंड तथा आसपास के प्रान्तों में किसी ज़माने में उनका बड़ा बोलबाला था, किन्तु एक ज़ूलू शासक ने उन जादूगरों के हाथों से अनेक निरपराधियों को बचाने के लिए जगह-जगह पर रक्षा-गृह बनवा दिए, जिनमें 'अबातागार्ती' या अभियुक्त भागकर शरण लेने लगे। राज्य की ओर से रक्षित होने के कारण अभियुक्तों को उन जादूगरों की अमानुषिक प्रथाओं से पनाह मिलने लगी और धीरे-धीरे उन अत्याचारियों का प्रभुत्व कम हो गया। फिर भी इन स्यानों का प्रभाव इन लोगों में अभी बिल्कुल लुप्त नहीं हो पाया है। अब भी ये इन लोगों के अंधविश्वास का बढ़ावा देकर तरह-तरह से अपना मतलब सीधा किया करते हैं।

ज़ूलू लोग सैनिक का कार्य करने में दिलचस्पी लेने के अतिरिक्त अन्य कामों में बिल्कुल जी नहीं लगाते। वे अपने मकान और झोपड़े तथा काल की चहारदीवारियाँ अवश्य बनाते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई कार्य उन्हें नहीं भाता। अस्त्रशस्त्र बनाने में ही वे अधिक दिलचस्पी लेते हैं। स्त्रियाँ पेड़ों की जटाओं और बाल के रेशों से कपड़े तथा टोकरियाँ बुनती हैं। कभी-कभी मनोविनोद के अभिप्राय से पुरुष गाय दुहने बैठ जाते हैं और थनों में मुंह लगाकर दूध चूस लेते हैं तथा उसे पास में रखी हुई लकड़ी की बाल्टी में उगलते जाते हैं! ज़ूलू अपनी विवाहित स्त्रियों को सुख से रखते हैं और जातीय नियमों के अनुसार ये लोग अपनी प्रत्येक पत्नी को रहने के लिए एक पृथक् झोपड़ा देने को बाध्य होते हैं। फिर भी इनमें स्त्रियाँ एक प्रकार से पुरुषों की दासियाँ ही समझी जाती हैं। प्रत्येक ज़ूलू अपनी पत्नियों को लड़कियाँ पैदा करने का साधन मात्र समझता है, क्योंकि उन्हें बेचकर वह काफ़ी ढोर ख़रीद सकता है। पशुधन की यह तीव्र लालसा ज़ूलू लोगों में बहुविवाह की प्रथा के प्रचार का एक मुख्य कारण है। जिस पुरुष के कम-से-कम चार पत्नियाँ न हों उसे ज़ूलू लोग पुरुष नहीं मानते और उसे समाज में अत्यन्त तुच्छ और अवहेलना का पात्र समझते हैं। पुराने ज़माने में राजा के आदेशानुसार जो सयानी लड़कियाँ किसी से प्रेम हो जाने पर अथवा अन्य व्यक्ति से वचन हार जाने की वजह से विवाह करने से इन्कार करती थीं, उन्हें तुरंत मृत्यु-दण्ड दिया जाता था! व्यभिचार के लिए भी बड़े भयानक दण्ड का विधान था। कोई भी विवाहित या अविवाहित स्त्री-पुरुष परस्पर स्वेच्छाचारिता का व्यवहार करने पर दण्डित होते थे। ऐसे ही राजकीय नियमों से बचने के लिए बहुतेरे युवक और युवतियाँ उन दिनों स्वदेश छोड़कर अन्य प्रदेशों में जा बसते थे।

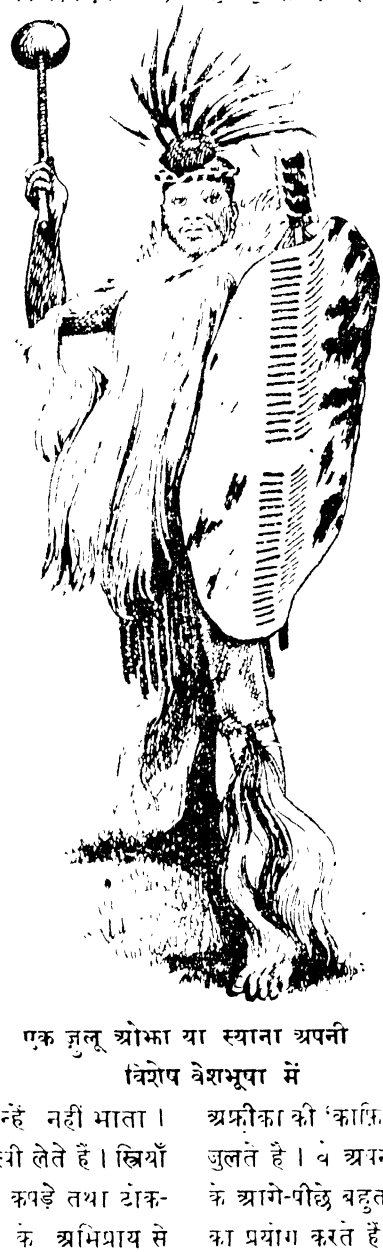

एक ज़ूलू ओझा या स्याना अपनी विशेष वेशभूषा में

ज़ूलू लोगों के रीति-व्यवहार अफ्रीका की 'काफ़िर' नामक जातियों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। वे अपनी जाति के प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामों के आगे-पीछे बहुत से आलंकारिक शब्दों तथा उपनामों का प्रयोग करते हैं, जो उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए होते हैं। ज़ूलू लोगों की बोली ही आलंकारिक शब्दों

का एक भांडार है। उनका अपना कोई साहित्य नहीं है और न उनमें अधिक मौखिक दन्तकथाएँ ही हैं। उनमें देवताओं तथा स्वर्गीय शूरवीरों की गौरव-गाथाएँ भी नहीं मिलतीं। प्राचीन घटनाओं की तिथियाँ और तारीख़ें वे जानते ही नहीं। अतएव उनके प्रसिद्ध सम्राट् तशाका के पहले का कुछ भी इतिहास नहीं मिलता। केवल कुछ कही-सुनी बातों पर ही लोगों को विश्वास करना पड़ता है।

इनके धार्मिक विचार भी अफ्रीका की अन्य जातियों के समान ही हैं। ये लोग 'इतांगो' नामक एक सर्व-प्रधान देवता के अस्तित्व को मानते हैं, जिसे वे सारी सृष्टि और संसार का स्वामी और पिता कहते हैं। इनकी धारणा है कि किसी ज़माने में इतांगो पृथ्वी पर रहता था और वही उनकी समस्त जातियों तथा उपजातियों का आदिम पिता है। ये लोग अपने मृत राजाओं, शूरवीरों और तशाका के समान दिग्विजयी सरदारों को देवता मानकर पूजते हैं। पशुओं में ये सिंह और हाथी को सर्वश्रेष्ठ मानकर इनकी भी उपासना करते हैं। उनके अपने कोई मन्दिर या पूजा के स्थान नहीं होते और न

एक ज़ुलू ओझा अनावृष्टि के समय जादू द्वारा वर्षा का आह्वान कर रहा है!

अधिक पूजा-पाठ ही होता है। केवल ऋतुओं के परिवर्तन पर बड़े समारोह के साथ आनन्द मनाया जाता है, जिनमें राजा ही प्रधान पुरोहित का आसन ग्रहण करता है। प्रति वर्ष जनवरी मास की पहली तारीख़ को ज़ुलू लोग गर्मियों का एक त्योहार-विशेष मनाते हैं जिसे 'शूक्वेचवाना' कहते हैं। इस अवसर पर खेतों में ज्वार तैयार होती है और उसी के उपलक्ष में इस विराट् समारोह का आयोजन सामूहिक रूप से किया जाता है। उस दिन राजा अपनी सेना का निरीक्षण करता है और सैनिकों को विवाह करने के आज्ञापत्र वितरित करता है। इसके बाद वह अपने पूर्वजों की आत्माओं को सन्तुष्ट करने के लिए (जिनका अस्तित्व अन्तरिक्ष में तथा साँपों में माना जाता है) कुछ धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता है। फिर एक बड़ा-सा साँड़ पकड़कर लाया जाता है, जिसे नवयुवक लोग ही पकड़ते हैं और बिना किसी शस्त्र के, केवल हाथों द्वारा, उसका बलिदान करते हैं। वे लोग साँड़ को गिराकर उसका दम घोटकर मार डालते हैं। यह सब होने के बाद राजा एक बहुत-बड़े तूँबे या लौकी

ज़ुलू लोगों के एक नृत्य का दृश्य

के फल को तोड़ देता है, जिसका अर्थ यह समझा जाता है कि पुराना साल समाप्त हुआ तथा नया आरम्भ हो रहा है। ज़ुलू जाति की सैनिक शक्ति को सदा संगठित और उसको तैयार रखने के लिए इसी प्रकार प्रत्येक त्योहार के अवसर पर सैनिकों की क़वायद तथा उनका निरीक्षण किया जाता रहा है। यह बात उल्लेखनीय है कि ज़ुलू लोगों ने अफ़्रीका की अन्य कई जातियों से अनेक बार लोहा लेकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की है।

पिछली शताब्दी तक ज़ुलू जाति में बड़े विचित्र ढंग की न्याय करनेवाली अदालतें हुआ करती थीं। किसी बड़े काल में वादी, प्रतिवादी तथा उनके पक्ष के लोग जब पर्याप्त संख्या में इकट्ठा हो लेते थे तब उनका राजा या प्रधान सरदार न्यायाधीश का आसन ग्रहण करता था। इसके बाद अभियोग-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर पूछे जाते थे, जिनमें प्रत्येक पक्ष के लोग, वादी-प्रतिवादियों के मित्र तथा बन्धु-बान्धव इतना हल्ला और शोर मचाते थे कि बेचारे न्यायाधीश का सिर चक्कर खाने लगता था। उपस्थित दलों में वाक्युद्ध होते-होते लात-घूँसों तक की नौबत आ जाती थी और जो दल इन सब दुर्घटनाओं को झेलकर अपनी आवाज़ ऊँची कर लेता था, उसी की बात सुनी जाती थी! दोनों पक्षों का तर्क-वितर्क सुनकर तथा गुलगपाड़े से ऊबकर न्यायाधीश एकान्त में चला जाता था और कभी-कभी अपने ही घर में जाकर आश्रय लेता था। वहाँ इतमीनान से बैठकर वह ध्यान लगाकर अपने पूर्वजों की आत्माओं का आवाहन करता था, जो उसकी धारणानुसार उसे न्याय करने में सफलता देती थीं। काफ़ी देर तक सोच-विचार के बाद और नाग देवताओं की आराधना करने के उपरान्त वह न्यायासन पर पुनः लौटकर अंत में अपना फ़ैसला सुनाता था, जो प्रायः ख़ूब चिल्लानेवाले पक्ष के ही अनुकूल हुआ करता था। किन्तु अब इन लोगों में भी आधुनिक ढंग से ही न्याय किया जाने लगा है।

संसार की अन्य आदिम जातियों की भाँति ज़ुलू लोगों की भी जादू-टोने और मंत्र-तंत्र पर काफ़ी श्रद्धा पाई जाती है और इसी कारण वे लोग अपने सभी दुःख-दर्दों को दूर करने के हेतु प्रायः अपने उन स्यानों या ओझों की शरण लेते हैं, जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये स्याने बड़े विचित्र ढंग की भयावनी पोशाक पहनते हैं और झाड़-फूँककर रोगी का रोग दूर करने या भूत-प्रेत की बाधा मिटाने के कार्य से लेकर केवल मंत्र के बल पर वर्षा बुलाने, या किसी को मार डालने तक का दावा करते हैं। सच तो यह है कि ये लोग इसी प्रकार लोगों के अंधविश्वास का अनुचित लाभ उठाते हुए अपना निजी मतलब गाँठते रहते हैं। इन स्यानों या जादूगरों से जनसाधारण बहुत भयभीत रहते हैं और उन्हें हर तरह से प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं। ये स्याने न केवल झाड़-फूँक ही करते हैं, बल्कि रोगों के लिए विविध जड़ी-बूटियों का दवा के तौर पर प्रयोग भी करते हैं।

ऑस्ट्रेलियन

संसार के सबसे अधिक पिछड़े हुए लोग

आज के युग में यदि कोई कहता है कि ऑस्ट्रेलिया में जंगली मनुष्यों की बस्तियाँ भी हैं तो सहसा हम विश्वास न करेंगे। ऑस्ट्रेलिया एक सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत भूभाग गिना जाता है, जहाँ बड़े-बड़े नगर, कल-कारखाने, खदानें, रेलें, बंदरगाह सभी-कुछ हैं। परन्तु साथ ही यह भी सच है कि उसके सुदूर भीतरी प्रान्तों में घने जंगलों के बीच अनेकों असभ्य जातियाँ भी निवास करती हैं, जो उस महाद्वीप को गोरों के आगमन से पहले ही से आबाद किए हुए हैं। इन जातियों के लोग गहरे ताम्रवर्ण या मटमैले भूरे रंग के होते हैं और स्थान-भेद के अनुसार उनमें बहुत बड़ी पारस्परिक भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी विक्टोरिया, न्यू साउथ वेल्स और क्वीन्सलैंड प्रान्त के निवासियों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। किसी जाति के लोगों के केश सीधे और खड़े होते हैं तो किसी के घुँघराले। कुछ व्यक्ति खूब घने और उलझे बालोंवाले भी मिलते हैं। इसी प्रकार उनके शरीर की बनावट में भी बड़ा अन्तर पाया जाता है। किसी जाति के लोग काफ़ी सुडौल शरीरवाले और छः फ़ीट तक लम्बे पाए जाते हैं तो अन्य जातिवाले अपेक्षाकृत नाटे होते हैं। इनकी आकृति में भी भेद होता है। एक प्रदेश के निवासी देखने में बड़े भौंडे और खूँखार होते हैं तो दूसरे प्रान्त के रहनेवाले अपेक्षाकृत सुन्दर आकृति के दिखाई देते हैं। सच पूछा जाय तो ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी वैज्ञानिकों के लिए एक पहेली बन गए हैं। कुछ विद्वानों की राय में वे अफ़्रीका की नीग्रो जाति से मिलते-जुलते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन लोगों की अधिकांश जातियों के मनुष्य एशिआई छाप लिये हुए हैं और दक्षिणी भारत तथा मलाया के निवासियों से उनका आदिम संबंध जान पड़ता है। पिछले अनेक वर्षों से मानव-शास्त्र के विद्वानों ने उनकी आदि जन्मभूमि के विषय में छानबीन की है। परन्तु वे किसी भी एक निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। इन लोगों की इतनी जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं कि उनकी पारस्परिक भिन्नता देखकर कोई भी उनके प्राचीन इतिहास का पता नहीं लगा सकता। ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी समुद्र-तट से यदि पाँच सौ मील का एक घेरा खींचा जाय तो उसमें भाषा, वर्ण और आकृति में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न अनेकों आदिम जातियाँ मिलेंगी। हम उनमें से एक अधिक परिचित जाति का ही उल्लेख यहाँ करेंगे, जिसके विषय में बहुत-कुछ जाना जा चुका है। इस जाति के लोगों का शरीर दुबला-पतला, माथा छोटा, भौंहें झुकी हुई, नाक चौड़ी व चिपटी, होंठ मोटे, जबड़ा बड़ा और ठुड्डी छोटी व पीछे को झुकी होती है। उनके चेहरे पर घनी मूँछ और दाढ़ी होती है तथा आकृति बिल्कुल आकर्षक नहीं होती।

एक ऑस्ट्रेलियन पुरुष

दूसरे देशों की जंगली जातियों की अपेक्षा ऑस्ट्रेलिया

के आदिम निवासी विशेष रूप से अविकसित और अबोध होते हैं। यह उनकी जातिगत न्यूनता है। अन्य देशवासियों की अपेक्षा वे दस्तकारी के कामों में बिल्कुल अनभिज्ञ होते हैं। लिखना तो दूर रहा वे गिनती भी नहीं लगा पाते हैं। वे लोग अपनी जातिवालों के बीच ही संतुष्ट रहते हैं और अपने परिवार का बिछोह सहन नहीं कर सकते। उन लोगों की प्रत्येक जाति में बड़े-बूढ़ों की एक समिति बनाई जाती है, जिसका एक नेता या सरदार चुना जाता है। इसी समिति के अधीन ये रहते हैं।

आस्ट्रेलिया के चारों ओर प्रशान्त महासागर की लहरें टकराया करती हैं, किन्तु हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि वहाँ के आदिम निवासियों में बहुत-कम लोग ऐसे हैं, जो नावें बनाना जानते हैं। हाँ, आवश्यकता के समय वे लकड़ी के [illegible] को एक-दूसरे से बाँधकर बेड़ा-जैसा तैयार कर लेते हैं। कहीं-कहीं वृक्ष की छाल से भी नावें बनाई जाती हैं। जिन प्रदेशों में 'यूकेलिप्टस' नामक ऊँचे वृक्ष अधिक होते हैं, वहाँ के निवासी इस वृक्ष की छाल और टहनियों से अपने झोपड़े बनाते हैं। यूकेलिप्टस की छाल के अनेक उपयोगों में से नौकाएँ और डोंगियाँ बनाने का कार्य विशेष महत्व का है। मान लीजिए, ऑस्ट्रेलिया का कोई आदिम निवासी यात्रा के विचार से घर से निकला। चलते-चलते राह में कोई बड़ी-सी नदी उसे मिली, जिसके ऊपर कोई पुल वगैरह न हो। तेज़ लहरों को काटकर तैरते हुए उस पार जाना असंभव हो रहा है। ऐसी दशा में तत्काल ही अपनी विचित्र सूझ से वह एक अस्थायी नौका बना लेता है। आप पूछेंगे—कैसे? वह पास में उगे हुए यूकेलिप्टस के वृक्षों के निकट जाकर उनकी परीक्षा करता है। जिस वृक्ष की छाल उसको सीधी और ऐंठन-

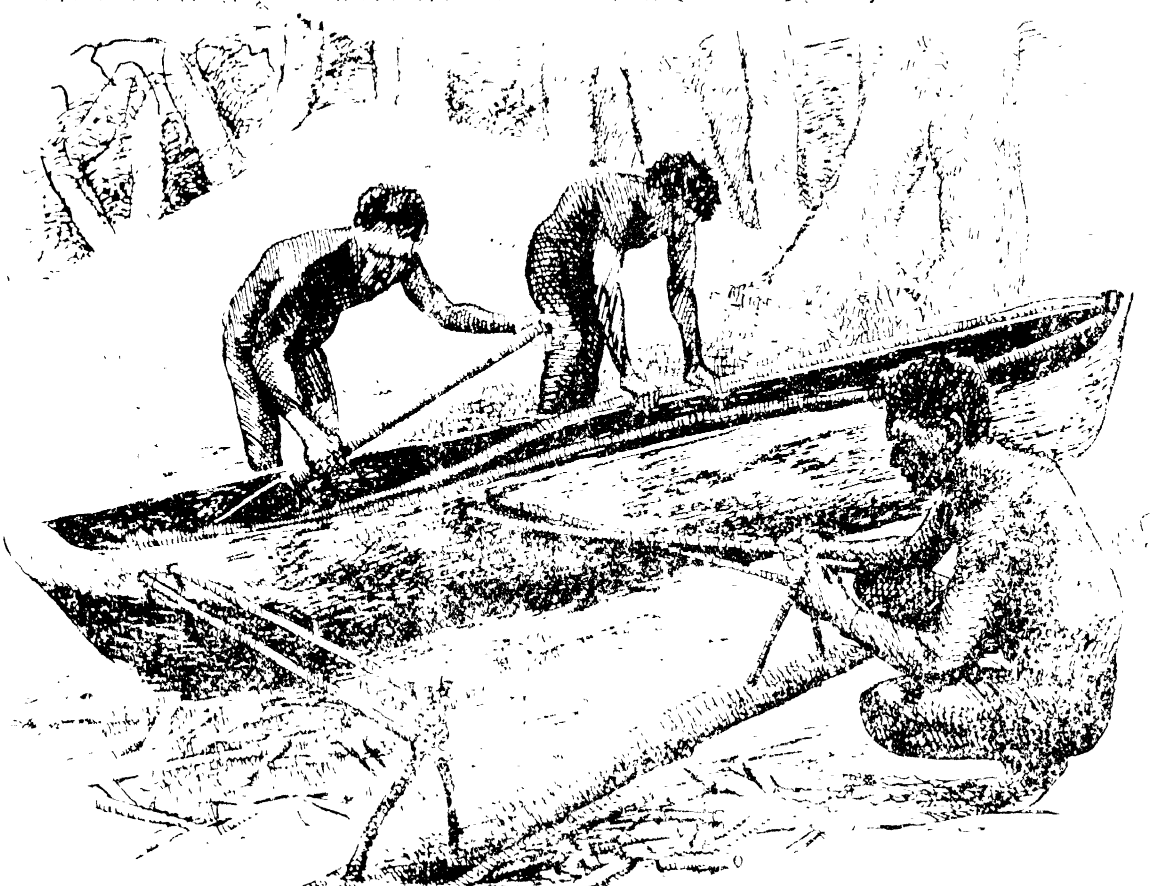

ऑस्ट्रेलियन अपनी आदिम पद्धति से वृक्षों की मोटी छाल और टहनियों द्वारा अपनी भोंड़ी नौका बना रहे हैं

रहित जान पड़ती है उसी के तने के चारों ओर वह अपनी कमर में बँधा हुआ छुरा निकालकर एक गोलाकार रेखा कुछ गहराई तक खींच देता है। इसी रेखा से सात-आठ फ़ीट ऊपर एक और वैसी ही रेखा वह खींचता है। इसके बाद, एक खड़ी रेखा वह वृक्ष के एक ओर तथा दूसरी ओर खींचता है। दोनों रेखाओं के छोर गोल वृत्तों के छोरों से मिले रहते हैं। इस प्रकार वृक्ष की छाल कट जाती है। तदुपरान्त वह अपने बेल्चे या कुल्हाड़ी के दस्ते को छाल तथा वृक्ष के तने की सन्धि में घुसेड़कर धीरे-धीरे आगे को खींचता जाता है। बात-की-बात में दो अर्ध-बेलनाकार कठौतों-जैसे खण्ड अलग होकर गिर पड़ते हैं। यदि वह यात्री अकेला हुआ तब तो इन दोनों छाल के कठौतों को मूँज या रेशों की रस्सी से दोनों सिरों पर आपस में जकड़कर नदी के जल में उतार देता है और उन्हीं की सहायता से उसके पार पहुँच जाता है। पर यदि उसकी स्त्री अथवा अन्य कोई इष्टमित्र साथ में हुआ तो वह नदी के किनारे पानी में उतरकर तह की मिट्टी निकाल लाता है और उसे ख़ूब अच्छी तरह कूट-कूटकर छाल के कठौतों के छोरों पर लगाकर तब उनको आपस में रस्सी से जकड़ता है, जिससे वे ज़्यादा मज़बूत और विश्वसनीय हो सकें। बस, उसकी डोंगी तैयार हो जाती है। ज्योंही वह उस पार पहुँचता है, त्यों ही वह अपनी नवनिर्मित नौका को पुनः पानी में ढकेल देता है। वह जानता है कि दूसरी बार इसका उपयोग करने में उसे जितना ख़तरा रहेगा, उसकी अपेक्षा लौटते समय एक नई नौका बना लेने का श्रम उठाना उसके लिये श्रेयस्कर होगा।

यदि उसे मछलियाँ पकड़ने के लिए जाने को नाव की ज़रूरत होती है तो वह समझता है कि नाव ज़्यादा मज़बूत होनी चाहिए। अतएव वह यूकेलिप्टस की छाल को नमी और आँच पहुँचाकर सावधानी से झुकाता है और बढ़िया क़िस्म की मिट्टी लाकर उसमें लगाता है। थोड़ी-सी गीली मिट्टी वह नाव में रख लेता है, जिसमें यदि कहीं रास्ते में नाव में छिद्र हो जाय और पानी भरने लगे तो उस मिट्टी के द्वारा छिद्र बन्द करने में सुभीता रहे। ज़्यादा मज़बूती के विचार से वह इस नाव में कभी-कभी आड़े-तिरछे लकड़ी

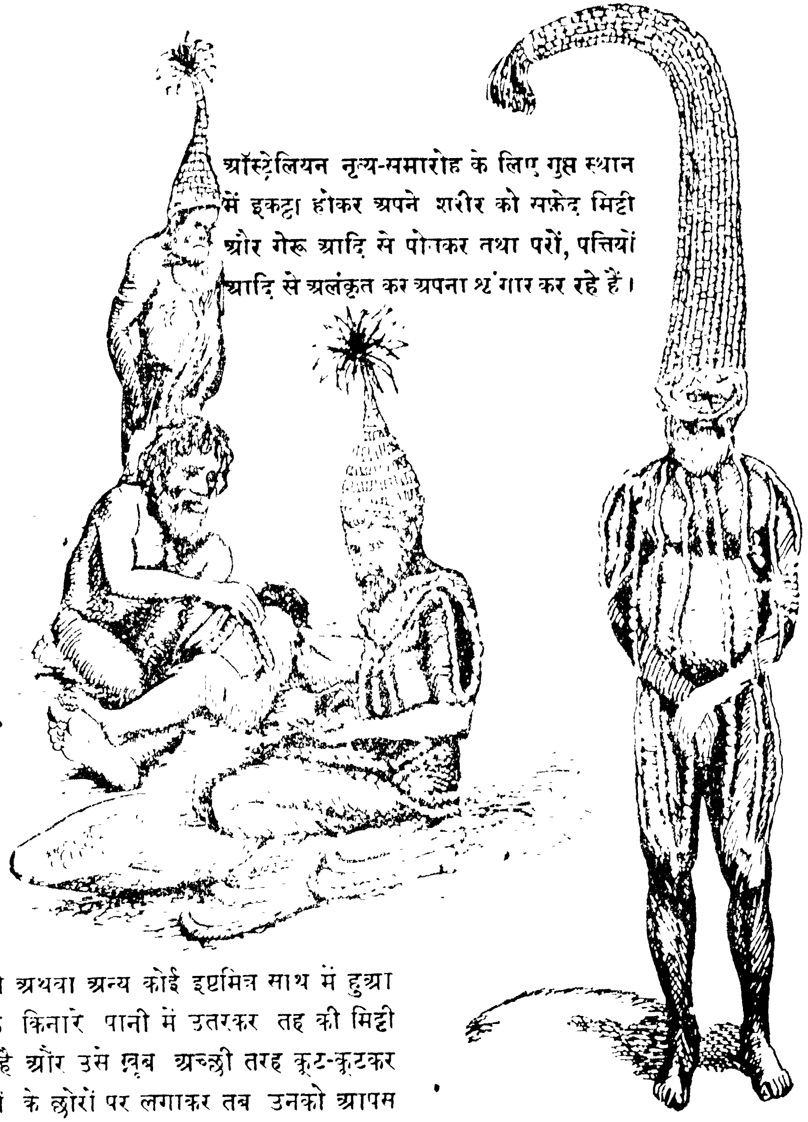

ऑस्ट्रेलियन नृत्य-समारोह के लिए गुप्त स्थान में इकट्ठा होकर अपने शरीर को सफ़ेद मिट्टी और गेरू आदि से पोतकर तथा परों, पत्तियों आदि से अलंकृत कर अपना शृंगार कर रहे हैं।

के ठूँठ या पेड़ों की मोटी टहनियाँ भी ऊपर से बाँध देता है। जिनकी गाँठों और सिरों पर कुटी हुई मिट्टी लगा दी जाती है। इस प्रकार की नावों को चलाने के लिये वह डाँड़ भी बना लेता है, जो किसी भी वृक्ष की मोटी शाखाओं से तत्काल ही बनाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय जातियों में वृक्ष के तने को कुरेदकर या जलाकर खोखला करके बड़ी नौका या डोंगी बनाने का भी चलन पाया जाता है।

एक ऑस्ट्रेलियन नौका पर चढ़कर बर्छे से मछली का शिकार कर रहा है

आपने पढ़ा ही होगा कि ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप में पशु-पक्षियों की संख्या इतनी कम है कि वहाँ खाली उनके ही शिकार पर अवलम्बित रहना किसी के लिए सम्भव नहीं। इसीलिए वहाँ के जंगली जाति के लोग गिरगिट, साँप, मेढक, छिपकली और कीड़े-मकोड़े तक खाकर अपना पेट पालते हैं। वे लोग कंगारू आदि बड़े पशुओं का शिकार नहीं कर पाते। पेड़ों में खाने योग्य फलों की पैदावार बहुत कम होती है और खेती करना तो वे लोग जानते ही नहीं। वहाँ की जंगली जाति के किसी भी आदमी को देखिए—वह ऊसर भूभागों में भ्रमण करता हुआ शिकार की खोज में निरन्तर भटकता रहता है। उसकी इस चेष्टा ने ही उसे देखने और सूँघने की असीम शक्ति प्रदान की है। इतना ही नहीं, छिपे हुए शिकार को खोज निकालने की अद्भुत क्षमता उसकी अपनी एक विशेषता है।

विविध प्रकार के अंधविश्वास की मात्रा इन लोगों में इतनी अधिक होती है कि एक लेखक लिखता है कि 'हम और आप अपने दैनिक जीवन में जिन साधारण वस्तुओं और घटनाओं की ओर ध्यान तक नहीं देते, उनमें भी ऑस्ट्रेलिया का जंगली मनुष्य कुछ-न-कुछ पा लेता है। उसका दृष्टिकोण हमसे सर्वथा भिन्न होता है। हमारी आँखें जिसे एक साधारण बिन्दु जानती है वहाँ पर ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी को ज्ञान का एक पृष्ठ दिखाई देता है!' कोई स्थानभ्रष्ट पत्थर का टुकड़ा, उलटी पड़ी हुई वृक्ष की पत्ती, टूटी हुई टहनी, पथरीली चट्टान पर पड़े हुए बालू के दस-पाँच कण—सभी उसे उस मार्ग पर होनेवाली किसी-न-किसी घटना का संकेत करते हैं, अथवा किसी अन्य बात के सूचक होते हैं! घोड़े के सुमों के निशान देखकर वह तुरन्त बतला देगा कि घोड़ा बड़ा है या छोटा, या किस क़िस्म का है, और उसे उस स्थान से गए कितनी देर हुई होगी। ज़मीन में खुदे हुए गड्ढे या पेड़ के तने में कटे हुए खाँचे को देखकर वह जान लेगा कि किस जाति के मनुष्य ने वह कार्य्य किया है। कुछ ऐसे भी जंगली लोग पाए जाते हैं जो मनुष्य के पैरों के चिह्न देखकर यह बता देते हैं कि वह मनुष्य सीधा चलता है या लँगड़ाता है और इस विषय में उनका अनुमान सत्य ही निकलता है! झाड़ियों में छिपे हुए शिकार को खोज निकालने में ऑस्ट्रेलिया का जंगली मनुष्य कमाल कर दिखाता है। यह उसकी जातिगत विशेषता है, क्योंकि बचपन से ही खेल-कूद के साथ-साथ छोटे-छोटे पक्षियों और कीड़ों को झाड़ियों में से ढूँढ़ निकालना वह सीख लेता है। उसका वही अभ्यास वयस्क होने पर पूर्णता प्राप्त करता है। वह पशु-पक्षियों की आदतों से भी परिचित हो जाता है और इस विषय का इतना अभ्यास उसे हो जाता है कि उनके पैरों के निशान देखकर ही वह बता देता है कि यह अमुक पशु-पक्षी का पदचिह्न है। इन जंगली जातियों की लड़कियाँ भी इस बात में लड़कों से पीछे नहीं रहतीं। वे भी शिकार खोजने में बड़ी प्रवीण और चतुर होती हैं।

ऑस्ट्रेलिया की प्रत्येक जंगली जाति कई भिन्न-भिन्न वर्गों या उपजातियों में विभाजित है। उन उपजातियों या वर्गों में से प्रत्येक का नाम किसी पशु-पक्षी, वृक्ष या पौधे के नाम पर रखा जाता है। इसी विचित्र व्यवस्था के आधार पर उनके सामाजिक नियमों की रचना हुई है, जिनका विवाह के अवसर पर विशेष ध्यान रखा जाता

है। उन्हीं नियमों के अन्तर्गत उदाहरणतः 'कंगारू' वर्ग का पुरुष उसी वर्ग की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। उसे किसी 'गिलहरी' या 'चूहा' वर्ग में से अपनी सहधर्मिणी को खोज निकालना होता है। उपरोक्त समाज-व्यवस्था के साथ-साथ ऑस्ट्रेलियनों का मंत्र-तंत्र तथा जादू-टोने में भी बड़ा विश्वास है। वे अपने चारों ओर के वातावरण में दुष्ट आत्माओं का निवास मानते हैं। इसी कारण प्रत्येक जाति में एक जादूगर या ओझा होता है, जो लोगों की सहायता करता है। बीमारी आने पर वही ओझा जादू के ज़ोर से बीमारी का कारण दूर कर देता है! जब शत्रु से बदला लेने की आवश्यकता आ पड़ती है, तब भी ये जंगली मनुष्य उसी ओझा या जादूगर की सहायता से षड्यंत्र द्वारा अपने शत्रु के घर में बीमारी, दुर्भाग्य या मृत्यु का प्रकोप प्रकट करवाते हैं! जादू का एक विशेष रूप उनमें बहुत प्रचलित है, जिसे एक तरह का टोना कह सकते हैं। यह जादू किसी नुकीले हड्डी के टुकड़े या पतली छड़ी से किया जाता है। पहले उस हड्डी या छड़ी पर विधिपूर्वक मंत्र फूँका जाता है, फिर रात के अँधेरे में उसे चुपचाप ले जाकर सोते हुए शत्रु के ऊपर उससे संकेत करते हुए मंत्र पढ़ते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने पर जादू शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे मार डालता है। इस जादू का प्रभाव किसी ओझे या जादूगर के अलावा दूसरा नहीं दूर कर सकता। जादू के और भी बहुत-से प्रयोग उनमें प्रचलित हैं। पानी बरसाने या भोजन का अभाव दूर करने के लिए भी जादू किया जाता है। पानी बरसाने के लिए जादूगर अपने मुँह में पानी भरकर मंत्र पढ़ता हुआ कुल्ले करता है। भोजन का अभाव दूर करने के लिए जादू का प्रयोग इस भाँति होता है कि प्रयोग करनेवाले लोग कंगारू, एमू, गिरगिट, साँप आदि की आकृतियों की पोशाकें पहनकर नाचते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से उपरोक्त जानवरों और कीड़ों की पैदावार बढ़ जाती है और उन्हें शिकार मिलने लगता है।

इन जंगली जातियों के धार्मिक कृत्यों तथा जातीय संस्कारों में नृत्य का विशेष स्थान है। सयाने लड़कों के लिए युवावस्था प्राप्त करने पर दीक्षा लेने का विधान प्रचलित है। यह संस्कार बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया जाता है, जिसके अवसर पर जाति के सभी मनुष्य एकत्रित होते हैं। प्रायः यह कृत्य रात्रि के समय होता है, जब चाँदनी अच्छी तरह छिटकी रहती है। नृत्य करनेवालों के बीच में जगह-जगह आग जलाई जाती है, जिससे प्रकाश का अभाव न रहे। ऐसे समारोह को "कारोबूरी" कहते हैं। "कारोबूरी" की विशेषता यह है कि स्त्रियाँ और छोटे बच्चे उसमें सम्मिलित नहीं किए जाते। समारोह के आरम्भ की सूचना देने के लिए रस्सी के सिरे पर एक खोखला लकड़ी का टुकड़ा बाँधकर हवा में चारों ओर फिराया जाता है, जिससे बैलों के रंभाने-जैसा ऊँचा शब्द निकलता है। उस शब्द को सुनकर स्त्रियाँ और बच्चे दूर ही रहते हैं और उस स्थान पर नहीं जाते, जहाँ पर दीक्षा-संस्कार का गुप्त कार्य सम्पन्न किया जाता है। उस अवसर पर नाचनेवालों का शृंगार देखते ही बनता है। वे लोग अपने पैरों, हाथों और केशों को घास-फूस तथा पत्तों से खूब सजाते हैं। वे अपने बदन पर ऊपर से नीचे तक सफ़ेद मिट्टी या गेरू पोतकर उसे फूलों, पत्तियों या पक्षियों के परों से अलंकृत करते हैं। किसी के बदन पर नर-कंकाल की आकृति श्वेत धारियों से बनी होती है तो किसी के सीने तथा हाथ-पैरों पर सर्पों के चित्र खिंचे रहते हैं। कारोबूरी में सम्मिलित इस प्रकार के नाचनेवालों की आकृतियाँ जलती हुई आग के प्रकाश में बड़ी भयानक मालूम होती हैं। नाच के साथ-साथ बड़े करुण स्वर में लोग गाते भी जाते हैं। कभी-कभी उनका नाच लगातार चार-पाँच दिनों तक चलता ही रहता है।

कारोबूरी नृत्य की योजना कभी-कभी केवल मनोविनोद के अभिप्राय से भी की जाती है। ऐसे अवसरों पर यह नृत्य एक प्रकार के नाटक की शैली पर रचा जाता है। इस नृत्य में पशुओं के आक्रमण का अभिनय भी किया जाता है। पुरुष ही पशुओं का स्थान लेते हैं, जिनको आक्रमणकारी दल अचानक आकर घेरता है। कुछ भालों और बर्छों से मारे जाने का अभिनय करते हैं और उनकी मृत देह मानो काटी जाती है! फिर उसी अवसर पर एक तीसरा दल आता है, जो श्वेत जाति के पशु-पालकों का समझा जाता है। जंगली लोग मानो उनसे युद्ध करते हैं और उनको मार भगाते हैं। इसी भाँति शिकार के प्रदर्शन का भी कारोबूरी नृत्य होता है,

जिसमें कुछ अभिनेता कंगारू या एमू नामक जंतुओं का पीछा करते दिखाई देते हैं। समुद्री तट पर नौका-नृत्य भी होता है। लोग डाँड़ों की जगह लम्बी-लम्बी लकड़ियाँ हाथों में लेते हैं और ताल देते हुए दाहिने-बाएँ हिलते-डुलते हैं, जिससे नौका के चलने का बोध होता है।

ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों का यह वर्णन अधूरा ही रह जाता है, यदि हम दुश्मन को घायल कर फेंकनेवाले के पास वापस चले आनेवाले उनके विचित्र अस्त्र 'बूमरेंग' का उल्लेख यहाँ न करें। बूमरेंग कई तरह का बनता है। लौटनेवाला बूमरेंग वास्तव में एक खिलौना होता है, जिसे केवल छोटे-छोटे पक्षियों को मारने के लिए व्यवहार में लाया जा सकता है। पर लड़ाई में प्रयोग किया जानेवाला बूमरेंग सचमुच ही एक बड़ा भयानक अस्त्र होता है। वह ऐसे अवसर पर काम में लाया जाता है, जब शत्रु झुका हुआ हो। उस समय उसे ढाल के नीचे से फेंकते हैं। वह दो सौ गज़ तक आदमी को मार सकता है और ये जंगली लोग असाधारण कौशल तथा लाघवता से उसे फेंकते हैं। इस आश्चर्यजनक अस्त्र के अतिरिक्त उन लोगों के और हथियार अच्छे नहीं बनते। उनके बर्छे, डंडे और छोटे भाले, बहुत ही बेडौल और भद्दे होते है, जिनके सिरे पर पत्थर, लकड़ी या हड्डी की नोक लगी रहती है।

विचित्र वेष धारण कर विविध पशु-पक्षियों की नक़ल में आग के चारों ओर नृत्य करते हुए ऑस्ट्रेलियन

ऑस्ट्रेलिया की इन जंगली जातियों की, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, संख्या दिनोंदिन घटती जा रही है और नई सभ्यता के प्रकाश में उनका अस्तित्व मिटता-सा दिखाई देता है। आज से तीस-पैंतीस साल पहले उनकी आबादी चालीस हज़ार के लगभग थी। पर बीमारियों के प्रकोप तथा अन्य कारणों से उनका बड़ा ह्रास हुआ और अब उनकी तादाद बहुत कम रह गई है। उनमें सबसे अधिक जंगली जाति, जो उत्तरी प्रदेशों में रहती है, अभी भी बड़ी शक्तिशाली है। उसके मनुष्य शारीरिक दृष्टि से बड़े मज़बूत और लम्बे-चौड़े होते हैं। ऑस्ट्रेलिया के मध्य भाग में रहनेवाली अरुन्ता जाति के लोग भी अन्य निवासियों की अपेक्षा अधिक हृष्ट-पुष्ट और दीर्घाकार पाये जाते हैं।

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के वे सब प्रदेश जहाँ आदिम निवासियों की बस्तियाँ हैं, सरकारी क़ानून द्वारा सुरक्षित कर दिए गए हैं और इन लोगों की सुरक्षा का यथेष्ट ध्यान रखा जाता है। उनको सुविधाएँ देकर सभ्यता के पथ पर लाने के लिए भी शासक-वर्ग सदा प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक सभ्यता का संसर्ग इन लोगों के लिए घातक ही सिद्ध हो रहा है। वस्तुतः ये जिस प्रकार अब तक रहते चले आ रहे हैं उसी प्रकार रहते रहें तभी अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ होंगे ऐसा प्रतीत होता है। यह बात केवल इन्हीं लोगों पर ही लागू नहीं होती, प्रत्युत् संसार की अधिकांश आदिम जंगली जातियों के विषय में कही जा सकती है, जैसा कि इसी पुस्तक में दिए गए अन्य जातियों के विवरण से पता चलता है।

पापुत्रान

न्यूगिनी की एक मनोरंजक आदिम जाति के प्रतिनिधि

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के पास ही एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिसे न्यूगिनी का नाम दे दिया गया है। आज से ३०० वर्ष पहले, जब योरपीय जातियों ने पहलेपहल उस द्वीप में पैर रखा, उस समय वहाँ खूब घने और गुथे हुए बालोंवाली एक जंगली जाति के मनुष्यों को उन्होंने रहते देखा, जिन्हें वे 'पापुत्रान' कहने लगे। ये ही जंगली मनुष्य न्यूगिनी के मूल आदिम निवासियों के वंशज माने जाते हैं। समयान्तर से अन्य जातियों के सम्पर्क में आकर पापुत्रान जाति यद्यपि एक मिश्रित जाति बन गई है, फिर भी न्यूगिनी के उत्तर-पश्चिमी भागों के निवासी अब भी शुद्ध पापुत्रान बने हुए हैं। मलाया, अण्डमान तथा फ़िलिपाइन द्वीपों में पाई जानेवाली नाटे क़द की अर्धनीग्रो जाति के 'करोन' लोगों से पापुत्रान जाति के मनुष्य सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु संभवतः उनका सम्पर्क किसी समय पुराने ज़माने में रहा है, ऐसा लोगों का अनुमान है। पापुत्रानों के विविध वर्ग यद्यपि अपनी अनेक सामान्य विशेषताएँ रखते हैं, फिर भी उनमें परस्पर काफ़ी आन्तरिक भिन्नता है। और पड़ोस की अन्य जातियों के लोगों से तो पापुत्रान लोग सर्वथा भिन्न हैं। मलय लोगों की बोली में पापुत्रान अर्थात् पुत्रा-पुत्रा का अर्थ होता है 'घने और गुथे बालोंवाले लोग'। पापुत्रान वास्तव में सिर पर बड़े घने बाल रखते हैं, जो सँवारने के बाद झबरे और गुथे हुए-से प्रतीत होते हैं। दूर से देखने पर ऐसा जान पड़ता है, मानो उनके सिर पर खड़े बालों का भारी टोप रख दिया गया हो। उनके बालों की बनावट भेड़ों के ऊन जैसी होती है और प्रायः वे अठारह इंच तक लम्बे रखाये जाते हैं। पापुत्रान अपने केशों पर बड़ा अभिमान करते हैं और उन्हें बहुत कम कटाते हैं। वे केशविन्यास की कला में विशेषतया प्रवीण होते हैं और अनेक ढंगों से उनको सँवारा करते हैं। उनके सिर पर बालों की गुत्थियाँ-सी निकलती हैं और वे उन्हें हाथों से बटकर गोलाकार बना लेते हैं।

पापुत्रान के क़द का औसत ५ फ़ीट ६ इंच से लगाकर ५ फीट ८ इंच तक होता है और वे अपनी पड़ोसी जातियों से अपेक्षाकृत अधिक लम्बे होते हैं। योरपीय लोगों से भी पापुत्रान लम्बाई में

युद्ध की वेषभूषा में एक पापुत्रान सरदार

कम नहीं होते, बल्कि प्रायः उनसे भी ऊँचे होते हैं। उनके शरीर की बनावट सुदृढ़ और सुडौल होती है, यद्यपि उनकी टाँगें पतली होती हैं। उनके हाथ-पैर काफ़ी बड़े होते हैं। शरीर की त्वचा का रंग गहरा अवश्य होता है, किन्तु काला नहीं कहा जा सकता। उनमें काफ़ी वर्ण-भिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग मटीले भूरे रंग के होते हैं और कुछ साँवले, किन्तु उनकी श्यामता गहरी कदापि नहीं होती। उनकी खोपड़ी बड़ी और नीचे का जबड़ा चौड़ा होता है। भौंहें घनी और मोटी होती हैं। नाक भी बड़ी और आगे को झुकी हुई होती है। चौड़े नथुने, ऊँचा तथा कम चौड़ा ललाट, अंडाकार चेहरा, और काली आँखें ये पापुआन की आकृति की विशेषताएँ हैं। उनके सीने और भुजाओं पर घने रोएँ होते हैं, किन्तु ठुड्डी पर बाल कम जमते हैं। उनके होंठ मोटे भरे हुए होते हैं, मगर उनको बड़ा नहीं कहा जा सकता। सिर के बाल एकदम काले होते हैं, जिनको एक बड़े टोप की आकृति में लोग सँवारे रहते हैं। कभी-कभी बालों का यह टोप बड़ा दीर्घ आकार ग्रहण कर लेता है। कुछ लोग कीचड़ और चर्बी की सहायता से अपने केशों को जटाओं की तरह बटकर लटकने देते हैं। कहीं-कहीं बालों की अनेक गुत्थियाँ बनाकर उनको रेशेदार छाल के टुकड़ों से कसकर बड़े कलापूर्ण ढंग से सजाया जाता है। पापुआन नवयुवकों के सिर पर केशों की ऐसी अगणित गुत्थियाँ दिखाई देती हैं, जिनकी संख्या कभी-कभी सात सौ तक गिनी गई है।

स्वभाव से पापुआन जल्दबाज़ और आडम्बरप्रिय व्यक्ति होते हैं। वे साहसी, चतुर, शीघ्र उत्तेजित होनेवाले और बातूनी भी होते हैं। साथ ही वे बड़े हँसमुख, दिल्लगीबाज़ और रसिक भी होते हैं। वे अपने मन की बात कभी नहीं छिपाते। पहले न्यूगिनी के ये जंगली अधिवासी विशेषतया नंगे ही रहा करते थे और उनमें से कुछ तो अभी भी नंगे रहते हैं। पर अभी हाल ही में उन्होंने पेड़ों की छालों और जड़ों के रेशे निकालकर उनसे कपड़े बुनना भी सीखा है। वैसे ही कपड़े का एक टुकड़ा वे कमर में लपेटे रहते हैं। स्त्रियाँ भी एक पतली करधनीनुमा पेटी कमर में बाँधे रहती हैं अथवा घास का बुना हुआ ऊँचा घाँघरा पहनती हैं। कुछ अधिक सभ्य प्रदेशों में सूती कपड़े भी पहने जाते हैं। पापुआन बरसात से बहुत घबड़ाते हैं, इसीलिए वर्षा ऋतु में वे अपने साथ पत्तियों की एक चटाई लेकर बाहर निकलते हैं, जो पानी की बूँदों से उनका बचाव करती है। एक या दो इलाक़ों को छोड़कर द्वीप के अन्य भागों में स्त्रियों की वेशभूषा और पहनावा अधिक सभ्य दिखाई देता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, पुरुषों को अपने केश-विन्यास का बड़ा चाव होता है और वे तरह-तरह से सिर के बालों को काढ़ते, सँवारते और सजाते हैं। भाँति-भाँति के चमकीले फूल वे केशों में खोंसे रहते हैं और प्रायः पक्षियों के सुन्दर कोमल पर भी लगाये रहते हैं। ये लोग सीप, हड्डी या लकड़ी की एक लम्बी तीली दोनों नथुनों के बीच में छेदकर डाले रहते हैं, जो नाक के आरपार दोनों सिरों पर निकली हुई दिखाई देती है। यहाँ पर हम उनकी बाल सँवारने की कंघी का उल्लेख किए बिना भी नहीं रह सकते, जो बड़ी विचित्र होती है। फटे हुए बाँस का एक-दो फ़ीट लम्बा टुकड़ा, जिसमें खाँचे बने रहते हैं और जो पुटीन की फिरकियों तथा परों से सजाया जाता है, यही पापुआनों की कंघी का काम देता है। ये लोग छोटी सीप, घोंघे, दाँत और हड्डियों के टुकड़ों की माला बनाकर प्रायः पहने रहते हैं। बाज़ूबन्द और दस्तबन्द तथा बालियाँ बनाने के लिए वे सीप और कौड़ियों को घिसकर गोल कर लेते हैं या घास और रेशेदार पौधों की जड़ों से ही ऐसे आभूषण तैयार कर लेते हैं। वे छाल की बुनी हुई एक जालीदार टोपी, जिस पर कुत्ते के दाँतों की झालर और किरीट लगा रहता है, सिर पर धारण करते हैं, जो एक विचित्र मुकुट के आकार की दिखाई देती है। त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर वे अपने सँवारे और रंगे हुए बालों में पक्षियों के लम्बे-लम्बे पर तथा फूल गूँथते हैं और कानों के छेदों तथा बाज़ूबन्द में भी वही वस्तुएँ खोंस लेते हैं। जो लोग सैनिक और लड़ाकू होते हैं वे मारे हुए शत्रुओं की हड्डियाँ तथा कौड़ियाँ अपने बालों में गूँथकर झालर की तरह लटकाए रहते हैं या अपने कमरबन्द और भुजाओं के आभूषणों में खोंस लेते हैं। द्वीप के पूर्वी भाग में रहनेवाले लोग गोदना भी गोदाते हैं। स्त्रियों में गोदना एक साधारण शृंगार का साधन समझा जाता है। पुरुषों को, जब तक वे किसी का प्राण हरण नहीं कर लेते तब तक, गोदना गोदाने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। पापुआनों की कुछ उपजातियाँ अपने बदन पर

घाव करके उनमें रंग भरकर फिर उन्हें दागती हैं, जिसमें वहाँ का मांस फफोलों के रूप में उभर आता है। कई बार दागने के बाद वे फफोले सदा के लिए उभरे ही रहते हैं। यह भी शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने का एक आवश्यक साधन समझा जाता है। ये लोग प्रायः लाल, पीले, श्वेत और काले रंगों से अपने शरीर को ऊपर से नीचे तक पोतकर रँगते और उसे तरह-तरह के चित्रों से विभूषित भी करते हैं।

समुद्री-तटों के निवासी पापुआन किनारे पर पानी में लम्बे लट्ठों का मचान बाँधते हैं, जिसके ऊपर उनके घर बनाए जाते हैं। इनके स्थल पर बने हुए मकान भी धरती की सतह से कुछ ऊँचाई पर होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि पापुआन साँपों और शत्रुओं से अपनी रक्षा का बड़ा ध्यान रखते हैं और ऊँचे घर बनाने पर इस विषय में उनको सुविधाएँ मिलती हैं। सफ़ाई के लिहाज़ से भी उनके मकानों की बनावट अच्छी रहती है। कभी-कभी वे किसी बड़े ऊँचे वृक्ष पर आड़ी-तिरछी शाखाओं के ऊपर ही अपने घर बना लेते हैं, जो पक्षियों के बड़े-बड़े घोंसलों की भाँति दिखाई देते हैं। ऐसे घरों को 'दोवो' कहा जाता है। यदि शत्रु जातिवाले उन पर आक्रमण करने आते हैं तो घर के लोग पत्थरों से उनका सामना करते हैं। इसी कारण पापुआनों के झोपड़ों में फ़र्श पर पत्थरों के छोटे-बड़े असंख्य टुकड़ों का ढेर लगा रहता है, जिसे वे आवश्यकता पड़ने पर व्यवहार में लाते हैं। पापुआन लोगों में बहुत बड़े-बड़े जातीय घर भी बनाए जाते हैं, जो प्रायः पाँच सौ फ़ीट तक लम्बे होते हैं और जिनमें बहुत-से परिवार मिलकर सुखपूर्वक रहते हैं। इन घरों में अविवाहित व्यक्तियों को नहीं रहने दिया जाता। प्रायः अविवाहित कन्याओं को वृक्षों के सिरों पर बने हुए मचानवाले झोपड़ों में रखते हैं। उनके यहाँ क्लबघर या विशेष प्रकार के मनोरंजन-गृह भी होते हैं, जहाँ अपरिचित अतिथियों का स्वागत-सत्कार किया जाता है। इन घरों में त्योहारों के अवसर पर लोग इकट्ठा होते हैं और भोज दिये जाते हैं। ऐसे घरों को भोरांग कहा जाता है। इनके ऊपर किश्तीनुमा गोल छत रहती है जो खजूर की पत्तियों तथा शाखाओं से छाई जाती है। भीतर का भाग सुरंग-जैसा ज्ञात होता है जहाँ बिल्कुल अँधेरा रहता है।

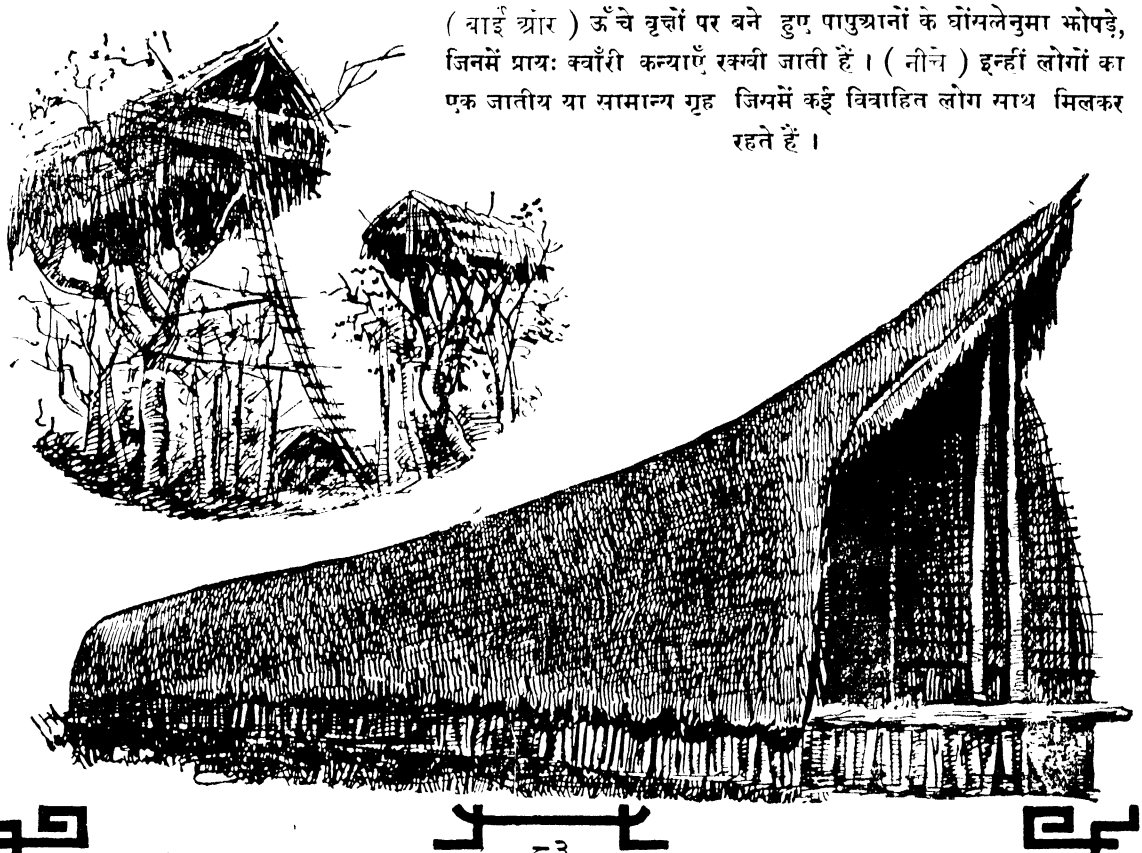

(बाईं ओर) ऊँचे वृक्षों पर बने हुए पापुआनों के घोंसलेनुमा झोपड़े, जिनमें प्रायः क्वाँरी कन्याएँ रक्खी जाती हैं। (नीचे) इन्हीं लोगों का एक जातीय या सामान्य गृह जिसमें कई विवाहित लोग साथ मिलकर रहते हैं।

दीवारें बाँस और खजूर की डालों से बनाई जाती हैं और अधिक ऊँची नहीं होतीं। झुकी हुई छत के किनारे प्रायः दोनों ओर ज़मीन को छूते रहते हैं। प्रवेशद्वार पर एक फाटक-जैसा लगाया जाता है, ताकि सुअर और कुत्ते घर के भीतर न आ सकें। बाहर एक प्रकार की छोटी मेज़ या तिपाई रखी रहती है, जिस पर बैठकर केवल पुरुष ही खाना खाते और लेटते हैं। न्यूगिनी के पूर्वी इलाके में लोग दोमंज़िले मकान बनाते हैं, जिनमें नीचे की मंज़िल में भांडार-गृह रखा जाता है। साधारणतया पापुआन के घर ५० या ६० फ़ीट लम्बे होते हैं जिनके ठीक बीचोबीच में आने-जाने का रास्ता रखा जाता है। ये मकान मचानों पर ही बनाए जाते हैं। मकान के आगे चारों ओर एक बरामदा या सायबान भी रखा जाता है, जहाँ घर के लोग बैठकर प्रायः सारा दिन काटते हैं। उसी बरामदे में लोग खाना खाते हैं। मकान के ठीक नीचे ज़मीन पर खाना पकाने का स्थान होता है।

उनके घरों में मिट्टी के कटोरे और प्याले, लकड़ी के तकिए, चम्मच आदि वस्तुएँ होती हैं, जिन पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी या नक्क़ाशी बनी होती है। इनके अतिरिक्त चटाइयाँ, टोकरियाँ और छाल के बने सन्दूक भी सभी घरों में पाए जाते हैं। ये लोग मिट्टी के बर्त्तनों को साँचों में बना कर आग में पकाते हैं। कुछ इलाकों में, गाँवों की बस्तियाँ समुद्री तट से थोड़ी ही दूर पर पाई जाती हैं, जिसका कारण यह है कि स्थल से आनेवाले शत्रुओं का आक्रमण होने पर लोग जल-मार्ग से भागकर अपनी रक्षा कर सकें। द्वीप के भीतरी भागों में बस्तियों के निशान पहाड़ियों के ऊँचे टीलों पर मिलते हैं। लोग सीधी खड़ी चट्टानों के ऊपर भी घर बनाकर रहते हैं, जहाँ पहुँचने का मार्ग प्रायः दुर्गम और दुरूह समझा जाता है। ऊँचाई पर घर बनाकर रहने का तात्पर्य यह होता है कि लोग दूर से चारों ओर का दृश्य देख सकें और आकस्मिक आक्रमण होने की सम्भावना से अपना बचाव करने में समर्थ रहें। जहाँ ऐसे प्राकृतिक साधनों का अभाव होता है वहाँ बस्तियों के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी बना दी जाती है और उन चहारदीवारियों के बाहर की ओर ऊँचे मचानों पर तथा पेड़ों के ऊपर छोटे-छोटे झोपड़े बना कर उनमें पहरा देनेवाले नियुक्त किये जाते हैं। शत्रु का आक्रमण होने पर ये झोपड़े दुर्ग का काम देते हैं, जहाँ से अच्छी तरह मुक़ाबिला किया जा सकता है। उत्तर-पूर्व के समुद्र-तट के निवासी बड़े सुन्दर घर बनाते हैं और उनकी सजावट भी दर्शनीय होती है। उनकी बस्तियों में बड़ी सफ़ाई रहती है और कूड़ा-कर्कट तथा गन्दगी का नामोनिशान भी नहीं मिलता। आने-जाने के मार्ग बालू के बने होते हैं, जिनके आस-पास जहाँ-तहाँ सुन्दर छँटे हुए हरे-भरे फूलों के वृक्ष और पौधे लगे रहते हैं। वृक्षों के बीच में समतल पत्थरों के छोटे-छोटे चबूतरे बने रहते हैं, जिनके एक ओर टेक या तकिया लगाने के लिए पत्थर का एक खड़ा खम्भा भी लगाया जाता है। बहुत बड़ी नदियों के ऊपर ये लोग झूलते हुए पुल बनाते हैं जो गुथी हुई जटाओं और मूँज के बटे हुए रस्सों को दोनों किनारों के वृक्षों से बाँधकर बनाये जाते हैं।

पूर्वी न्यूगिनी के निवासियों में खेती करने का विशेष चलन है। खेतों के चारों ओर लकड़ी के लट्ठों, बाँस और काँटेदार वृक्षों की चहारदीवारी लगाने की आवश्यकता होती है, ताकि जंगली सुअर फ़सल को नष्ट न कर सकें। लोग मीठे आलू, केले, यॉम (शाक-विशेष) और गन्ने की खेती करते हैं। द्वीप के पश्चिमी भाग में, जो युद्ध से पहले डच लोगों के अधिकार में था, अधिक ज़मीन नहीं जोती जाती। वहाँ लोग कृषि-कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते और मुख्यतः मछलियाँ और शाक खाकर ही गुज़र-बसर करते हैं। ये लोग सुअर का मांस बड़े चाव से खाते हैं और स्त्रियाँ छोटे-छोटे सुअर के बच्चों का बड़ा लाड़-प्यार करती हैं। न्यूगिनी में प्रायः राहचलती स्त्रियाँ उसी तरह सुअर के छोटे बच्चों को गोद में लिये दिखाई देती हैं, जिस प्रकार कि योरपीय देशों की शौक़ीन महिलाएँ छोटे-छोटे कुत्तों को लेकर चलती हैं। यही नहीं, पापुआन स्त्रियाँ सुअर के बच्चों का मुँह चूमती, उन्हें चिपटाती, प्यार करती और उनसे बातें भी करती हैं। लोगों ने अक्सर यह भी देखा है कि वे एक स्तन से अपने बच्चे को दूध पिला रही हैं तो दूसरे से सुअर के बच्चे को! बड़ी जाति के कीड़े-मकोड़ों को खाने में भी पापुआन नहीं हिचकिचाते। गिरगिट, छिपकली, घोंघे, केकड़े, मछलियाँ और केंचुए सभी कुछ वे खा जाते हैं। उनके दैनिक भोजन में ये पदार्थ बड़ी

रुचि से परोसे जाते हैं। न्यूगिनी के अधिकांश निवासी सौभाग्यवश नशीली वस्तुओं के व्यवहार से अभी तक अपरिचित रहे हैं।

पापुआन लोगों के मुख्य अस्त्रशस्त्र बरछे, कटारें, कुल्हाड़ियाँ (जिनके फल घिसकर तेज़ कर लिये जाते हैं), गदा जैसे डंडे और तीर-कमान होते हैं। बरछों के फल नुकीली हड्डियों या मज़बूत बाँसों के बने होते हैं। पुराने ज़माने में आग्नेय शस्त्रों की प्रतिकृति-जैसे बाँस के खोखले चोंगे धूल और धुआँ फेंकने के काम में लाये जाते थे, किन्तु उनके प्रयोग से कोई लाभ न देखकर उनका व्यवहार अब इन लोगों ने बन्द कर दिया है।

सयाना होने पर पापुआन युवक पत्नी की तलाश में निकलता है, किन्तु उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनके कारण वह कई दिनों तक विवाह नहीं कर पाता। पत्नियाँ मुफ़्त में ही नहीं मिल जातीं। विवाह के लिए इच्छुक युवक को काफ़ी समय तक घोर परिश्रम करके दैनिक व्यवहार की सब वस्तुएँ इकट्ठा करनी पड़ती हैं, जिनके बदले में वह अपनी पत्नी को उसके माता-पिता अथवा अभिभावकों से प्राप्त कर सकता है। कन्या का मूल्य प्रायः कुछ सुअर, खाद्य पदार्थ, आभूषण, मोती की सीपें, मलमल का थान, पोत के दाने, तथा योरपीय सौदागरों से ख़रीदे हुए विलायती सामान आदि देकर चुकाया जाता है। इस विवाह-उपहार में अनेक विचित्र वस्तुएँ भी सम्मिलित रहती हैं। एक योरपीय यात्री ने, जो पापुआनों की बस्ती में एक विवाह के अवसर पर सौभाग्यवश जा पहुँचा था, अपनी आँखों देखा हाल लिखा है। उसका कहना है कि 'वधू घर के बरामदे में ऊँचाई पर बैठी हुई थी और उसके पास ही दहेज के सामान का बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ था, जिसमें अनेक प्रकार के देशी बर्तन, घरेलू सामान, मिट्टी के पात्र, लकड़ी के औज़ार, पक्षियों के पंख और उनकी दुम के सिरे, सागपात से भरी हुई अनेक टोकरियाँ, केलों की बड़ी-बड़ी गौद, भाँति-भाँति के फूल और हड्डियों के हार थे। घर के नीचे दो सुअर भी बँधे हुए थे। वधू अपनी इस सम्पत्ति के पास बैठी हुई अभिमान से मुस्करा रही थी। वधू का जो मूल्य चुकाया जाता है, उसमें सुअर अवश्य दिए जाते हैं। जातीय नियमों के अनुसार विवाह के अवसर पर कन्या के आभूषण उतार लिये जाते हैं और उसके सारे केश मूँड़ दिए जाते हैं। उसका विवाहित होना सूचित करने के लिए उसके चेहरे पर गोदना गोदा जाता है। अविवाहिता लड़कियाँ चेहरे के अतिरिक्त शरीर के सब अंगों पर गोदना गोदाती हैं। विवाह के दिन एक बड़ा भोज दिया जाता है, जिसमें शाक, तरकारियाँ, केले, सुपारी और सुअर का मांस परोसा जाता है। निमंत्रित मेहमान लोग भाँति-भाँति के उपहार

विशेष उत्सव के लिए अपने शरीर को गेरू आदि से पोते हुए एक पापुआन

अपने साथ लाते हैं, जिनमें मुख्यतः भोज की सामग्री होती है। उस दिन वर और वधू अपनी बढ़िया-से-बढ़िया पोशाकें पहनते हैं, जो परों, कौड़ियों, सीपियों और चमकीली पत्तियों की झालरों से सजी होती हैं। विवाह-बन्धन बाँधने के लिए पुरोहितों की आवश्यकता नहीं पड़ती। बस भोज की समाप्ति होते ही वर-वधू विवाहित जीवन में स्वतः प्रवेश कर लेते हैं। दुर्भाग्य से इनमें विवाह-बन्धन की दृढ़ता नहीं मानी जाती और प्रायः देखा गया है कि स्त्रियाँ अपने पतियों को तीन-चार बार छोड़-छोड़कर चली जाती हैं और फिर आ जाती हैं। इन बातों के देखते हुए पापुआनों का गृहस्थ-जीवन सुखी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए घरेलू झगड़े उनमें प्रायः नित्य ही होते रहते हैं। पापुआन स्वभाव से ही युद्धप्रिय सैनिक होने के कारण अपनी स्त्रियों को तुच्छ समझते हैं और उनका स्थान दासियों से अधिक नहीं मानते। पर वे विवाहिता पत्नियों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करते और वे पूर्ण दासियाँ बनकर रहने की अपेक्षा बड़ी युक्तियों से घरेलू और सामाजिक कामों में अपना कुछ-न-कुछ प्रभुत्व प्राप्त कर लेती हैं। स्त्रियाँ ही पुरुषों को युद्ध, लूटमार तथा प्रतिशोध के लिए उत्तेजित करती हैं। प्रायः देखा गया है कि पुरुषों की भीड़ में स्त्रियाँ दौड़ती हुई घुस आती हैं और उनकी लानत मलामत कर उनके लड़ाकू स्वभाव को उत्तेजना देकर उन्हें कर्मशील बनाने में सफल होती हैं। वे उन पुरुषों को अकर्मण्य और कार्य-विमुख देखकर बड़े तीखे शब्दों में कहती हैं—'क्या तुम इस कार्य से डरते हो? और तुम अपने को मर्द और शूरवीर मानते हो! चले जाओ यहाँ से मुँह छिपाकर! तुम्हारा हृदय पुरुषों का हृदय नहीं है, तुम बूढ़ी स्त्रियों की भाँति कायर हो! पहन लो घास का घाँघरा, घुस रहो घरों में, और पकाओ खाना!!' इस प्रकार के ताने सुनकर पुरुषों की मण्डली शर्मा जाती है और तत्काल निर्दिष्ट कार्य की ओर अग्रसर होती है।

पापुआन जातिवाले बड़ी सुन्दर नौकाएँ बना लेते हैं और कुछ भागों के रहनेवाले तो केवल किश्तियाँ और नावें बनाने का ही पेशा करते हैं। उनकी नौकाएँ या तो पेड़ के मोटे तने को खोखला करके बनाई जाती हैं या तख्तों को मूँज की रस्सियों से जकड़कर उनके बीच में बैठने की गहरी जगह बनाकर उस ढाँचे को ही नाव का रूप दे दिया जाता है। वे बहुत-सी नावों को, जो पेड़ों के खोखले तनों से बनती हैं, आपस में एक दूसरे से जोड़कर लगभग ५० फ़ीट लम्बा एक बेड़ा बनाते हैं, जिसे 'लकातोई' कहते हैं। इस बेड़े की चौड़ाई २४ फ़ीट से कम नहीं होती और उसमें दो मस्तूल लगे रहते हैं, जिन पर चटाई का बना हुआ बहुत बड़ा पाल, जो भाँति-भाँति की रंग-बिरंगी आकृतियों से सजा होता है, तान दिया जाता है। इन बेड़ों में बहुत-से ख़ाने बने होते हैं, जिनमें रखकर हज़ारों की संख्या में मिट्टी के बर्त्तन हर साल फ्लाई नदी के इलाक़ों में भेजे जाते हैं। मिट्टी के इन बर्त्तनों के बदले में वहाँ से अनाज ख़रीदकर लाया जाता है, जिसके द्वारा पापुआन अपना भरण-पोषण करते हैं।

पापुआन की संगीतप्रियता प्रसिद्ध है। वे बीन-जैसा एक बाजा, एक प्रकार का तम्बूरा और बाँसुरी बजाया करते हैं। उत्सव और त्योहार के दिनों में उनमें केवल ढोल बजाया जाता है। यह ढोल केवल एक ओर से मढ़ा होता है और उसे वे उँगलियों से बजाते हैं। ढोल बजने पर उसके ताल के साथ-साथ लोग पैर पटककर खड़े-खड़े नाचते हैं या थोड़ा दूर तक पैर मिलाकर चलते हैं। बाजे के साथ-साथ गाना गाने का इनमें चलन नहीं है। इनमें सब प्रकार की झनझनाहट भरी हुई आवाज़ें संगीत के अन्तर्गत समझी जाती हैं। दानेदार सूखी जंगली फलियों तथा बड़े बीजवाले सूखे फलों को एक लम्बी डोर में बाँधकर ढोल के चारों ओर उस डोर को लपेट दिया जाता है। कभी-कभी हाथ-पैरों के आभूषणों, कमरबन्द, औज़ारों, शस्त्रों तथा बर्त्तनों के ऊपर भी उनको लपेटकर ख़ूब हिलाते-डुलाते हैं, जिससे खड़खड़ाहट तथा झन्कार पैदा होती है।

पापुआन बदला चुकाने में आन के बड़े पक्के होते हैं और ख़ून के बदले ख़ून बहाने का सिद्धान्त आदिकाल से उनमें प्रचलित है। प्रतिशोध का कार्य्य सफल होने पर वे शत्रु का सिर काटकर धर ले आते हैं और उसे बड़े गर्व से घर में सजाकर रखते हैं। उनका परस्पर अभिवादन करने का ढंग भी बड़ा अनोखा है और जब दो परिचित व्यक्ति मिलते हैं तो वे परस्पर नाक और पेट में चिकोटियाँ काटते हैं! उत्तरी समुद्री तट के निवासी मित्रता स्थिर रखने के लिए कुत्ते का बलिदान देते हैं।

अन्य स्थानों में पेड़ों की हरी डालों का ऊपर हिलाना तथा सिर पर पानी डालना भी अभिवादन का एक ढंग समझा जाता है।

पापुश्रान पाँच से अधिक गणना नहीं कर पाते। कोई-कोई छः तक गिन लेते हैं, किन्तु अधिकांश लोग तीन से आगे गिनना जानते ही नहीं। एक और दो के लिए ही उनकी भाषा में नाम हैं। उनकी भाषा प्रान्तों के अनुसार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न पाई जाती है और द्वीप के एक सिरे पर रहनेवाले लोग दूसरे सिरे के निवासियों की बोली नहीं समझ पाते।

पापुश्रानों का धर्म भूत-प्रेत और मृतात्माओं की उपासना मात्र है। उनका विश्वास है कि ये मृतात्माएँ और भूत-प्रेत सदैव हानि पहुँचाने में ही संलग्न रहते हैं। उनकी पूजा-उपासना उनके निवारण के ही हेतु की जाती है। किसी की मृत्यु होने पर उसके इष्ट-मित्र, संबंधी और बन्धु-बान्धव एक लकड़ी की मूर्त्ति बनाते हैं, जिस पर बड़ी सुन्दर नक़्क़ाशी का काम बनाया जाता है। उस मूर्त्ति में ही दिवंगत आत्मा को निवास करने के लिए स्थान दिया जाता है, ताकि वह इधर-उधर उद्देश्यहीन भटकते हुए कुटुम्बियों को त्रास न दे सके। मृतात्माओं का प्रकोप होने पर ही वे लोग महामारी और भाँति-भाँति के उग्र रोगों का फैलना मानते हैं। कुछ पापुश्रान अपने पितरों की भी पूजा करते हैं। पारलौकिक जीवन के विषय में उनका बड़ा पक्का विश्वास होता है। पश्चिमी न्यूगिनी के निवासियों में एक सार्वभौम महान् आत्मा का अस्तित्व माना जाता है और उसकी अनेक दुष्ट प्रकृतिवाली सहायक शक्तियाँ भी कल्पित की जाती हैं, जैसे 'मनोइ', जो सबसे अधिक बली, उपद्रवी और वनवासिनी शक्ति होती है; 'नरबोजा', जो वृक्षों के ऊपर तथा अन्तरिक्ष में बादलों के बीच निवास करता है; एक प्रकार की 'अर्लकोनिग', जो छोटे बच्चों को उठा ले जाती है, और 'फ़कानक', जो समुद्री तट पर चट्टानों के बीच में रहती है तथा आँधी और तूफ़ान ले आती है! इन्हीं से बचने के लिए लोग बड़े अनुष्ठान के बाद किसी चुने हुए वृक्ष विशेष की लकड़ी से भद्दी मूर्त्तियाँ बनाते हैं, जिनको 'करवार' कहा जाता है। प्रत्येक मूर्त्ति परिवार के कुछ दिन पहले मरे हुए किसी व्यक्ति की मृतात्मा की भावना करने के लिए बनाई जाती है, ताकि वह प्रसन्न होकर शत्रुओं से उनकी रक्षा करे तथा प्रत्येक उद्योग में उन्हें सफलता दिलाए। 'करवार' नामक ये मूर्त्तियाँ लगभग एक फ़ुट ऊँची बनती हैं, और उनके सिर का आकार धड़ की अपेक्षा बहुत ही बड़ा बनाया जाता है। पुरुषों की मूर्त्तियों को ढाल और बरछा लिये हुए दिखाते हैं और स्त्रियों की मूर्त्तियाँ अपने हाथों में सर्प लिये हुए बनाई जाती हैं। पापुश्रान शकुन-विचार के बड़े पक्षपाती होते हैं। उनमें जादूगर या स्याने होते हैं, जो सूखा पड़ने पर वर्षा लाने के लिए तथा अपराधियों का पता लगाने के लिए बुलाए जाते हैं और लोगों को शारीरिक यातनाएँ देकर अपना कार्य्य-साधन करते हैं। उत्तरी और पश्चिमी भागों में कहीं-कहीं एक प्रकार के मन्दिर भी बने हुए पाये जाते हैं, जो घरों की तरह अपेक्षाकृत कुछ बड़े होते हैं। उनके मचानों के लट्ठों और खम्भों पर भाँति-भाँति की नक़्क़ाशी का काम होता है और छत की कड़ियों पर घड़ियालों तथा गिरगिटों की आकृतियाँ खुदी रहती हैं। कभी-कभी मनुष्यों की आकृतियाँ भी उनमें खोदी जाती हैं। दक्षिण-पूर्वी प्रान्तों में मन्दिर और मूर्त्तियों का पता नहीं मिलता, किंतु वहाँ के लोग अपनी शत्रु-जातियों के लोगों की मृतात्माओं से बहुत डरते हैं, जिनको 'बाता' कहा जाता है। यही आत्माएँ रोग और मृत्यु का प्रकोप पैदा करती हैं, ऐसी उन लोगों की धारणा है। प्रकृति की सभी घटनाओं, जैसे बादलों की गरज, बिजली, तूफ़ान और आँधी आदि का कारण इन मृतात्माओं का उपद्रवी स्वभाव ही माना जाता है और इस कारण लोग उनसे बड़े भयभीत रहते हैं।

पापुश्रान के धार्मिक अनुष्ठानों में व्यापारिक जलयानों (जिन्हें 'लकातोई' कहते हैं) की यात्राओं के अवसर पर, वर्जित वस्तुओं की घोषणा के समय तथा युवकों और युवतियों की व्यावहारिक दीक्षा के अवसर पर होनेवाले समारोह मुख्य हैं। उस समय लोग विशेष प्रकार के जातीय चिह्न धारण करते हैं और उनके यहाँ नरसिंघों का शब्द गूँज उठता है। खेतों में फ़सल तैयार होने पर भी इसी प्रकार का उत्सव होता है। इस समय लोग अपने युद्ध तथा आखेट के विजय-चिह्न प्रदर्शित करते हैं, जिसके उपरान्त एक बृहत् भोज होता है। भोज के बाद नाच-गान

का समा बँधता है। पापुआन लोग युद्ध, आखेट, व्यापार और मछलियों के शिकार में सफलता प्राप्त करने तथा उपद्रवी मृतात्माओं से बचने के लिए गंडे-तावीज़ पहनते हैं। समुद्री किनारों पर रहनेवाले कुछ लोग नाम मात्र के मुसलमान हैं और कुछ ईसाई भी हो गए हैं, किंतु अधिकांश निवासी मूर्ति-पूजक ही पाए जाते हैं। पापुआन अपने मृतकों की अन्त्येष्टि-क्रिया कई प्रकार से करते हैं। पहले वे मुर्दे को ज़मीन में गाड़ देते हैं, फिर कुछ दिनों बाद खोदकर उसे निकालते हैं और उसकी हड्डियों को साफ़ करके मृतक के आवासस्थान के आसपास अथवा दूर पर किसी खोह में उन्हें पुनः गाड़ते हैं। कभी-कभी मृतक का शव खुली जगह में मचान बाँधकर उस पर रख दिया जाता है या उसे आग पर रखकर खूब सुखाने के बाद कुछ वर्षों तक उसके हड्डियों के ढाँचे को मोमियाई की तरह घर में रखे रहते हैं। कहीं कहीं मृतक की खोपड़ी या जबड़े की हड्डियाँ और ढाँचे के टुकड़े स्मृति-चिह्नों के रूप में सुरक्षित रखे जाते हैं। क़ब्रों के ऊपर मृतात्माओं के निवास करने के प्रयोजन से छोटे-छोटे घर बना दिए जाते हैं। प्राणान्त होने के कुछ ही देर बाद मृत व्यक्ति को खाना खिलाने का उपक्रम किया जाता है। मृतक के व्यवहार में आनेवाली समस्त सामग्री तोड़-फोड़कर उसके आवासस्थान के निकट ही फेंक दी जाती है। उसकी क़ब्र से लेकर समुद्र तक एक पगडंडीनुमा मार्ग सा खोद दिया जाता है, जिससे होकर मृतक की आत्मा स्नान करने को जा सके। विधवा होने पर पापुआन स्त्रियों के सिर मूँड़ दिए जाते हैं और वे कोयलों तथा मृतकों के शरीर से निकले हुए मल-मूत्र से अपना सारा बदन लपेटकर स्यापे में बहुत दिनों तक बिठलाई जाती हैं! मृत व्यक्तियों का कोई नाम नहीं लेता और आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए पर्यायवाची तथा सांकेतिक शब्दों और वाक्यों का ही प्रयोग किया जाता है। मृत व्यक्ति का नाम लेने से समझा जाता है कि मृतात्मा लौट आएगी और कुटुम्बियों को त्रास देने लगेगी। चन्द्रमा में भी मृतात्माओं का निवास समझा जाता है और इसीलिए पूर्णिमा के दिन लोग चाँदनी में बाहर नहीं निकलते, क्योंकि उनकी धारणानुसार उस दिन मृतात्माएँ स्वच्छन्द घूमती रहती हैं। जिस बस्ती या झोपड़े में किसी मृतात्मा का प्रवेश समझा जाता है, उसे लोग प्रायः छोड़कर भाग जाते हैं। विवाहित दम्पति और गर्भिणी स्त्रियों को इन भूत-प्रेतों के विषय में विशेष रूप से सतर्क रहना पड़ता है।

पालीनेशियन और मेलानेशियन

प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुंजों के आदिम निवासी

इतिहासकारों ने प्रायः मध्य और पश्चिमी पैसिफ़िक महासागर के सभी द्वीपसमूहों को पालीनेशिया का नाम दिया है, परन्तु सच पूछा जाय तो केवल उन द्वीपों को ही जो पूर्वी भाग में आते हैं इस नाम के अन्तर्गत आने का अधिकार है। ये हैं हवाई, एलिस, फ़ीनिक्स, न्यूज़ीलैंड, यूनियन, मनीहिकी, मारक्वीसन्स, समोआ, तोंगा, कुक, सोसाइटी, तुबुआई, तुआमातो आदि द्वीप, जो यथार्थतः पालीनेशिया कहे जा सकते हैं।

पालीनेशियन जातियों की उत्पत्ति के विषय में पर्याप्त वाद-विवाद चल चुका है और अनेकों वक्तव्य निकल चुके हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। विद्वानों में इस विषय में काफ़ी मतभेद है, किन्तु यह निश्चित रूप से माना जा चुका है कि ये जातियाँ मलय जाति से सर्वथा भिन्न हैं। यद्यपि ये वर्णसंकर कही जा सकती हैं, ये जातियाँ मलय जाति से अधिक प्राचीन अस्तित्व रखती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये काकेशिया से आनेवाली जातियों की ही एक शाखा जैसी हैं, जो एशिया की मुख्य भूमि को पार करती हुई प्राचीन काल में वहाँ आकर बस गईं। दूसरे कहते हैं कि पालीनेशियन लोग भारतवर्ष से आए थे, जब कि वहाँ संस्कृत-भाषा का युग आरम्भ नहीं हुआ था। सबसे पहले पालीनेशियन जाति ने समोआ नामक द्वीप को अपनी आवास-भूमि बनाया, जहाँ से बढ़ती हुई वह तोंगा और

फ़िजी द्वीपों में जा बसी। आज भी ये लोग अच्छे नाविक हैं, अतएव यह सम्भव जान पड़ता है कि प्राचीन काल में वे जल-मार्ग द्वारा भारत से चले आए हों। इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि पूर्वकाल में वे बड़े कुशल नाविक होते थे। वे लकड़ी के तख्तों को जोड़कर छोटे-छोटे जहाज़ बना लेते थे और उनमें पानी न जा सके इस प्रकार से उनके जोड़ों में मसाला भर दिया करते थे। उनकी नावें बड़ी सुन्दर और कलापूर्ण बनती थीं। वे नक्षत्रों की भी अच्छी पहचान रखते थे। तारों की गति का उनको पर्याप्त ज्ञान था और वार्षिक ऋतु-परिवर्त्तन के अनुसार उनका उदय-अस्त वे जान लेते थे। ज्योतिष द्वारा अपनी समुद्री यात्राओं के लिए वे शकुन भी विचारते और मार्ग निर्धारित करते थे। जिस समय वे पैसिफ़िक महासागर के द्वीपों में आए, उस समय असभ्यता से वे कोसों दूर निकल चुके थे। उनकी प्राचीन आख्यायिकाओं तथा दन्त-कथाओं से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि उनकी सभ्यता का उस समय तक पर्याप्त विकास हो चुका था। जिन्होंने उन कथाओं को पढ़ा या सुना है, वे निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पालीनेशियन जातियों के पूर्वजों का रहन-सहन तथा संस्कृति उच्चकोटि की थी, जिसका अब ह्रास हो चुका है।

हवाई द्वीपवासी पालीनेशियन जाति की एक महिला

पालीनेशिया के वर्त्तमान निवासी लम्बे और सुडौल होते हैं। कुछ लेखकों ने समोआ और तोंगा द्वीपों के रहनेवालों को संसार में सबसे लम्बा माना है। उनका रंग भूरा, गेहुँआँ या साँवला होता है और केश काले या भूरे होते हैं। उनके चेहरे पर दाढ़ी बहुत कम निकलती है। उनकी आकृति वस्तुतः साँचे में ढली-सी बड़ी सुन्दर होती है। काली आँखें, गुलाबी होंठ, चौड़ा माथा, आदि उनके सौन्दर्य्य के प्रतीक हैं। कुछ जातियों में नाक दबाकर चिपटी कर दी जाती है और इसलिए वह भद्दी लगती है, परन्तु साधारणतया उनकी नाक लम्बी और आकर्षक होती है। इनके बच्चे बड़े सुन्दर होते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की आकृति अधिक सुडौल बनी होती है। स्वच्छ रहना ये अधिक पसंद करते हैं और स्नान करने का उन्हें विशेष चाव रहता है। पुरुष पत्तियों से बनाया गया एक अँगोछा-जैसा कमर में लपेटते हैं और स्त्रियाँ वैसा ही एक ऊँचा घाँघरा-जैसा पहनती हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ अपने कंधों को भी ढके रहती हैं। पुरुष पेड़ों की छाल को कूटकर बनाये गए कपड़े भी व्यवहार में लाते हैं और उसी के वस्त्र पहनते हैं। वे लोग कमर से नीचे घुटनों तक और प्रायः मुँह और नाक पर भी गोदने के चिह्न बनवाते हैं। भाँति-भाँति की पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, बेल-बूटे आदि गोदने द्वारा बनवाने का इनमें बड़ा रिवाज है। अधिकतर ये लोग आराम-तलब होते हैं—जो ऊसर प्रदेशों के रहनेवाले हैं वही मेहनत के काम करते हैं। इनमें सहनशीलता की मात्रा बहुत कम होती है और शीघ्र ही ये लोग उत्तेजित हो उठते हैं। उस समय इन्हें कुछ भी अपना-पराया नहीं सूझता और विवेकशून्य होकर प्रायः वे भारी अनर्थ कर डालते हैं। उनकी जंगलों में रहनेवाली जातियाँ धार्मिक बातों में बड़ी कट्टर होती हैं और जीवन के प्रत्येक कार्य्य में वे धर्म को प्रधानता देती हैं। पालीनेशियन लोग बोलने में बड़े प्रवीण होते हैं और उनका उच्चारण बड़ा स्पष्ट होता है। ये लोग बड़े वीर होते हैं तथा कर्त्तव्य और कुटुम्ब की आबरू का प्रश्न आने पर अपनी जान पर भी खेल जाते हैं।

पालीनेशियन समाज भिन्न-भिन्न घरानों और वर्गों में बँटा हुआ है। प्रत्येक घराने का नाम उसके बड़े-बूढ़े व्यक्ति के नाम पर रखा जाता है और वही व्यक्ति घराने का शासक या मुखिया माना जाता है। इनकी यह पद्धति बड़ी प्राचीन है और अब उसमें जहाँ-तहाँ परिवर्त्तन होने

लगे हैं। कहीं-कहीं घरानों को वर्गों में विभाजित कर दिया गया है और उन वर्गों में भी उपवर्ग बन गए हैं। कुछ द्वीपों में निकट के सम्बन्धियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु बड़े सरदारों या मुख्य लोगों में इस प्रथा का बन्धन नहीं माना जाता। बच्चे अधिकतर अपने पिता के घराने में ही रहते हैं, यद्यपि मातृ-पक्ष में भी उनको बराबर का अधिकार मिलता है। कभी-कभी बच्चे माता के घराने में ही रखे जाते हैं। इन लोगों के प्राचीन रीति-रस्म का हाल बड़ा ही मनोरंजक है। पहले इनके सरदारों और शासकों में बहु-विवाह तथा उपपत्नियों का नियम प्रचलित था। विधवाएँ या तो अपने देवर-जेठ के साथ ब्याही जाती थीं या किसी अन्य सम्बन्धी के साथ, जो उपपत्नी के रूप में उसे स्वीकार कर लेता था। तलाक़ भी बड़ी सरलता से हो जाता था और इच्छानुसार पति-पत्नी एक-दूसरे को छोड़ देने के लिए स्वतंत्र होते थे। छोटी-से-छोटी बात को भी तलाक़ का कारण बनाकर पारस्परिक विच्छेद हो जाता था, परन्तु पूर्व पति की आज्ञा के बिना परित्यक्ता पत्नी पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। व्यभिचारी को बड़ा कठिन दण्ड दिया जाता था और प्रायः उसके प्राण तक ले लिये जाते थे। यदि वह भाग जाता और उसका पता न लगता था तो उसी के परिवार के किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर दण्डित करने का नियम था! कुछ द्वीपों के निवासियों में स्त्रियों की सच्चरित्रता का बड़ा आदर था और समोआ द्वीप में स्त्रियाँ विशेषतया पतिव्रता होती थीं। अन्य वर्गों में पदवी या उपाधि मातृ-पक्ष से उत्तराधिकार में आती थी न कि पितृ-पक्ष से। हवाई द्वीप में भाइयों, भावजों, बहनों और बहनोइयों में परस्पर स्त्री-पुरुष का परिवर्त्तन कर लेने की प्रथा थी, परन्तु अन्य द्वीपों में इस प्रथा का प्रचार नहीं हो पाया। परिवार में स्त्रियों का स्थान ऊँचा समझा जाता था और उनको आदर की दृष्टि से देखने का नियम था। रानी या स्त्री-सरदार की उतनी ही इज़्ज़त की जाती थी जितनी राजा या पुरुष-सरदार की। कहीं-कहीं बच्चों को पैदा होते ही मार डालने की प्रथा प्रचलित थी और अक्सर भ्रूण-हत्यायें हुआ करती थीं। सन्तान न होने पर किसी अन्य घराने के बच्चे को गोद लिया जाता था, परन्तु ऐसे बच्चे बाहरी जातियों के ही हुआ करते थे। अपने घराने के बच्चों को गोद नहीं लिया जाता था। बड़े-बूढ़ों का आदर करना लोग अपना धर्म समझते थे और प्रायः बूढ़े सरदार लोग अपनी पदवी किसी नवयुवक को दे दिया करते थे, क्योंकि ऐसा करने से उनकी महत्ता कम नहीं होती थी। प्रत्येक घराने के पास अपनी ज़मीन हुआ करती थी, जिसमें उसके सभी व्यक्तियों को बराबर का अधिकार दिया जाता था। पदवी और उपाधियाँ उपयुक्त व्यक्ति को साधारणतया सम्मिलित चुनाव के बाद मिलती थीं, परन्तु इन पदवियों के उत्तराधिकारी निर्वाचित करने का भी नियम मान्य था।

पालीनेशिया के भूभागों में शिकार-योग्य पशुओं का सदा से अभाव रहा है, अतएव वहाँ धनुष-बाण और बर्छे धारण करनेवाली आदिम जातियों के मनुष्य नहीं दिखाई देते। पुराने ज़माने में वहाँ धनुष-बाण का प्रचार अवश्य था—उदाहरण के लिए ताहिती द्वीपवासी इनके व्यवहार से परिचित थे। सम्भवतः छोटे-छोटे पशुओं, चूहों आदि को मारने के लिए अथवा खेल-कूद में ही वे लोग धनुष-बाण का उपयोग करते रहे होंगे। न्यूज़ीलैंड में 'मोआ' नामक एक बड़ा दीर्घाकार पक्षी होता था, जिसका वहाँ के निवासी शिकार किया करते थे। किन्तु अब उस प्रकार के पक्षियों की जाति नष्ट हो गई है। अन्य किसी प्रकार के बड़े पशु पालीनेशिया में नहीं मिलते। छोटे-छोटे पशु-पक्षी वहाँ जाल में फँसाकर पकड़े जाते रहे हैं। रात के समय आग जलाकर तथा बोली की नक़ल करके पहले लोग "किवीकिवी" नामक पक्षियों को बुलाते और डण्डों से मार डालते थे। उन दिनों मछली का शिकार अधिक होता था और इस काम में व्यवहृत होनेवाले काँटे आदि ये लोग अब भी बहुत अच्छे बना लेते हैं। न्यूज़ीलैंडवाले मछली पकड़ने के हज़ार-हज़ार गज़ लम्बे जाल बनाया करते थे, जिनको पानी में डालने और निकालने में सैकड़ों आदमियों की आवश्यकता पड़ती थी। काँटे और बंसी के द्वारा तो प्रायः सभी जगह मछलियों का शिकार किया जाता था। वे लोग हड्डी, सीप और कड़े काष्ठ के भिन्न-भिन्न आकार के काँटे बना लेते थे। शार्क मछली का मांस पालीनेशियन लोगों को बड़ा प्रिय है, और उसे वे बड़े-बड़े काँटों से पकड़ते हैं। हवाई द्वीप के निवासी तूफ़ानी समुद्र में घुसकर भी बड़े चाव से मछलियों का शिकार खेलते हैं। सुअर पालना भी पालीनेशिया के निवासियों का एक मुख्य

उद्यम रहा है। न्यूज़ीलैंड, समोआ और सोसाइटी द्वीपों में कुत्ते भी यथेष्ट संख्या में पाले जाते हैं। ईस्टर द्वीपों में शायद ही कोई घर ऐसा हो जिसमें कुत्ता न पला हो। हवाई द्वीप में कृत्रिम पोखर या तालाब बनाकर मछलियाँ भी पाली जाती हैं। दलदलों में भी चारा छोड़कर वहाँ लोग मछलियों की उपज बढ़ाते रहते हैं। पुराने ज़माने में पशु-पक्षियों को भी पालने का पालीनेशियावालों को बड़ा चाव था। ईस्टर द्वीपों में समुद्री अबाबीलों को लोग इतना पालतू बना लेते थे कि वे आ-आकर कंधों पर बैठ जाया करती थीं। तोंगाताबू के निवासी लकड़ी के अड्डों पर कबूतरों और तोतों को बिठाकर तथा उन्हें हाथ में लेकर चलते थे।

साधारणतया पालीनेशियन लोग आयताकार चबूतरों पर लम्बे और नीचे घर बनाते हैं। फ्रेण्डली द्वीप में मकानों की आकृति पंचकोणाकार होता है। छोटे-छोटे लट्ठों के टुकड़ों पर उल्टी नौका जैसे आकार की खजूर की पत्तियों, सरकंडों और टहनियों से छाई हुई छत स्थापित कर वहाँवाले अपना घर बना लेते हैं। छत की लम्बाई-चौड़ाई की ओर के किनारे ऊपर को कमान की तरह उठे रहते हैं। पार्श्व की दीवालें पत्थर की नींव पर खड़ी की जाती हैं। हवाई द्वीप में इसी प्रकार से घर बनाकर छतों को घास-फूस से ढँक देते हैं। न्यूज़ीलैंडवालों ने इस विषय में अधिक उन्नति की है और वे लोग अपने घरों की दीवालें लकड़ी की बनाते हैं। सामने एक द्वार और आस-पास खिड़कियाँ भी उनके घरों में होती हैं। प्रवेशद्वार सदा पूर्व की ओर रखा जाता है, जिसके आगे कभी-कभी एक प्रकोष्ठ भी बना लेते हैं। पालीनेशियन लोगों के घरों का भीतरी भाग चटाई की पतली दीवारों से कई हिस्सों में बँटा रहता है। प्रत्येक घर में सोने का स्थान पृथक् रखा जाता है। सुचित्रित तख्तों, खम्भों और चटाइयों से सजा हुआ उनके घर का भीतरी कक्ष बड़ा सुन्दर दिखाई देता है। सोते समय वे लोग तकिये के स्थान पर लकड़ी का ठोस कुन्दा या बाँस की नीची तिपाई सिर के नीचे रख लेते हैं।

सीपी, शंख आदि के अलंकारों से सुसज्जित और बदन पर विविध रंगों से चित्रकारी किए हुए मेलानेशियन जाति की एक स्त्री

प्राचीन युग में पालीनेशियन लोग अपनी पारस्परिक लड़ाइयों और सामूहिक आक्रमण में लकड़ी के बर्छों और गदाओं का व्यवहार करते थे। लकड़ी के लम्बे-लम्बे बर्छे बनाकर उनके फल या तो जलाकर सख़्त कर दिये जाते थे या पत्थर, हड्डी और शार्क मछली के दाँतों द्वारा उनको नुकीला बना लिया जाता था। इन बर्छों की लम्बाई १२ फ़ीट से भी अधिक हुआ करती थी। इन लोगों की तलवारें और गदाएँ बलूत की मज़बूत लकड़ी की बनती थीं और उन पर बड़ी सुन्दर नक़्क़ाशी की जाती थी। तोंगा मार्क्वीसस और हार्वे द्वीपों के निवासियों के डाँड़ की आकृतिवाली गदाएँ देखने योग्य होती हैं। द्वन्द्व-युद्ध में मोटी-मोटी गदाओं-जैसे एक विचित्र प्रकार के शस्त्र का ये लोग उपयोग किया करते थे। लकड़ी का कवच भी वे लोग शरीर-रक्षा के लिए व्यवहार में लाते थे। हवाई और

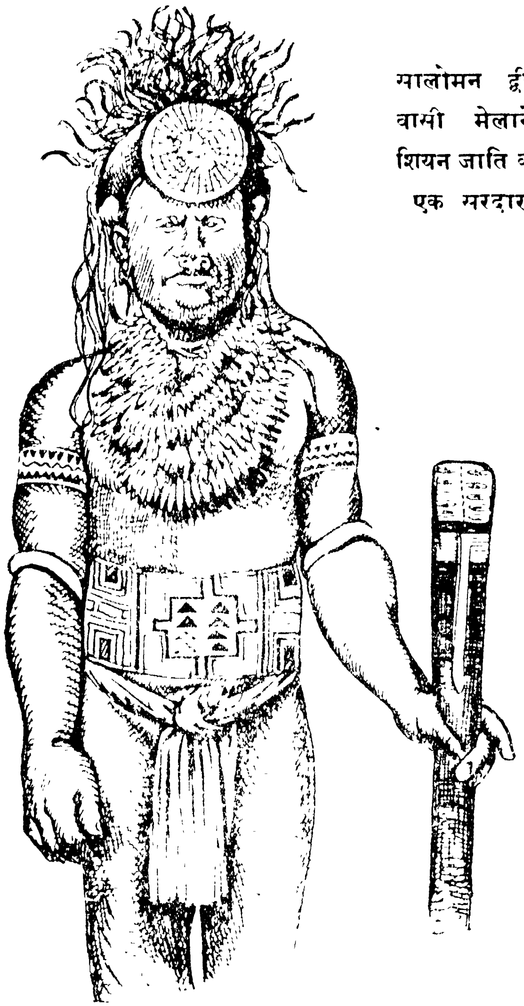

सालोमन द्वीप वासी मेलाने-शियन जाति का एक सरदार

समोआ द्वीपों के निवासी अपनी बस्तियों के बाहर मोटे-मोटे लट्ठों का बाड़ा बना लेते थे, जिससे शत्रु के आक्रमण से बचाव हो सके। कहीं-कहीं पेड़ों के समूचे तने काटकर उनका प्राचीर खड़ा करने का भी रिवाज था।

खेल-कूद में भी पालीनेशियावालों को बड़ी दिलचस्पी रही है। उनमें प्रतियोगिता के खेलों का बड़ा प्रचार रहा है। हवाई द्वीप में पहले कुश्तियाँ, घूँसेबाज़ी और दौड़ें हुआ करती थीं। चिकने तख़्तों को सीधा खड़ा करके उन पर चढ़ना-उतरना तथा समुद्र की लहरों पर तख़्तों के सहारे तैरना भी उनकी क्रीड़ा के साधन रहे हैं। पुराने ज़माने में पालीनेशियन लोग मिट्टी के बर्त्तन नहीं बना पाते थे वरन् पौधों के रेशों, जटाओं और सन आदि से वे अपने पात्र बनाते थे। उन्हीं वस्तुओं से उनकी स्त्रियाँ एक प्रकार का कपड़ा तैयार करती थीं, जिसके वस्त्र बनाए जाते थे। चटाइयाँ, टोकरियाँ, पत्तों और नरकुल के पंखे आदि भी बनाना उनको आता था। वे रस्से, रस्सियाँ, डोर और पतले धागे भी बनाते थे तथा रेशेदार पौधों की खेती करते थे। लकड़ी पर वे बड़ी सुन्दर और कलापूर्ण नक़्क़ाशी किया करते थे और आज दिन भी उनकी यह कला नष्ट नहीं हुई है। अन्तर इतना है कि कुछ ही परिवार ऐसे बचे हैं, जिनमें लोग पहले जैसा लकड़ी का काम तथा नावें और मकान बनाना जानते हैं। घर में व्यवहार करने योग्य लकड़ी के बर्त्तन आज भी ये लोग बनाते हैं। रकाबियाँ, कटोरियाँ, कटोरे, प्याले और स्टूल आदि भी ये बहुत अच्छे बना लेते हैं। ये लोग धरती में गढ़ा खोदकर उसमें आग जलाकर खाना पकाते हैं। लकड़ी के ढाल भी बनाने में ये प्रवीण हैं। बाँस की छुरी और कटार बनाने में ये विशेष रूप से अपनी अद्वितीय कारीगरी दिखलाते हैं। कभी-कभी ये लोग प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली वस्तुएँ पत्थर और सीप की भी बनाते हैं। उनका मछली पकड़ने का काँटा प्रायः सीप से ही बनाया जाता है। पानी पीने के प्याले अकसर नारियल के छिलकों से बना लिये जाते हैं। छाल के बने कपड़ों को रँगने के लिए ये लोग वनस्पतियों से रंग तैयार करते हैं। जर्राही के काम में तथा बाल बनाने के लिए शार्क मछली के तीखे दाँत या सीप के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता है। अपने पहनने के कपड़ों पर ये प्रायः रेखागणित की आकृतियों जैसे चित्र काढ़ते हैं। गाने-बजाने और नाचने के हेतु ढोल, बाँसुरी और सीप के बने हुए बिगुल का व्यवहार इन लोगों में प्रचलित है।

पालीनेशियनों के धर्म में अगणित देवी-देवता और भूत-प्रेतों का समावेश है। सबसे बड़े देवता—जिनको वे सृष्टि-नियंता मानते हैं—तोंगारो और मावी हैं। पालीनेशिया के सभी द्वीपों और प्रान्तों में ये दोनों देवता माने जाते हैं और इन लोगों की पौराणिक कथाओं के मुख्य नायक भी यही दोनों बतलाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे छोटे देवी-देवता, पिशाच, दैत्य आदि हैं, जो इन दोनों के अनुचर समझे जाते हैं। उनकी भी उपासना होती

है । कुछ ऐसी आत्माओं की आराधना भी की जाती है, जिन्होंने मनुष्य होते हुए भी देवत्व प्राप्त किया था ।

हवाई द्वीप में पहले बहुत बड़े-बड़े ऊँचे मन्दिर बने हुए थे, जिनमें धार्मिक कृत्य सम्पन्न हुआ करते थे । उन मन्दिरों में भीतर की ओर आँगन में देवी-देवताओं की लकड़ी की बनी हुई दीर्घाकार मूर्त्तियाँ रखी रहती थीं, जिनके मुँह खुले रहते थे । उनके मुँह में प्रसाद रख दिया जाता था । मूर्त्तियों के पास ही एक ऊँची वेदी बनी रहती थी, जिस पर पशुओं का बलिदान चढ़ाया जाता था । कभी-कभी वहाँ के लोग मनुष्यों की भी बलि दे दिया करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि नरबलि पाकर देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं । पुरोहितों का कार्य्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही घराने के लोगों द्वारा चला करता था । कभी-कभी घर का बड़ा-बूढ़ा ही पुरोहित का कार्य्य करता था, किन्तु वह अपने घर में ही पुरोहित माना जाता था । वही देवताओं पर प्रसाद चढ़ाता और वही बलिदान देता था ।

इस युग में श्वेतांगों के सम्पर्क में आने के बाद से पालीनेशियन जातियों में वर्णसंकरता का प्राचुर्य हो चला है और उनका उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है । फलतः उनमें शुद्ध रक्तवाले आदिम निवासियों की संख्या अब बहुत न्यून रह गई है ।

पालीनेशिया की तरह प्रशान्त महासागर के अंचल में बिखरे हुए अन्य कुछ द्वीपों को विद्वानों ने सामूहिक रूप से 'मेलानेशिया' का नाम दिया है और वहाँ के निवासी 'मेलानेशियन' जाति के कहे जाते हैं । दक्षिणी समुद्रों के अन्य द्वीपों के निवासियों की अपेक्षा मेलानेशिया के रहनेवालों के शरीर का रंग अधिक काला होता है और यही उनकी विशेषता है । मेलानेशिया के अन्तर्गत जिन द्वीपों की गणना होती है उनमें सबसे बड़े और प्रमुख न्यूगिनी तथा बिस्मार्क द्वीपसमूह हैं । बिस्मार्क द्वीपसमूह में न्यू पोमेरेनिया, न्यू आयर्लेंड, ऐडमिरैलिटी तथा अन्य कई छोटे-छोटे द्वीप हैं । इनके अतिरिक्त दक्षिण के सालोमन, सान्ताक्रूज़, न्यू हेब्रीडीज़, लॉयल्टी और न्यू कैलेडोनिया तथा पूर्व के फ़िजी आदि द्वीप भी मेलानेशिया के भूभाग माने जाते हैं । फ़िजी द्वीप के निवासियों में यद्यपि पालीनेशियन जातियों की छाप स्पष्ट जान पड़ती है, फिर भी विद्वानों के मतानुसार उनकी मेलाने-

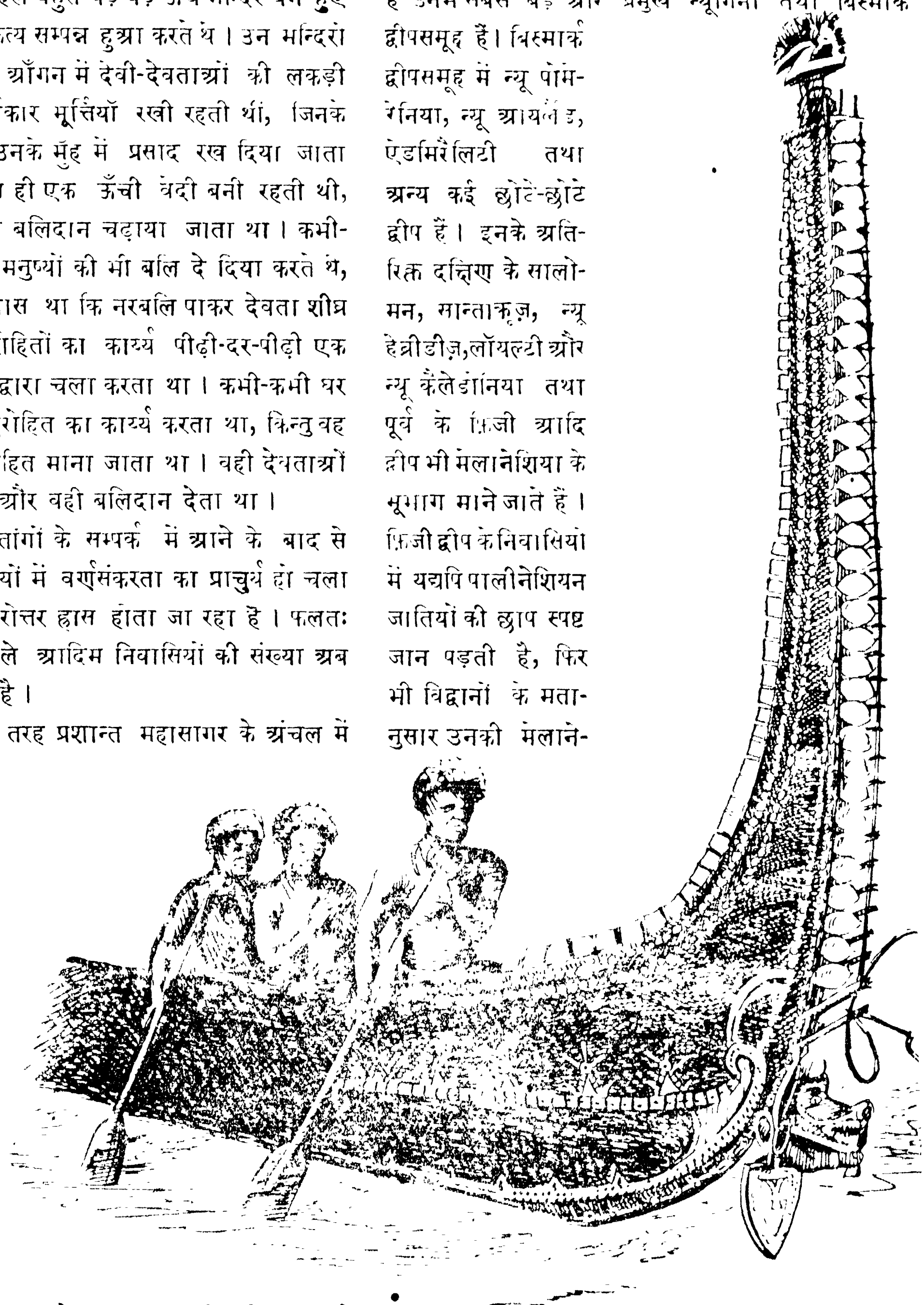

सालोमन द्वीपवासी मेलानेशियन लोगों की कलापूर्ण ढंग से निर्मित और सुसज्जित एक युद्ध-नौका

शिया के अन्तर्गत भी गणना की जा सकती है।

न्यूगिनी की लुप्तप्राय बौनी जातियों के कुछ प्रतिनिधियों को छोड़कर गुलभट खाये हुए केशोंवाले काले रंग के इन मेलानेशियन लोगों की दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं—एक तो नाटे क़द के चौड़ी चिपटी नाकवाली और दूसरी दुबले-पतले, लम्बे क़द, संकुचित ललाट और घुमावदार नाकवाली जातियों की। मेलानेशियन आकृति में पापुआन लोगों से बहुत मिलते-जुलते हैं और लोगों ने भ्रमवश उनको एक ही माना है। किंतु वस्तुतः न्यूगिनी के कुछ भागों में रहनेवाली जातियाँ ही पापुआन कहलाती हैं। हाँ, सामूहिक रूप से उक्त प्रदेश के सभी द्वीपवासियों को मेलानेशियन ही कहा जा सकता है। मेलानेशियन लोगों का मुख्य उद्यम कृषि तथा पशु-पालन है। वे सुअर, कुत्ते और मुर्ग़ियाँ पालते हैं। न्यू हेब्रीडीज़, न्यू मेक्लेनबर्ग और न्यूगिनी में जंगलों को साफ़ करना भी कृषिकार्य के अन्तर्गत समझा जाता है। पालिशदार पत्थर की कुल्हाड़ी और शंख की छुरियों से वहाँ जंगल के जंगल काटकर साफ़ कर दिये जाते हैं। मेलानेशिया में योरपियन लोगों के आगमन से पूर्व से ही लोहे की कुल्हाड़ियों का भी उपयोग होता आया है। जंगल के सब पेड़ जब काट डाले जाते हैं तब उनमें आग लगा दी जाती है और वे जलकर राख हो जाते हैं। वही राख भूमि के लिए खाद का काम देती है। इसके बाद नोकदार डंडों से भूमि को जगह-जगह पर खोदकर अनाज के पौधे लगा दिये जाते हैं। मुख्यतः कोको, ज़िमीकन्द और टारो नामक खाद्य ही वहाँ की ख़ास पैदावार हैं। केले और कटहल वहाँ बहुत कम पैदा होते हैं। पूर्वी मेलानेशिया में—मुख्यतः फ़िजी में—कावा नामक एक पौधा, जिसकी जड़ों से उसी नाम की शराब बनाई जाती है, पैदा होता है। साबूदाने के पेड़ भी मेलानेशिया में पहुँच गए हैं। न्यूगिनी के अधिकांश निवासियों का वही मुख्य खाद्य-पदार्थ है, किंतु उस द्वीप के कुछ इलाक़े ऐसे भी हैं जहाँ वह बिलकुल नहीं पाया जाता। पश्चिमी न्यूगिनी में सुपारी के वृक्ष बहुत हैं। मेलानेशिया में आबपाशी का भी रिवाज है। बहुत से फ़िज़ी-निवासी सूखी भूमि में टारो भी बोते हैं। जंगली जानवरों से फ़सल को बचाने के लिए ये लोग खेतों और क्यारियों के चारों ओर बाढ़ भी लगा देते हैं।

पालीनेशिया की अपेक्षा मेलानेशिया में शिकार अधिक मिलता है, इसीलिए न्यूगिनी की अधिकांश जातियाँ शिकार द्वारा ही अपना पेट भरती हैं। जंगली सुअर और पेड़ों पर रहनेवाले कंगारू जैसे जीव वहाँ के मुख्य शिकार हैं। न्यूगिनी के निवासी शिकार में एक प्रकार का फेंकनेवाला बर्छा काम में लाते हैं। अधिकांश भूभागों में धनुष-बाण का भी उपयोग होता है, किंतु कहीं-कहीं लोग उनसे सर्वथा अपरिचित हैं। मछली मेलानेशियन लोगों का एक प्रमुख आहार है। बहुत से द्वीपों में सामूहिक रूप से मिलकर लोग मछलियों का शिकार करते हैं। फ़िजी के धनीमानी लोग पेशेवर मछुओं के द्वारा मछलियाँ पकड़वाते हैं। प्रायः बर्छों, तीरों, जालों और काँटों से मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। सालोमन द्वीपवाले कछुए की हड्डी या सीप के काँटों और बंसियों से ही मछलियों का शिकार करते हैं। मछलियों को मूर्च्छित करने के लिए वनस्पतियों के विष का उपयोग भी किया जाता है। शार्क जाति की मछली पकड़ने के हेतु विशेष प्रकार के काँटे और फंदे बनाये जाते हैं। त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर ढोल और बाजे बजाकर समुद्री कछुए हाँके जाते हैं और तब बड़े-बड़े जाल डालकर उनको पकड़ा जाता है।

मेलानेशिया के कुछ भागों के निवासी नर-मांस-भक्षी भी हैं। न्यू हेब्रीडीज़ के रहनेवाले आपस में नर-मांस का व्यापार करते हैं। पहले फ़िजी द्वीप में भी यह प्रथा थी और वहाँ के निवासी लम्बे-लम्बे काँटों से नरमांस खाते थे। वे युद्ध में पकड़े हुए क़ैदियों को ही नहीं खा जाते थे वरन् कुछ जातियाँ प्रति वर्ष के उत्सव-समारोह में कुछ मनुष्यों को भी राजा को भेंट करती थीं, जिनका मांस लोग बड़े चाव से खाते थे। किसी-किसी द्वीप में लोग रोगियों को भी मारकर खा जाते थे।

मेलानेशियन लोगों में घर बनाने की दो भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं—एक तो भूमि पर बने हुए मकान, दूसरे मचान पर बने हुए। भूमिस्थ मकान साधारण बनते हैं और उनकी छतें ज़मीन तक छूनेवाली नीची रहती हैं। किन्तु मचान के ऊपर बने हुए घर समुद्र-तट तथा भीतरी भागों में बहुत बड़े-बड़े बनाये जाते हैं। डच न्यूगिनी में ऐसे मचान-स्थित घरों की पूरी बस्तियाँ और गाँव दिखाई देते हैं। न्यूगिनी में एक तीसरे प्रकार के मकान

भी होते हैं, जो ऊँचे वृक्षों के ऊपर बनाये जाते हैं और जिनका उल्लेख पिछले एक लेख में किया जा चुका है। दिन में लोग प्रायः भूमि पर ही विश्राम करते हैं, और रात होते ही रस्सों की सीढ़ियों के सहारे अपने-अपने वृक्षगृहों में चढ़ जाते हैं। फ़िजी के मकानों की बनावट पालीनेशिया के मकानों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वहाँ पत्थर की नींव पर लकड़ी के चौकोर मकान बनाये जाते हैं।

मेलानेशियन स्त्रियाँ अधिकतर घास और जटाओं के बुने हुए छोटे-छोटे घाँघरे पहनती हैं और पुरुष वृक्ष की छालों के रंग से रँगी हुई मेखलाएँ धारण करते हैं। वे लोग वस्त्रों का आभूषण के रूप में व्यवहार करते हैं। कुछ जातियों के लोग नितान्त नग्न रहते हैं। फ़िजीवालों की पोशाक, जिसे "तापा" (Tapa) कहते हैं, पालीनेशियावालों की पोशाक से मिलती-जुलती होती है। मेलानेशियन अपने वक्षःस्थल, गर्दन, भुजाओं, और टाँगों पर भाँति-भाँति के आभूषण पहनते हैं, जिनका वर्णन करना कठिन है। ये आभूषण विशेषतया शंख या कौड़ियों के बनते हैं अथवा कछुए की हड्डियों और जंगली सुअर के दाँतों के बनाये जाते हैं। शरीर का रँगना इन लोगों का विशेष शृङ्गार है और प्रायः सभी जगह इसका रिवाज़ है। मेलानेशियन लोग अपने सारे बदन और बालों को खजूर के तेल में रामरज (पीली मिट्टी) मिलाकर खूब रँगते हैं। वे नाक छेदकर उसमें हड्डियाँ और दाँत पहनते हैं। कान की लौरों में भी बड़े-बड़े छेद करके वे बालियाँ और कछुए की हड्डी के बने आभूषण धारण करते हैं। डच न्यूगिनी के निवासी अपने दाँतों को रेतकर नोकीला कर लेते हैं। न्यू हेब्रीडीज़ तथा न्यू पोमेरेनिया के रहनेवाले अपने सिर के आकार को विकृत करके पगड़ी-जैसा बना लेते हैं।

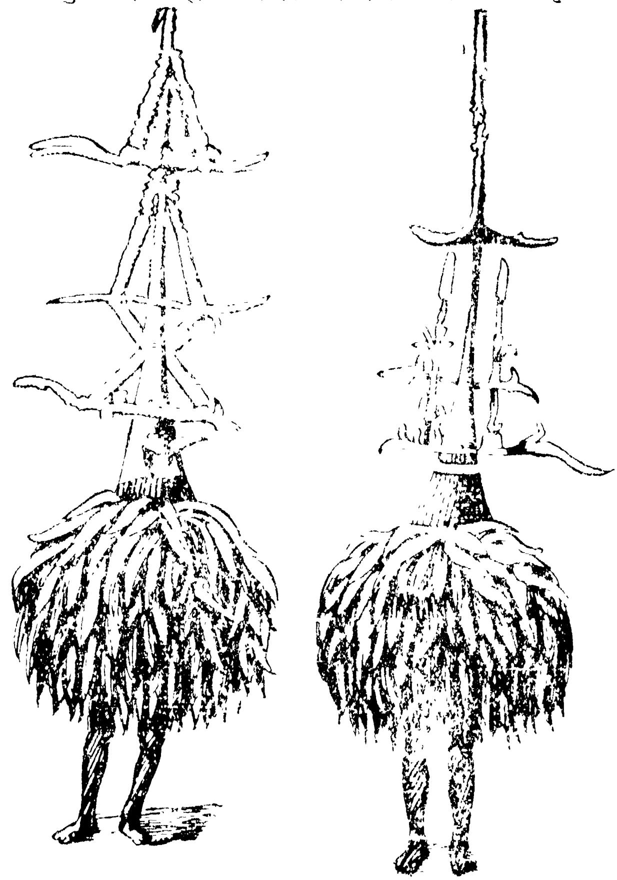

न्यू पोमेरेनिया द्वीप की 'डक-डक' नामक एक प्रभावशाली गुप्त संस्था के सदस्य जो इसी तरह का विचित्र भेष धारण कर यहाँ-वहाँ घूमते हुए अपने आतंक द्वारा लोगों को दण्ड देते और उन पर धाक जमाए रहते हैं!

न्यू पोमेरेनिया तथा न्यू मेक्लेनबर्ग के निवासी जर्राही द्वारा खोपड़ी चीरकर पागलपन तथा मस्तकशूल का इलाज करते भी पाए गए हैं।

मेलानेशिया की प्रायः सभी जातियाँ परस्पर लड़ती रही हैं। न्यूगिनी और डच न्यूगिनी की अल्फ़ूरी जातिवाले नर-मुंडों के भयंकर शिकारी होते हैं। जान-बूझकर वे अपने शत्रुओं को मारने को निकलते हैं और विजयी होने पर उनके मुण्ड इकट्ठा करके घर लाने का उनको बड़ा चाव रहता है। उनके मुख्य शस्त्र धनुष-बाण और बर्छे हैं। लकड़ी की तलवारों और गदाओं का भी वे व्यवहार करते हैं। न्यू पोमेरेनियन लोगों की गदाओं में नोकीले काँटे लगे रहते हैं और वे देखने में बड़ी भयंकर होती हैं। ऐडमिरेलिटी द्वीपनिवासी अपने बर्छों के फल ज़हर में बुझाये रहते हैं। वे गोफनों का भी उपयोग जानते हैं और उनमें नोकदार वज़नी पत्थर रखकर दूर से शत्रुओं पर मारते हैं। अनेक प्रकार की ढालें भी उनमें उपयोग में आती हैं, जो बाएँ कंधे पर बँधी

रहती हैं अथवा एक जाल में डालकर गले में लटकाई रहती हैं, ताकि योद्धा को धनुष-बाण चलाते समय उनके कारण कोई अड़चन न पड़े।

आस्ट्रेलियन और पालीनेशियन जातियों की अपेक्षा मेलानेशियन बर्त्तन बनाने की कला में विशेष पारंगत होते हैं। फ़िज़ीवाले इस कार्य्य में विशेषतया दक्ष समझे जाते हैं। पहले एक पत्थर और लकड़ी के डंडे से गीली मिट्टी को कूटकर उसका गोला बनाया जाता है, फिर उसे वांछित आकार देते हैं। वे अपने बर्त्तनों को भिन्न तरीक़े से पकाते हैं। लकड़ी पर नक़्क़ाशी और सीप का काम बनाने में भी मेलानेशिया के निवासी कमाल करते हैं। द्वार की चौखट, नौकाओं के सिरे तथा पूर्वजों की काष्ठ-मूर्त्तियाँ, आदि वे बड़े कलापूर्ण ढंग से बनाते हैं। चटाइयाँ और टोकरियाँ भी वहाँ अच्छी बुनी जाती हैं। लाल, श्वेत और काले रंगों से रंगकर उनको बड़ा सुन्दर रूप दिया जाता है। माल ख़रीदने या बेचने में कौड़ियों और शंखों को मुद्राओं की जगह व्यवहार किया जाता है। माल लादने और ले जाने के लिए भाँति-भाँति की नौकायें काम में लाई जाती हैं। उन नावों पर बाँस के बड़े-बड़े संदूक़ या टोकरे रखे रहते हैं, जिनमें माल भरा जाता है। नावों के ऊपर घास-फूस का छप्पर भी डाल दिया जाता है, जिसमें हवा और पानी से बचाव रहे।

मेलानेशियन लोगों की समाज-व्यवस्था बड़ी विचित्र है, जो बाहरी व्यक्तियों की समझ में नहीं आती। गाँवों में जाति-व्यवस्था का नियम है, किन्तु इसके अपवाद भी अनेक मिलते हैं। कई गाँवों की जातियाँ मिलकर एक केन्द्रीय व्यवस्था-परिषद् बनाती हैं। कहीं-कहीं स्पष्टतया निरंकुश शासन-प्रणाली चलती है। फ़िज़ी में कई गाँवों का एक सर्दार या नेता होता है, जो उन गाँवों पर शासन करता है। भिन्न-भिन्न जातियों में सर्दारों और नेताओं का न्यूनाधिक महत्व है। कुछ जातियाँ अपने सर्दारों को देवता मानकर पूजती हैं। मेलानेशिया में सभी जातियाँ दो वर्गों में विभाजित हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। स्त्रियाँ विशेष रूप से परतंत्र रहती हैं। उनकी दशा बड़ी दयनीय होती है और समाज में उनको कोई महत्व नहीं दिया जाता।

यह सामाजिक भिन्नता और सर्दार का आधिपत्य 'डक-डक' प्रणाली के अन्तर्गत आकर और भी भयंकर हो उठा है, जिसका न्यू पोमेरेनिया में बड़ा ज़ोर है। 'डक-डक' वास्तव में एक गुप्त और शक्तिशाली अर्ध-शासक संस्था है और जिस प्रकार सामाजिक नियंत्रण में इसका हाथ है उसे कुछ अंशों में अत्याचार कहा जा सकता है। इस गुप्त संस्था के सदस्य सदैव मुँह पर विचित्र प्रकार के नक़ाबनुमा चेहरे पहने रहते हैं, जिससे उनको कोई पहचान नहीं पाता। ये लोग जनसाधारण से जुर्माने वसूल करते हैं और लोगों को दण्ड देते हैं। कभी-कभी वे लोगों को प्राणदण्ड तक देते हैं और उनके घर फुँकवा देते हैं।

इस व्यवस्था के अतिरिक्त वहाँ एक सगोत्रीय व्यवस्था का भी प्रचार है। यह 'टोटेमिज़्म' या सम्बन्ध-सूचक चिह्नों पर आधारित होकर मातृ-पक्ष के अधिकारों और असवर्ण विवाहों के नियमों पर चलती है। पारिवारिक जीवन में इसका बड़ा महत्व रहता है। कुछ वर्गों के लोग परस्पर शादी-ब्याह नहीं करते, अतएव सम्भावित पत्नियों का क्षेत्र सीमित रहता है। विवाह के भी विचित्र तरीक़े मेलानेशिया में प्रचलित हैं। कन्या का अपहरण, सम्मति से विवाह और बाल-विवाह की प्रथाएँ उनमें पाई जाती हैं। पुरुष दो विवाह भी कर लेते हैं। न्यू हेब्रीडीज़ में बहु-पति-प्रथा भी है। दो विधुर एक ही विधवा से विवाह कर लेते हैं। फ़िज़ी के निवासियों में सन्तान होने पर माता-पिता एक महीने तक कुछ विशिष्ट खाद्य पदार्थों को छूते तक नहीं और न पिता शारीरिक परिश्रम ही करने पाता है। मेलानेशियन लोग कभी-कभी अपने बच्चों को मार भी डालते हैं या उन्हें घर से निकाल देते हैं। सालोमन द्वीप के लोग अपने बच्चों को मारकर उनकी जगह दूसरे बच्चे ख़रीद लाते हैं। सयाने होने पर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के समय काम-विज्ञान के विषय में उनके अभिभावक विशेष ध्यान देते हैं। उस समय बहुतेरे लड़कों का ख़तना किया जाता है। इसके उपरान्त लड़के घर में नहीं सोने पाते, वरन् 'कुँवारों के गृह' में उनको रहना पड़ता है। रजस्वला होने के बाद लड़कियाँ एक पृथक् झोपड़े में ले जाकर रखी जाती हैं, जहाँ वृद्धाओं के अतिरिक्त और कोई नहीं जाने पाता। वहाँ उनकी कड़ी देख-रेख रखी जाती है।

मृतात्माओं का प्रभाव सब जातियों में विशेष रूप से माना जाता है। परिवार के व्यक्ति अपने पूर्वजों की

आत्माओं से सदा डरते रहते हैं, क्योंकि सर्वत्र उनका दुष्प्रभाव ही देखने में आता है। मेलानेशियन लोगों में पितृ-पूजा भी प्रचलित है। बहुत सी जातियाँ अपने मुर्दों की अस्थियाँ सुखाकर सुरक्षित रखती हैं, किन्तु अधिकतर केवल मृतक की खोपड़ी रखने का ही नियम है। मृतकों की काष्ठ-प्रतिमाएँ बड़ी सजधज से बनाकर रखी जाती हैं, जिसमें उनकी आत्माएँ इधर-उधर न भटककर मूर्त्तियों में ही निवास करें। न्यूगिनी में पत्थर की मूर्त्तियाँ भी बनती हैं, जिनका सिर खोखला रखा जाता है। उस खोखले सिर के भीतर मृतक की खोपड़ी रख दी जाती है।

मेलानेशिया में धीरे-धीरे नवीन सभ्यता का प्रवेश होता जाता है और अधिकांश जातियाँ अपनी परम्परागत रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों को छोड़कर सभ्य बन गई हैं। जंगली और बर्बर कहलानेवाले ये लोग अब अपनी रूढ़ियों को त्याग रहे हैं। कुछ जातियाँ तो प्रायः मिट-सी गई हैं। केवल उनके इने-गिने प्रतिनिधि ही दिखाई देते हैं, पर उन लोगों की भी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और वे भी शीघ्रता से कालकवलित हो रहे हैं। वहाँ के विदेशी शासक यद्यपि आदिम निवासियों की रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल पाई है।

मावरी

न्यूज़ीलैंड के शूरवीर

कई हज़ार वर्ष बीते, दक्षिणी समुद्रों के किसी द्वीप में 'मावी' नामक एक वीर पुरुष अपने पराक्रम और शौर्य्य के लिए प्रसिद्ध हुआ। वह बड़ा साहसी था और अपने बन्धु-बान्धवों के साथ नावों में बैठकर समुद्रों में घूमता रहता था। उसके पास एक मछली पकड़ने का जादू का काँटा था, जो उसके किसी प्राचीन पूर्वज के जबड़े की हड्डी का बना हुआ था और उसी से वह मछलियों का शिकार किया करता था। एक दिन मावी ने ज्योंही वह काँटा समुद्र के अगाध जल में फेंका, त्योंही वह जा फँसा तोंगानी के घर में। तोंगानी और कोई नहीं मछलियों के देवता तोंगारो का पौत्र था। अब उस काँटे को खींचना कोई आसान काम नहीं था, क्योंकि उसमें मछली के स्थान पर पूरा एक घर फँसा हुआ था। फिर भी, मावी-जैसे महाबली योद्धा को अपनी ताक़त आज़माने का अच्छा अवसर मिला। समुद्र के जल में भयंकर लहरें उठती देखकर मावी के बन्धु-बान्धव भयभीत हो गए, किन्तु वह उस काँटे की रस्सी खींचता ही गया। अन्त में उसने न केवल तोंगानी का पूरा घर ही काँटे के साथ खींच लिया वरन वह सारी भूमि भी साथ-ही-साथ बाहर खिंच आई जिस पर वह घर बना हुआ था! यही भूमि, जो आरम्भ में 'मावी की मछली' के नाम से प्रसिद्ध हुई, आजकल पाश्चात्य लोगों की बोली में न्यूज़ीलैंड कहलाती है!

उपर्युक्त विचित्र कहानी न्यूज़ीलैंड के मूल निवासियों में, जो 'मावरी' कहलाते हैं, दंतकथा के रूप में प्रसिद्ध है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी से उसका उनमें प्रचार चला आ रहा है, क्योंकि इसी के द्वारा वे लोग अपने पूर्वजों की श्रेष्ठता का बखान करते हैं। मावरी लोग मावी को अपना राष्ट्रीय वीर मानते हैं। उसे वे अपना नेता और सरदार कहते हैं। उनके कथनानुसार मावी बड़ा ज़बरदस्त जादूगर भी था। उनकी ज़बानी यह भी सुना जाता है कि मावी ने वृक्षों की जटाओं से बनी रस्सी से सूर्य्य को बाँध लिया था, जिससे उसकी चाल कम हो गई और दिन बड़े होने लगे! इसके अतिरिक्त प्रायः अपने झगड़ालू कुटुम्बियों को दण्ड देने के लिए अपना हाथ बढ़ाकर वह चन्द्रमा को ढँक लेता था जिससे चारों ओर अँधेरा छा जाता था। इन लोगों में मावी के बारे में और भी बहुत-सी प्राचीन दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। उनसे यह पता चलता है कि मावी एक बार नौ नावें लेकर 'हवॉइकी' से आया और उन्हीं नावों के नाम से स्थानीय नौ जातियों के नाम पड़े! यह 'हवॉइकी' नामक स्थान कहाँ था, सो नहीं कहा जा सकता, किन्तु विद्वानों का मत है कि वह समोआ के निकट कोई टापू रहा

होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि दक्षिणी समुद्रों के समोआ, ताहिती तथा अन्य द्वीपों में रहनेवाली आदिम जातियों से मावरी लोगों का कभी संबंध अवश्य रहा है। मावरी जातिवाले उन्हीं लोगों की भाँति भूरे रंग के होते हैं तथा उनकी बोली भी समोआ, ताहिती आदि द्वीप के निवासियों में से बहुत कम भिन्नता रखती है।

संसार की अन्य अनेक असभ्य और आदिम जंगली जातियों की भाँति मावरी लोगों में भी कभी नर-मांस खाने की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु धीरे-धीरे उसका लोप हो गया। मावरी लोग गोरी जातिवाले विदेशियों को 'पकेहा' कहते हैं। इन्हीं योरपवालों का उनके देश में आगमन होने पर नर-मांस-भक्षण की प्रथा का उनमें अन्त हुआ और मावरी लोग क्रमशः सभ्यता के पथ पर क़दम बढ़ाने लगे। पर अभी भी उन पर जंगली जातियों का काफ़ी रंग चढ़ा हुआ है। वे अपने चेहरे और बदन पर गोदने द्वारा भयावने चित्र और आकृतियाँ बनवाते हैं। इस गोदने को वे लोग 'मोको' कहते हैं और यह कार्य्य पक्षियों की हड्डियों, शार्क मछली के दाँतों और पत्थर के नुकीले औज़ारों से सम्पन्न किया जाता है। प्रायः उनके बदन में गहरे-गहरे खाँचे काट दिये जाते हैं। यह गोदने की प्रथा बड़ी कष्ट-प्रद होती है, फिर भी मावरी जाति उसे शृंगार का साधन समझकर उसमें रुचि रखती है। गोदने के चिह्नों से ही इन लोगों का व्यक्तिगत और जातीय परिचय मिलता है और फलतः समाज में वह एक आदरणीय अलंकार माना जाता है। सुना जाता है कि एक बार किसी मावरी सरदार ने एक आवश्यक प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर करने में अपने को असमर्थ पाकर उस जगह अपने निजी गोदने का चिह्न ही बना दिया था! आजकल यद्यपि इस गोदने की प्रथा का क्रमशः ह्रास हो रहा है, फिर भी वृद्ध मावरियों के चेहरों और बदन पर अभी भी काफ़ी गोदने के निशान देखे जाते हैं। मावरी स्त्रियाँ भी बड़े चाव से गोदने को अपनाती हैं। उनमें होठों और ठुड्डी पर गोदने के चिह्न होना बड़े सौन्दर्य्य की बात समझी जाती है।

चेहरे पर गोदना गोदाए तथा अपनी प्राचीन झालरदार पोशाक पहने हुए एक मावरी सरदार

मावरी लोगों की पोशाक भी बड़ी अद्भुत होती है। पेड़ों की जटाओं से बुना हुआ एक ऊँचा जाँघिया, जिसमें सामने की ओर लम्बी झालर लटकती रहती है, और कंधों से घुटनों तक का एक लम्बा चोग़ा, बस यही उनकी पोशाक है। उनका चोग़ा या लबादा किवी तथा अन्य स्थानीय पक्षियों के परों का बना होता है। स्त्रियाँ भी ऐसे ही परों या जटाओं के रेशों का एक घाँघरानुमा लबादा पहनती हैं, जिससे ऐसा मालूम देता है मानों वे एक घास की पूली को अपने बदन के आसपास लपेटे हों! समय के प्रवाह में पड़कर मावरी लोग अपनी जातीय पोशाक छोड़कर अब कोट, पतलून, हैट और बूट भी पहनने लगे हैं, फिर भी उनमें बहुतेरे ऐसे लोग हैं जो प्राचीनता

के पक्षपाती हैं। शताब्दियों पहले से ये लोग कपड़े बुनने और लकड़ी पर चित्रकारी के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, जिसके उदाहरण आज भी उनमें पाए जाते हैं। उनकी ये कलाएँ पीढ़ियों से चली आती हैं। उनके प्राचीन मंदिरों और मकानों के खम्भों पर बड़े सुन्दर चित्र बने हुए पाये जाते हैं, परन्तु नये ज़माने में मावरी जाति अपनी उस पैतृक सम्पत्ति को धीरे-धीरे खोती जा रही है। अथक परिश्रम द्वारा अर्जित की हुई उनके पूर्वजों की वह कलाकीर्त्ति नए युग की सभ्यता के पैरों तले रौंदी जाकर लुप्तप्राय हो रही है।

मावरी लोगों का घर 'ह्वारे' कहलाता है और वह लकड़ी के लट्ठों का बना होता है। पुराने ज़माने में इनकी प्रत्येक जाति के कई घर होते थे। एक घर केवल सोने के लिए काम में आता था। उसमें पतावर की बनी हुई चटाइयाँ और घास की छोटी-छोटी पीढ़ियाँ रहती थीं। उनके गाँवों के बाहर लट्ठों की बनी हुई सुदृढ़ चहारदीवारी होती थी, जिसे वे 'पाह' कहते थे। पहाड़ी बस्तियोंवाले ऊँचे-ऊँचे मचान बाँधकर उन पर पहरेदार रखते थे, जो सदा सतर्क रहकर दूर से आते हुए शत्रु को देखते ही गाँववालों को आत्मरक्षा के लिए तैयार होने का संकेत दिया करते थे। किन्तु अब ऐसी 'पाह' बहुत कम देखने में आती हैं।

मावरी जाति का गौरव उनकी प्राचीनता का गौरव है। किसी ज़माने में वह एक महान् शक्तिशाली, युद्धप्रिय, और पराक्रमी जाति मानी जाती थी और उसकी संख्या लाखों की थी। परन्तु आज उनकी संख्या केवल पचास हज़ार के लगभग है। क्षयी आदि संक्रामक रोगों के फैलने से उनकी तादाद बहुत घट गई है। वे अपने पड़ोस की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं तथा नए युग की प्रगति में शीघ्रता से भाग ले रहे हैं। बहुत-से मावरी युवक शिक्षा प्राप्त करके अपने देश के शासन-प्रबंध में ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर भी काम कर रहे हैं और बड़े कुशल कार्यकर्त्ता माने जाते हैं। सन् १८९६ की मनुष्य-गणना के बाद से मावरी लोगों की जन-संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है और लोगों का विश्वास है कि इस जाति का ह्रास अब न होगा, वरन् वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी।

मावरी जन्म से ही युद्धप्रिय और शूर होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब विदेशियों ने उसकी भूमि पर अधिकार जमाकर उस पर अत्याचार शुरू किया तो समस्त मावरी जाति उस अत्याचार के विरोध में उठ खड़ी हुई और दो बार ऐसा भयंकर संग्राम हुआ कि विदेशियों के छक्के छूट गए। युद्ध ही उनका मनोविनोद और रणभूमि ही उनका अखाड़ा है। अपनी जातीय स्वतंत्रता के लिए प्राण देने में वे कभी पीछे नहीं हटते। पुराने ज़माने में भी मावरी लोगों की युद्ध की नौकाएँ शत्रु के लिए बड़े भय

सन के रेशों से बना अपना विचित्र लबादा पहने दो मावरी स्त्रियाँ

की वस्तु मानी जाती थीं। वे नौकाएँ सरो के पेड़ों को काटकर बनाई जाती थीं, जो उस भूमि पर बहुतायत से पाए जाते हैं और उन पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। नावों को लाल रँगकर पक्षियों के परों तथा घोंघे, सीप आदि के छिलकों से सजाया जाता था। सामने की ओर नाव की लकड़ी में मनुष्य की आकृति खोदकर बनाई जाती थी और उसे एक छोर से दूसरे छोर तक भाँति-भाँति के चित्रों की नक़्क़ाशी से अलंकृत किया जाता था। नाव के दोनों किनारों पर ऊपर की ओर परों के गुच्छे बँधे हुए लटकते रहते थे, जो हवा चलने पर इधर-उधर उड़ते हुए बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। इन लोगों में पक्षियों के पर शृंगार की विशेष सामग्री माने जाते रहे हैं।

मावरी लोगों का नाच बड़ा विचित्र होता है। स्वभाव से ही वे लोग नाचने के बड़े शौक़ीन होते हैं। उनका नाच उनके मनोविनोद का साधन और नवयुवकों को युद्धप्रिय बनाने तथा उनमें वीरता के भावों का संचार करने का उपादान मात्र न होकर उनकी धार्मिक प्रथाओं का भी एक आवश्यक अंग माना जाता है। इसके अतिरिक्त उनके नाच की विशेषता यह है कि प्रत्येक नाच किसी-न-किसी कथा को प्रदर्शित करता है और वह कथा मावरी जाति के इतिहास से संबंध रखनेवाली होती है। इस प्रकार उनके प्राचीन गौरव और वीरगाथाओं का सजीव रूप उनके नृत्य में पर्याप्त रूप से देखने को मिलता है। उनका सबसे प्रिय नृत्य 'नावों का नृत्य' कहलाता है। इसमें बीस या चालीस लड़कियाँ मिलकर नाचती हैं, जिनमें से कुछ लड़कियाँ तो बैठी रहती हैं, जिनको मल्लाह या नाविक समझ लिया जाता है, और दूसरी कुछ उनके पीछे खड़ी होकर अपने शरीर को इधर-उधर बड़े कलापूर्ण ढंग से हिलाती डुलाती हैं, जिनसे लहरों के आरोह-अवरोह का प्रदर्शन होता है। इस नाच में सम्मिलित होनेवालों द्वारा नियमित अंग-संचालन के अतिरिक्त नाव से टकरानेवाली लहरों के शब्द का भी अनुकरण किया जाता है। लड़कियों

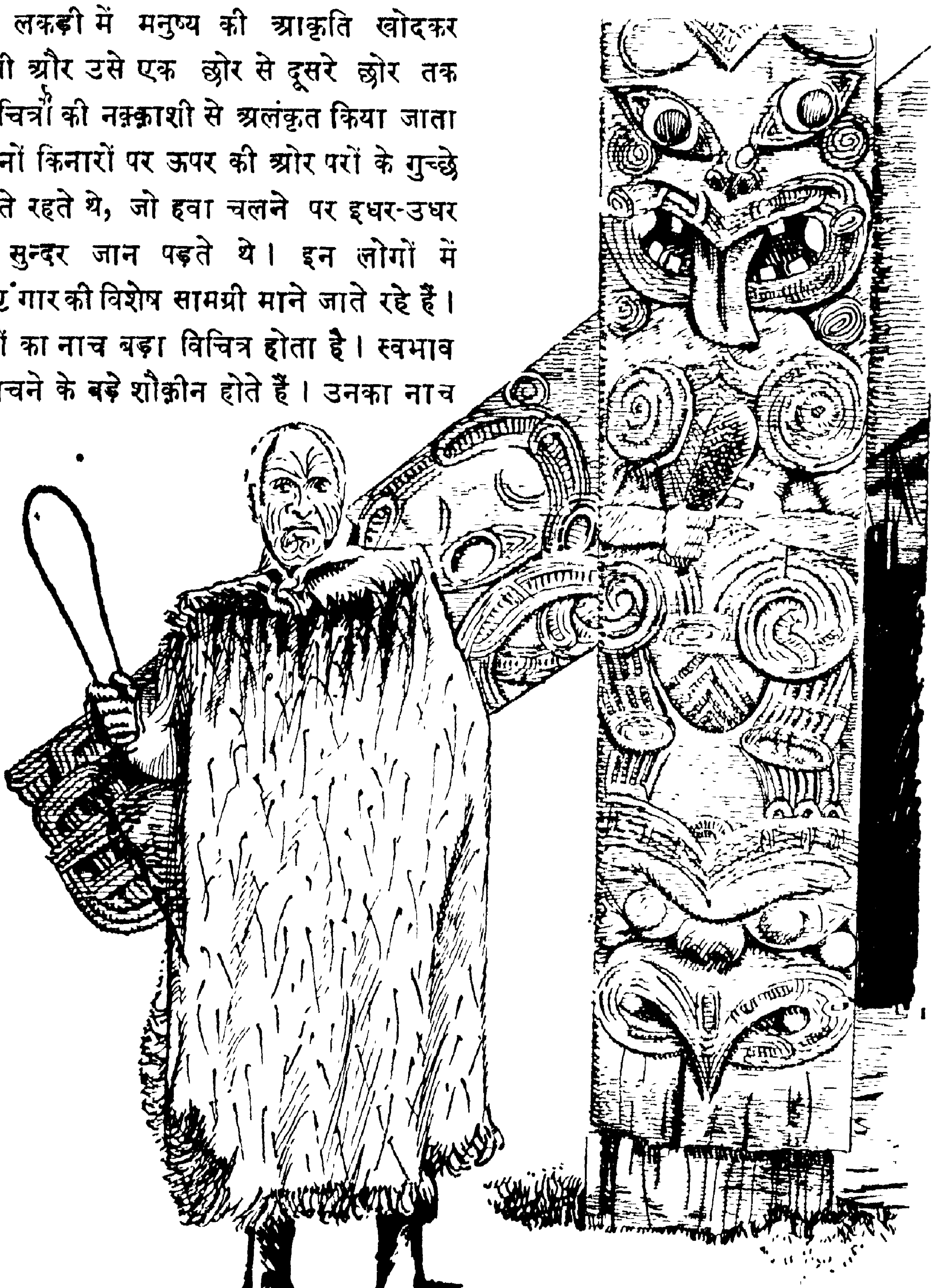

एक मावरी सरदार और उसके मकान का सामने का भाग। मावरियों के मकानों पर नक़्क़ाशी द्वारा विचित्र आकृतियाँ खुदी रहती हैं, जैसा कि इस चित्र में दिखाई दे रहा है।

की नाचने की पोशाक में पेड़ों की जटा और सन का एक-एक घाँघरा रहता है, जिसको पहनकर नाचने से अपने आप लहरों के टकराने-जैसा शब्द होता है। घूम-घूमकर नाचने से उस घाँघरे की लटकती हुई लम्बी झालर की हरएक लड़ी से बहते हुए जल का आभास होता है। लड़कियाँ अपने हाथों में वैसी ही जटाओं के बने हुए छोटे-छोटे गेंद, जिन पर पत्तियाँ लिपटी होती हैं, लेकर नाचती हैं और बीच-बीच में उन गेंदों को एक-दूसरे से टकराती जाती हैं। उनके टकराने से ऐसा जान पड़ता है मानों नाव के डाँड़ों का शब्द हो रहा हो!

मावरी जाति के लड़के-लड़कियाँ धागों से 'बिल्ली के झूले' का खेल खेलते, पतंगें उड़ाते, रस्सियों पर उछलते, लट्टू नचाते और फंदे फेंकते हैं। ये खेल उनमें पुराने ज़माने से ही प्रचलित हैं। उनका एक खेल ऐसा है, जिसमें सब लड़के-लड़कियाँ इकट्ठा होकर ज़मीन पर बैठ जाते हैं और अपनी आँखें, नाक, भौं, मुँह चढ़ाकर बड़ी भयंकर आकृतियाँ बनाते हैं। साथ-ही-साथ वे चीखते, दहाड़ते और अपने बदन को ऐंठते-मरोड़ते रहते हैं। जो सबसे भयानक आकृति बनाकर दिखाता है वही विजयी समझा जाता है।

आज दिन अधिकांश मावरी ईसाई धर्म को मानने लगे हैं, किन्तु अभी भी उनमें से कुछ अपने प्राचीन भूत-प्रेत, जादू-टोने आदि में विश्वास रखते हैं। जिस प्रकार वे अपने पूर्वज 'मावी' की वीरता का उल्लेख करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी, सूर्य, आकाश, चन्द्रमा तथा अन्य प्राकृतिक चमत्कारों को किसी-न-किसी देवात्मा की कृपा का फल बतलाते हैं।

मावरियों के एक युद्ध-नृत्य का दृश्य

द्यॉक

बोर्नियो के मनोरंजक आदिम निवासी

बोर्नियो द्वीप के आदिम निवासियों को, जो द्यॉक के नाम से मशहूर हैं, दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो स्थलीय द्यॉक, दूसरे समुद्री द्यॉक। स्थलीय द्यॉक बहुत कम समुद्री यात्रा करते हैं। यदि वे समुद्र पर जाते हैं तो व्यापार और लूटमार के प्रयोजन से ही और इस विषय में वे समुद्री द्यॉकों से सर्वथा भिन्न हैं, जिनका अस्तित्व ही समुद्र पर निर्भर है। विद्वानों का अनुमान है कि स्थलीय द्यॉक किसी ऐसे भूभाग से आए हुए प्रवासी हैं जहाँ हिन्दू-धर्म का ज़ोर था, क्योंकि उनमें अभी तक हिन्दू रीति-व्यवहार और संस्कारों की कुछ-कुछ छाया पाई जाती है। पत्थर के बने हुए बैलों की मूर्तियाँ, जो हिन्दुओं के देवता भगवान् शिव के वाहन नन्दी की प्रतिमा मानी जाती हैं, तथा पत्थर के बर्त्तन और घण्टे आदि भी द्यॉक लोगों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे हिरन तथा अन्य पशुओं का मांस छूते तक नहीं। बल्कि पशुहिंसा के वे इतने कट्टर विरोधी हैं कि यदि उनकी जाति का कोई भी व्यक्ति पशुओं को मार डाले तो उससे भारी दण्ड लिया जाता है! वे अपने इष्टदेव को "जुवता" कहते हैं जो संस्कृत के "देवता" शब्द का ही विकृत रूप प्रतीत होता है। इन्हीं सब कारणों से ज्ञात होता है कि द्यॉक लोग हिन्दुओं की पूजा-पद्धति से अवश्य परिचित रहे हैं जो उन्हें संभवतः कॉपुआ नदी के मार्ग द्वारा जावा द्वीप से आनेवाले लोगों से मिली होगी। बोर्नियो की सुदूर सीमा और जावा द्वीप में लगभग दो सौ मील का अन्तर है, किन्तु अधिकतर अनुकूल वायु चलने के कारण नावों द्वारा इतनी यात्रा करना सुगम रहा होगा।

स्थलीय द्यॉकों की नौ या दस शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा बहुत-सी छोटी-छोटी उपजातियों में बँटी हुई है। प्रत्येक उपजाति का नाम तथा उसकी विशेषताओं के बारे में सभी बातें लिखना असम्भव है, क्योंकि उनमें समयानुकूल परिवर्त्तन होते रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने रहने का स्थान बदलते रहते हैं और खेती के लिए नित नई भूमि खोजा करते हैं। परिणाम यह होता है कि उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती हैं। लड़ाइयों के बाद वे फिर बिखर जाते हैं और नई उपजातियाँ बनाकर अन्यत्र जा बसते हैं। अनुमानतः उन छोटी-छोटी जातियों की संख्या चालीस हज़ार से कम नहीं होगी और उनमें बहुत-सी ऐसी भी जातियाँ हैं जिनका कोई भी व्यक्ति कभी समुद्री यात्रा करने गया ही नहीं!

समुद्री द्यॉक अधिक गोरे और सुन्दर होते हैं। स्थलीय द्यॉकों की अपेक्षा उनकी आबादी भी तिगुनी है। वे अभी तक पुराने ज़माने के समुद्री लुटेरों की भाँति ही रहते हैं। वे एक भ्रमणशील लोग हैं, लूटमार ही उनका पेशा है और नर मुण्डों का शिकार करने की जघन्य प्रथा भयंकर रूप से उनमें प्रचलित रही है। स्थलीय द्यॉकों के शरीर का रंग साँवला होता है, और समुद्री द्यॉकों का गेहुँआ। वे अपने गोरे वर्ण पर अभिमान करते हैं और उनकी स्त्रियाँ अपने ऊपर के वस्त्र केवल इसीलिए उतार फेंकती हैं जिसमें उनकी चिकनी चमकती हुई त्वचा दीखती रहे। द्यॉकों के दाढ़ी-मूँछ नहीं होती और उनकी आकृति कुछ अंशों तक स्त्रियों-जैसी कही जा सकती है। किसी-किसी के होठों पर कोमल रोमों की रेखा-सी दिखाई दे जाती है और ऐसा व्यक्ति अपने को बड़ा भाग्यवान् समझता है। दो-चार व्यक्ति घनी दाढ़ीवाले भी देखे गए हैं।

स्थलीय द्यॉकों में गोदना गोदाने का बड़ा चलन है। जो लोग कुछ सभ्य हो गए हैं, उनमें गोदने का रिवाज कम है, परन्तु अधिकांश में ये लोग गोदना गोदाना शारीरिक शृङ्गार का एक विशेष साधन मानते हैं। कुछ जातियों के मनुष्य सिर से पैर तक गोदने के निशानों से अलंकृत रहते हैं—किसी की छाती पर सितारा बना रहता है, तो किसी के हाथ-पैरों में गोदने के ही आभूषण दिखाई देते हैं। "कनोवित द्यॉक", जो "मलानऊ" जाति के हैं, छाती से घुटनों तक के हिस्से में गोदना गोदाते हैं, जिसके चिह्न दूर से मछलियों के छिल्कों की भाँति जान पड़ते हैं।

इनमें कोई-कोई होठों और ठुड्डी पर गोदने द्वारा ही मूँछों और दाढ़ियों का अभाव दूर करते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के शरीर पर गोदने के चिह्नों की प्रचुरता रहती है।

यह विशेष रूप से ध्यान रखने की बात है कि समुद्री य्यॉकों में गोदना गोदाने का रिवाज बिल्कुल नहीं पाया जाता। उनकी धारणानुसार गोदना एक प्रकार से कायरता का चिह्न है और उन्हें आश्चर्य होता है जब वे अंग्रेज़ नाविकों के शरीर पर लंगर, प्रेम-बन्धन, पालदार जहाज़, बेलबूटेदार नाम के अक्षर, तथा भाँति-भाँति के दूसरे चित्र गोदने द्वारा अंकित देखते हैं !

कान के आभूषणों का आविष्कार करने में य्यॉक लोग खूब बढ़े-चढ़े हैं। अनेक जंगली लोग अपने कानों को छेदकर कतिपय उपायों से उन छेदों को इतना बढ़ा लेते हैं कि उनमें मनुष्य का पूरा हाथ प्रवेश कर जाय ! किन्तु य्यॉक शृङ्गार के मामले में उनसे भी मानो बाज़ी मार ले गए हैं। कुछ जाति के य्याक कानों में छेद करके उनमें मोटी-मोटी डालियों के टुकड़े डाल लेते हैं और उनमें शीशे के वज़नदार टुकड़े बाँधकर लटका देते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी लौर बढ़कर कंधे तक आ जाती है ! इतना ही नहीं, वे कानों के किनारे-किनारे बहुत-से छेद करके उनमें अनेक प्रकार के आभूषण पहनते हैं। अधिकतर इन आभूषणों में पीतल की बालियाँ प्रमुख होती हैं। सबसे बड़ी बाली ऊपर, फिर उससे छोटी कुछ नीचे और इसी प्रकार सबसे छोटी बिल्कुल निचले सिरे पर धारण की जाती है। किन्तु उनकी वह सबसे छोटी बाली भी तो कम से कम हाथ में पहनने के कड़े के बराबर मोटी और वज़नदार होती है ! शृङ्गार का यह ढंग समुद्री य्यॉकों में विशेष रूप से प्रचलित है। प्रायः वे पतली ज़ंजीरों में बँधे हुए सुअर के दाँत, घड़ियाल के जबड़े, सारस की चोंच, घंटियाँ आदि वस्तुओं को अपनी बालियों में लटका लेते हैं। ये आभूषण उसी समय पहने जाते हैं जब किसी धार्मिक कृत्य या उत्सव के लिए विशेष पोशाक धारण की जाती है, अन्यथा कान के छेदों में लकड़ी के मोटे टुकड़े ही पड़े रहते हैं। पीतल पहनने से प्रायः उनके कानों में घाव भी हो जाते हैं, इसीलिए य्यॉक लोगों के कानों की बनावट बिगड़ जाती है। वे अपने दाँतों को भी असली रूप और रंग में रखना पसंद नहीं करते। साधारणतया पुरुष अपने सामने के दाँतों को रेतकर सुई-जैसा नुकीला कर लेते हैं। कुछ लोग सामने के दाँतों का ऊपरी भाग छीलकर उनमें गड्ढे कर लेते हैं। इस प्रकार दाँतों की बनावट को बलात् परिवर्तित करने के बाद उनका रंग बदलने की बारी आती है और वे सफ़ेद के बजाय काले रँग दिये जाते हैं। इन लोगों में पान खाने की आदत होने के कारण एक तो दाँत यों ही काले पड़ जाते हैं, फिर वे "मिनका" नामक एक पेड़ की लकड़ी को आग पर गरम करते हैं, जिसमें से निकला हुआ रस लोहे के स्पर्श से काला हो जाता है और उसी को दाँतों में लगाकर ये उन्हें सदा के

एक विशेष उत्सव के लिए सुसज्जित समुद्री य्यॉकों की 'आइबान' नामक एक उपजाति के युवक-युवती

लिए काले कर लेते हैं। इस प्रकार बचपन में ही दाँत काले कर देने का इनमें नियम है और वह कालापन फिर किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता। आश्चर्य तो यह है कि जिस लकड़ी के रस से यह काला रंग बनता है, वह बिल्कुल सूखी होती है और यह रंग केवल दाँतों पर ही चढ़ सकता है, हड्डी या सींग पर बिल्कुल असर नहीं करता !

डॉयकों में सैनिक या लड़ाकू लोग "सम्पीतन" या बाँस का एक खोखला चोंगा, जिसके सिरे पर बरछे का-सा नुकीला फल लगा रहता है, और मनुष्य के बालों से अलंकृत एक बड़ी-सी ढाल को मुख्य हथियार के रूप में साथ रखते हैं। साथ ही वे "पराँग-इहलाँग" नाम की एक तलवार का भी युद्ध में व्यवहार करते हैं, जिसके दस्ते में नर-केशों के गुच्छे झालर की तरह बँधे रहते हैं। इनके पैरों, टखनों और भुजाओं पर पीतल के मोटे कड़े दिखाई देते हैं और ओरेंग उटाँग नामक वनमानुसों की खाल की एक बिना बाँह की चुस्त फतुही वे पहने रहते हैं। सिर पर वे आर्गस नामक पक्षी विशेष के परों की बनी एक मुकुट-नुमा टोपी या शिरस्त्राण धारण करते हैं। बोर्नियो के उत्तरी समुद्री किनारे पर रहनेवाले "दुसुम" नामक उपजाति के डॉयक द्वीप की अन्य जातियों की अपेक्षा कम कपड़े पहनते है। वे अपनी गर्दन, कमर और नितंबों पर पीतल के कड़े और "चावत" नाम का एक ऊँचा घाँघरा मात्र धारण करते हैं। उनके केश बड़े होते हैं और सूत की डोरी से बँधे रहते हैं। बाँस के सिरे पर किसी धातु का बना हुआ पैना फल लगाकर वे बरछे बना लेते हैं। "इलिनोग्रॉन" जाति के डॉयक बहुत बड़ी-बड़ी युद्ध-नौकाएं बनाते हैं, जिन पर दीर्घाकार धनुष-बाण चढ़े रहते हैं। इन नौकाओं के ऊपर चबूतरे की तरह ऊँची जगह बनी होती है, जिस पर खड़े होकर वे युद्ध करते हैं। उसी चबूतरे के नीचे नाविक लोग सुरक्षित बैठते और नौकाओं को खेते हैं। नौका के एक कोने में मुखिया या कप्तान के लिए अलग कोठरी बनाई जाती है, जो बहुत छोटी होती है। इसके अतिरिक्त इन नौकाओं पर विश्राम करने या सोने का कोई स्थान नहीं होता। उनके डाँड़ बड़ी विचित्र बनावट के होते हैं और दूर से डंडों पर लगी हुई चपटी लकड़ी की गोल चकतियों-जैसे दिखाई देते हैं। प्रत्येक नाव में एक मस्तूल और बड़ा भारी पाल लगा रहता है जो बात-की-बात में ऊपर चढ़ाया जा सकता है। साधारणतया इलिनोग्रॉन लोग धनाढ्य होते हैं और उनके पास बन्दूकें आदि भी होती हैं, किन्तु वे उनका प्रयोग करने से डरते हैं। अधिकतर लड़ाई में वे अपने बरछे और पराँग नामक तलवार से ही लड़ते हैं।

एक अन्य जाति "सघाई" डॉयकों की है, जो दक्षिणी-पूर्वी समुद्र-तट पर निवास करती है। सघाई पुरुष बड़े भड़कीले वस्त्र पहनते हैं। प्रायः सभी डॉयकों में चावत या ऊँचा घाँघरा पहनने का चलन है। सघाई लोग चीते या तेंदुए की खाल की फतुही या ज़री के काम के सूती वस्त्र पहनते हैं। बंदरों की खाल की भड़कीली टोपियाँ, जिनमें पक्षियों के लम्बे-लम्बे पर चोटी की जगह खोंसे रहते हैं, सिर पर धारण की जाती हैं। उनकी आकृति रेते हुए नुकीले और छिले हुए दाँतों के कारण बड़ी विचित्र होती है। यद्यपि श्वेत जातियों के सामने डॉयक लोग दुबले-पतले और शरीर से छोटे दिखाई देते हैं, परन्तु उनमें बड़ा बल होता है। वे शारीरिक परिश्रम के ऐसे कठिन कार्य, जिनको श्वेत जाति के मनुष्य कर ही नहीं सकते, बड़ी सरलता से सम्पन्न कर लेते हैं। बोझा ढोने में प्रायः ऐसा भी हुआ है कि श्वेत जाति के मनुष्य चलते-चलते थक जाने के कारण गिर गए हैं, परन्तु उनके साथी डॉयकों ने उनका बोझा भी उठाकर अपने बोझे पर लाद लिया है और यात्रा पूरी की है। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रायः अशक्त श्वेतांगों को भी पीठ पर लादकर निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा दिया है !

बोर्नियो द्वीप के जंगलों में बहुतायत से बड़े-बड़े दलदल पाये जाते हैं। डॉयक लोग उनके ऊपर अजीब तरह के पुल बनाते हैं, जिनसे वे इन दलदलों को पार करते हैं। उन पुलों को "बातंग" कहा जाता है। इन दलदलों के किनारे पर दो मोटे और लम्बे बाँस गाड़े जाते हैं, जिनके ऊपर के सिरे कैंची की तरह एक दूसरे को छूते रहते हैं। जहाँ पर यह कैंची बनती है, उसी जगह वे बाँस खूब मज़बूती से कसकर बाँध दिये जाते हैं। तीस फ़ीट के फ़ासले पर वैसे ही दो बाँस और गाड़कर बाँध दिये जाते हैं। फिर एक लम्बा बाँस उनके ऊपर बीच में रखकर रस्सियों से कस दिया जाता है। बस उनका पुल तैयार हो जाता है। प्रायः ये पुल मील-दो मील तक लम्बे भी पाये जाते हैं,

जिनके बनाने में थ्रॉक लोग काफ़ी कारीगरी से काम लेते हैं। गहरे और दुर्गम दलदलों के ऊपर तो इस प्रकार के पुल अवश्य ही बनाये जाते हैं। इन पुलों पर चलना इतना कठिन होता है कि पेशेवर नट भी घबरा जाएँ, किन्तु थ्रॉक लोगों के लिए वह एक खिलवाड़-सा होता है। इतना ही नहीं, थ्रॉक अपनी पीठ पर एक आदमी को भी लाद-कर इन पुलों को पार कर लेते हैं। अगर वहाँ ज़रा भी पैर फिसल जाय तो थ्रॉक और उसका साथी सीधे दल-दल में जा गिरें और उनका पता भी न चले। परन्तु वे इतने सधे हुए पैर रखते हैं कि आज तक ऐसी दुर्घटना वहाँ सुनी ही नहीं गई। थ्रॉक लोग बड़े अभिमान से अपनी शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, और थकावट का किंचित् मात्र अनुभव न करते हुए खेल ही खेल में असा-धारण कौशल के करतब वे दिखा जाते हैं। दुर्गम जंगलों और झाड़ियों के भीतर घुसकर वे रास्ता निकाल लेते हैं और विषैले कीड़ों तथा जानवरों का उन्हें ज़रा भी भय नहीं होता। उनके देश में मच्छर, पिस्सू, ज़हरीली मक्खियाँ और भाँति-भाँति के कीड़े होते हैं। दिन के समय भयंकर गर्मी और रात में बेहद ठंढ तथा हवा में नमी का होना तो वहाँ की जल-वायु की मुख्य विशेषताएँ हैं।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, थ्रॉक लोगों में पुरुषों की पोशाक चावत नामक एक ऊँचा घाँघरा और बिना बाँहों की एक चुस्त फतुही है। कुछ लोग हमारे देश के मुसलमानों की भाँति तहमत या लुंगी भी बाँधते हैं, जिसके दोनों छोर सिले रहते हैं। इस तहमत या लुंगी के पहनने का ढंग भी यहाँ के मुसलमानों जैसा ही होता है। चावत बड़ा रंगबिरंगा और भड़कीला वस्त्र होता है। बाँहों में कलाई से कंधे तक लोग बहुत-से पीतल के कड़े पहने रहते हैं। कोहनी के ऊपर सफ़ेद शंख के बने हुए दो मोटे बाजूबन्द धारण किये जाते हैं, जो इनके पीले-भूरे शरीर पर बड़े सुन्दर मालूम होते हैं। चावत के छोर पर पोत और कौड़ियों की बनी झालर भी लगी रहती हैं, जो चलने में धीमी-धीमी आवाज़ करती है। गर्दन में बड़े-बड़े दाँतों की कंठियाँ पहनी जाती हैं। घुटनों के चारों ओर काँसे के तार को कई फेर देकर लपेट लिया जाता है। इनकी परांग या तलवार के दस्ते पर सूखी हुई खोपड़ियों के बालदार टुकड़े प्रायः बँधे रहते हैं। स्त्रियों और पुरुषों की पोशाक में विशेष अन्तर नहीं होता, किन्तु वे लुंगी के बजाय लम्बा घाँघरा पहनती हैं, जिसे "बदाँग" कहा जाता है। धूप में निकलते समय वे बिना बाँहों की एक छोटी कुर्ती पहन लेती हैं, जो सामने खुली रहती है। कुर्ती पहनने से उनके शरीर की कोमल चिकनी त्वचा छिप जाती है, अतएव वे घर के अन्दर उसको उतारकर रख देती हैं और फलतः वहाँ उनके शरीर का ऊपरी भाग बिल्कुल खुला रहता है। युवावस्था में स्त्रियों के शरीर लोचदार, दुबले और आकर्षक होते हैं, किन्तु बीस वर्ष की अवस्था होते न होते वे ढलने लगती हैं और तीस वर्ष में तो वृद्धा-जैसी दिखाई देने लगती हैं। उनकी आकृति लावण्य-मयी, कोमल और सुन्दर होती है, यद्यपि वे सौन्दर्य के अपने निराले आदर्श विशेष को सुरक्षित रखने की चेष्टा में उसे बिगाड़ लेती हैं। उनकी आँखें काली, बड़ी और चमकीली तथा बिरौनियाँ लम्बी होती हैं। नाक कुछ ऊपर उठी होती है और मुँह दाँतों के रेतने, पान खाने और काला रंगने के कारण विकृत दिखाई देता है। थ्रॉक स्त्रियों के केश बहुत लम्बे, घने, काले और चमक-दार होते हैं, और प्रायः एड़ियों तक पहुँचते हैं। वे अपने केशों पर अभिमान करती हैं।

बोर्नियो द्वीप की सबसे प्राचीन आदिम जाति के लोग, जो 'पुनाम' कहलाते हैं। ये खानाबदोश होते हैं और खेती करना नहीं जानते।

ओर एक लकड़ी का मोटा टुकड़ा लगा रहता है, जो पीछे के टुकड़ों से मज़बूती से बँधा रहता है। इसके पीछे एक सीधी लकड़ी लगाई जाती है, जिसमें हाथ डालने के लिए एक खाँचा कटा रहता है। ढाल का बाहरी भाग काला, बीच का पीलापन लिये हुए सफ़ेद और पीछे का गहरा पीला रँगा जाता है। बेंत के टुकड़े और किनारे, जो ढाल में कसे रहते हैं, पीले रँगे जाते हैं।

न्यॉक जातियों के पारस्परिक युद्धों का (जो प्रायः होते ही रहते हैं) वस्तुतः कोई विशेष कारण नहीं होता। नर-मुंडों के शिकार के प्रेमी होने के कारण ही ये लोग लड़ाइयाँ मोल लिया करते हैं और युद्ध में मारे हुए शत्रुओं के सिर काट लाना ही उनका मुख्य प्रयोजन हुआ करता है। लोगों का कहना है कि नरमुंडों के शिकार का आरम्भ न्यॉक लोगों में किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की रस्म पूरी करने के अभिप्राय से ही हुआ है। जब किसी जातीय नेता या सर्दार का कोई सम्बन्धी मर जाता है तो स्यापे के दिनों में शोक मनाने के लिए वह किसी पानी के सोते को बाँध देता है। सोते को "बाँधने" की यह क्रिया उसके दोनों किनारों पर बरछे गाड़कर और उनमें एक आड़ा बाँस बाँधकर सम्पन्न की जाती है। उसे लाँघकर कोई भी उस सोते को पार करने का साहस नहीं करता, जब तक स्यापे के दिन पूरे नहीं हो जाते। स्यापे के दिन तब तक पूरे नहीं होते जब तक न्यॉक लोगों की जातीय रस्मों के अनुसार कोई नर-मुंड घर में नहीं आ जाता। न्यॉक लोगों में "नर-मुंडों के विशेष घर" हुआ करते हैं। ये लोग शिकार के लिए निकलते हैं और अकेले-दुकेले किसी भी व्यक्ति को पाकर उसका सिर काट लाते हैं और उसे "नर-मुंडों के घर" में "तैयारी" के लिए भेज देते हैं। इसके बाद भोज की तैयारी होती है। उनका सर्दार कुछ पौधे उखाड़ लाता है, जिनका रस निकालकर वह नदी में ले जाकर छोड़ता है। उस रस के गिरते ही मछलियाँ पानी की सतह पर आ जाती हैं, जिनको काँटेदार बरछों से पकड़-पकड़कर किनारे पर फेंक दिया जाता है। ये काँटेदार बरछे बड़े हल्के बनते हैं और उनमें बाँस का फल लगा रहता है। वे पानी पर तैरते रहते हैं और शिकार के साथ-ही-साथ फेंकनेवाला उन्हें भी पानी से निकाल लेता है। इसके उपरान्त सोते को 'बाँधने' वाले बरछे भी निकाल दिए जाते हैं और तब उधर आने-जाने की रोक हट जाती है। मछलियों के शिकार के बरछे का फल काँटेदार होता है, जिसमें कई नोकें होती हैं। इस बरछे में जगह-जगह ताँत और बेंत बँधी रहती है, जिससे उसमें मज़बूती आ जाती है। न्यॉक लोगों में नर-मुंडों के इस शिकार का क्रमशः इतने भीषण रूप से प्रचार हुआ कि उनकी कई जातियाँ बड़ी खूँख्वार और भयानक बन गईं। इस जघन्य कार्य्य में संलग्न व्यक्तियों के सामने केवल एक ही लक्ष्य रहता था, और वह यह था कि ज़्यादा-से-ज़्यादा तादाद में नर-मुंड इकट्ठे किये जा सकें। वे नरमुंड किसके और कैसे हों, इस पर ध्यान नहीं दिया जाता था! नरमुंडों की खोज में पुराने ज़माने में बहुत-से समुद्री न्यॉक नावों पर सवार होकर नदियों से निकलते थे और पास के समुद्री तट पर भी छापा मारते थे।

न्यॉक लोग बड़े बहादुर सैनिक होते हैं। ये लोग बड़े सुदृढ़ क़िले बनाते हैं, जिनमें पहुँचने के रास्तों पर वे गढ़े खोद-कर बरछे गाड़ देते हैं और उन गढ़ों का मुँह पत्तियों और पतली टहनियों से ढँक देते हैं। जब कोई उधर निकलता है तो वह उस स्थान को समतल भूमि समझकर गढ़े पर पैर रख देता है। बस उसके नीचे गिरते ही बरछा शरीर में घुसकर उसका प्राणान्त कर देता है। कभी-कभी बरछों के बजाय नुकीले बाँस, जिनको "राँजो" कहते हैं, गाड़ दिये जाते हैं। कहीं धनुष पर तीर चढ़ाकर रास्ते में पत्तियों से छिपाकर रख देते हैं जिससे कि ऊपर पैर पड़ते ही तीर छूट जाता है, जो मनुष्य को घायल करके चलने में अशक्त बना देता है। प्रायः ये लोग राह में लगे हुए किसी छोटे पेड़ को रस्सों से बाँधकर एक ओर झुका देते हैं और उसके सहारे एक बरछा रख देते हैं। किसी को आते देखकर वे अपना वह रस्सा छोड़ देते हैं और पेड़ के धक्के से बरछा उछलकर यात्री के जा लगता है और वह बेचारा वहीं तड़प-तड़पकर प्राण दे देता है। जब से बन्दूकों और तोपों का चलन हुआ है तब से न्यॉक लोग अपने क़िले के चारों ओर मोटे लट्ठों की एक ज़बरदस्त चहारदीवारी भी खड़ी करने लगे हैं, जो मोटाई में दो फ़ीट से कम नहीं होती। वह चहारदीवारी तोपों की मार से ही टूट सकती है और अन्य उपाय उसके आगे व्यर्थ

होते हैं। उनके ये क़िले अधिकतर समुद्र-तट के पास बनाए जाते हैं, जहाँ बहुत-सी नावें हमेशा तैयार रखी जाती हैं, ताकि शत्रु से हारने पर ग्रॉक लोग उन नावों पर बैठकर तुरंत समुद्र की राह ले सकें। समुद्री ग्रॉक जल-युद्ध में भी कुशल होते हैं और मोरचे पर बड़े सुचारु ढंग से अपनी नावों को व्यूह के रूप में सजा लेते हैं। जब दो विपक्षी जातियों में सुलह हो जाती है तब वे एक रस्म मनाते हैं, जिसमें दोनों ओर के लोग एक दूसरे का थोड़ा-थोड़ा रक्त पान करते हैं या एक-दूसरे के रक्त में भिगोकर तम्बाकू पीते हैं। किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ मित्रता करके उसे अपनी जाति में शामिल करते समय भी ऐसी ही रस्म मनाई जाती है।

बोर्नियो द्वीप के कुछ भागों में विवाह एक अत्यन्त साधारण और ग़ैरजिम्मेदार कृत्य माना जाता है। स्त्री और पुरुष जब तक जी चाहता है साथ रहते हैं और आपस में किसी भी कारण से मनमुटाव होने पर तुरन्त अलग हो जाते हैं। प्रत्येक दशा में तलाक़ के लिए अनेक सुविधाएँ रहती हैं और फलतः विवाह-बन्धन की शिथिलता सर्वत्र दिखाई देती है। सिनाम्बू ग्रॉकों में प्रणय के आदान-प्रदान या कोर्टशिप का तरीक़ा वैसा ही है जैसा कि कुछ पाश्चात्य जातियों में कहीं-कहीं पाया जाता है, यद्यपि अब उसे लोग छोड़ते जा रहे हैं। सिनाम्बू युवक अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य से आकर्षित होकर उसकी गृहस्थी के काम में मदद करने लगता है, जंगल से उसके लिए लकड़ियाँ ढोकर लाता है और यथाशक्ति उसे उपहारों से प्रसन्न करता रहता है। कुछ दिनों तक इसी प्रकार मामला चलता रहता है। इसके बाद वह अपनी प्रेमिका की स्वीकृति प्राप्त करने के इरादे से रात को, जब उसके परिवार के सब लोग सो जाते हैं, चुपचाप द्वार खोलकर उसके घर में प्रवेश करता है और सीधे उसके सोने के स्थान पर पहुँच जाता है। मसहरी के भीतर सोती हुई प्रेमिका को धीरे से जगाकर वह उसके पास बैठ जाता है और तब दोनों मिलकर "सिरी" की पत्ती और सुपाड़ी खाते और बातचीत करते हैं। इसी प्रकार सारी रात वे बिता देते हैं। यह असंभव है कि उसी कमरे में सोते हुए लड़की के माता-पिता या अभिभावक इस प्रणय-लीला से सर्वथा अपरिचित रहते हों। किन्तु जातीय नियमानुसार वे चुपचाप पड़े रहते हैं, मानों कुछ जानते ही नहीं। यदि वे प्रेमी युवक से लड़की का सम्बन्ध पसंद करते हैं, तब तो कुछ नहीं बोलते, अन्यथा वे लड़की को मजबूर करते हैं कि वह युवक को वहाँ से बिदा कर दे। अवांछित प्रेमी को बिदा करने का यह ढंग भी उतना ही मौलिक है जितनी कि यह प्रणय-लीला। यदि लड़की अपने दुस्साहसी प्रेमी को नहीं चाहती, तो वह उसके हाथ से सुपाड़ी खाने में इन्कार कर देती है और उससे केवल आग या दीपक जलाने को कहती है, जिसका अर्थ दूसरे शब्दों में यही होता है कि प्रेमी वहाँ से तुरन्त कूच कर जाय!

विवाह के अवसर पर केवल एक भोज दिया जाता है और वर-वधू बिना किसी रस्म के विवाह-बंधन में बँध जाते हैं। बहुत कम ऐसा होता है कि विवाह के बाद दम्पति अलग जाकर रहने लगें। साधारणतया वर अपने ससुराल में ही रहता है और वधू के परिवार का व्यक्ति समझा जाता है अथवा वधू के सम्बन्धियों में शामिल होकर उनके साथ ही रहता है। वह अपने नए कुटुम्बवालों की गृहस्थी में अपनी शक्ति भर हाथ बँटाता है और जब घर का स्वामी या बड़ा-बूढ़ा मरता है तब उसे उसकी सम्पत्ति में हक़ भी दिया जाता है। परन्तु जब वधू के कुटुम्ब में बहुत से भाई और बहनें होती हैं या वर अपने मा-बाप का अकेला पुत्र ही होता है और उसी के ऊपर उनके भोजन-वस्त्र का भार रहता है तो वधू वर के घर चली जाती है और उसके ही कुटुम्ब में सम्मिलित होकर रहती है।

सिबूयॉन जाति के ग्रॉकों में विवाह के अवसर पर किसी बाहरी गाँव से लोहे के दो टुकड़े लाने का रिवाज है, जिन पर वर-वधू को बिठाकर उनका पुरोहित दोनों को एक-एक सुपाड़ी और एक-एक चुरुट देता है। इन लोहे के टुकड़ों का तात्पर्य यह समझा जाता है कि दम्पति का विवाहित जीवन लोहे की भाँति दृढ़ और निश्चल रहे। इसके बाद पुरोहित अपने हाथों में दो मुर्गे लेकर वर-वधू के सिर पर उतारता है और एक लम्बे-चौड़े भाषण द्वारा उन्हें आशीर्वाद देता है। तदनन्तर तीन बार उनके सिर एक दूसरे से लड़ाये जाते हैं। फिर वर-वधू एक दूसरे के मुँह में अपनी-अपनी सुपाड़ी रख देते हैं और चुरुट बदलकर उन्हें सुलगाते हैं। बस, विवाह-कृत्य समाप्त हो जाता है और वर-वधू पति-पत्नी बन जाते हैं! इसके बाद, दोनों मुर्गों को मारकर दो प्यालों में उनका रक्त भर लिया

जाता है और पुरोहित उस रक्त की अच्छी तरह परीक्षा करके उनका रंग देखता है। जैसा रक्त का रंग हो उसके ही अनुसार दम्पति के अच्छे-बुरे भविष्य का निर्णय होता है। श्वसुर के परिवार में सम्मिलित न होने पर भी जामाता अपने श्वसुर का पिता की अपेक्षा अधिक आदर करता है। उदाहरण के लिए श्वसुर का नाम लेना, थाली में उसके साथ भोजन करना, उसी के कटोरे में जल पीना, या उसी के आसन पर बैठना आदि जामाता के लिए वर्जित समझा जाता है।

'बलऊ' योकों में विवाह के अवसर पर वर की माता वधू के सम्बन्धियों को उपहार के रूप में घर का एक बर्त्तन देती है, जैसे थाली या कटोरा। तीन दिन बाद विवाह की सादी रस्म मनाई जाती है। वर की माता एक प्रकार के अखरोट की थोड़ी-सी गिरी लेकर उसके तीन भाग करके डलिया में रखकर उसे वधू के घर के द्वार पर बनी ऊँची वेदी पर जाकर रख देती है। तब दोनों पक्ष के लोग एकत्रित होकर उस अखरोट की गिरी को खाते हैं और आपस में वर-वधू के भावी जीवन के विषय में बातचीत करते हुए यह तय करते हैं कि विवाह के उपरान्त सन्तान होने पर या गर्भिणी होने की अवस्था में पत्नी को छोड़कर यदि पति चला जाय तो उसे दण्ड के रूप में क्या देना पड़ेगा। वास्तव में, योक लोगों ने अपने ही उद्दण्ड स्वभाव के अनुकूल विवाह-सम्बन्धी एक नियमावली बना रखी है जो उनमें प्रचलित तलाक़ की सुविधाओं को देखते हुए स्त्रियों की अधिकार-रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक प्रतीत होती है।

अन्य नाविक जातियों की भाँति समुद्री योकों को भी अपनी कुलीनता का बड़ा अभिमान होता है। यदि उनकी जाति की कोई लड़की किसी नीची जाति के युवक से प्रेम करने लगती है तो लड़की के माता-पिता ऐसे विवाह की कदापि स्वीकृति नहीं देते। एक बार जब ऐसा ही हुआ था तो प्रेमी और प्रेमिका दोनों जंगल में भाग गए थे और वहाँ किसी ज़हरीले पौधे का रस पीकर उन्होंने आत्महत्या कर ली थी! योक लोगों को अपने ऊँचे कुल का इतना अभिमान होता है कि उसमें अन्य जाति के रक्त का मिश्रण होना वे अपमान समझते हैं। यद्यपि उनका आचार-व्यवहार तथा चरित्र अच्छा नहीं होता किन्तु वे नीची जातियों से अपने यहाँ की लड़कियों का सम्पर्क किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते। 'सिबुआन' योकों का चरित्र ऊँचे आदर्श का होता है और वे अन्य जातियों की अपेक्षा शुद्ध आचरण के पाये जाते हैं। उनकी धारणा है कि दुश्चरित्र होना देवताओं की दृष्टि में घोरतम अपराध या पाप करना है। यदि उनकी कोई अविवाहिता लड़की विवाह के पहले गर्भ धारण कर लेती है तो वह निश्चय ही देवताओं के कोप का भाजन बनती है और उसके पाप का फल सारी जाति को भोगना पड़ता है। अतएव ऐसी घटना होने पर प्रेमी और प्रेमिका दोनों से दण्ड लिया जाता है और कुपित देवताओं को शान्त करने के प्रयोजन से एक सुअर का बलिदान दिया जाता है। इसके बाद भी अपराधियों को मुक्ति नहीं मिलती। दुर्भाग्यवश यदि जाति का कोई भी व्यक्ति एक मास के भीतर किसी दुर्घटना का शिकार हो जाय या बीमार पड़ जाय तो वह अपराधियों से हर्जाना वसूल कर सकता है और यदि उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके सम्बन्धी उसका हर्जाना लेने के अधिकारी समझे जाते हैं। जैसा हम लिख चुके हैं, लड़के-लड़की अपने माता-पिता के साथ रहते हैं, अतएव दण्ड का भुगतान करने की ज़िम्मेवारी उन्हीं पर आ पड़ती है। इसलिए माता-पिता और अभिभावकगण अपनी लड़कियों की काफ़ी देखभाल रखते हैं और सयाने होने पर लड़के अन्य लड़कों के साथ "नरमुंडों के घर" में रहने को बाध्य किये जाते हैं।

"बातॉगलूपर" के योक लोगों का चरित्र अच्छा नहीं होता और उनकी सयानी लड़कियाँ विवाह के पहले ही माता हो जाती हैं। ऐसा होने पर उनके प्रेमियों को मजबूर किया जाता है कि वे उनसे विवाह कर लें। प्रेमी यदि सम्बन्ध करने से इन्कार करता है और यदि लड़की उसका प्रमाण नहीं दे पाती तो उसे जाति के लोगों की भर्त्सना और लाञ्छन का लक्ष्य बनना पड़ता है, जिसके कारण वह प्रायः गाँव से भाग जाती है। ऐसी लड़कियाँ प्रायः अपने सम्बन्धियों और परिचित लोगों से अपमानित होकर आत्मघात भी कर लेती हैं। उनके पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप उनके अभिभावक सुअर को मारकर उसके रक्त से घर का द्वार धो डालते हैं, क्योंकि ऐसा करने से वे समझते

हैं कि उनके देवता शान्त हो जाते हैं और उनकी जाति को शाप नहीं देते।

विवाह के बाद साधारणतया दम्पति अच्छी तरह हिल-मिलकर रहते हैं और एक-दूसरे का विश्वास करते हैं। किन्तु उनका गृहस्थ-जीवन स्थायी भित्ति पर स्थापित नहीं होता। उनमें ज़रा-ज़रा-सी बात पर तलाक़ देने की प्रथा का प्रचार है। रात्रि के समय कोई अपशकुन हो जाय या कोई "बुरा पक्षी" बोल उठे तो पति-पत्नी दोनों डर जाते हैं और आपस में सलाह करके दूसरे ही दिन एक दूसरे को तलाक़ देकर पृथक् हो जाते हैं! पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः सात-आठ विवाह करनेके बाद दृढ़ता से विवाह-बन्धन में बँधकर कहीं रह पाते हैं। सोलह-सत्रह वर्ष की युवती के लिए तीन-चार बार विवाह करना और तलाक़ देना एक साधारण बात होती है। हाँ, सन्तान हो जाने के बाद प्रायः दम्पति एक दूसरे को नहीं छोड़ते। यदि इतने पर भी पति अपनी पत्नी को तलाक़ देना चाहता है तो उसे पत्नी के परिवारवालों को बहुत बड़ी रक़म दण्ड-स्वरूप देना पड़ती है। एक बार तलाक़ होने के बाद यदि पति-पत्नी चाहें तो पुनः विवाह कर सकते हैं और इस सम्बन्ध में उनको पूरी स्वतंत्रता रहती है। स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा भी बहुत बढ़ी-चढ़ी रहती है। पति को व्यभिचार करते देख लेने पर थॉक पत्नी को अधिकार होता है कि उसे छड़ी से खूब पीटे। यही अधिकार पति को भी पत्नी के जार के प्रति प्राप्त है। आपस में इस जातिवाले बड़ा व्यभिचार करते हैं, उनका चरित्र अच्छा नहीं होता, परन्तु बाहरी लोगों से उनको स्वाभाविक घृणा होती है।

थाकों की कुछ उपजातियों के मुखिया या सरदार के मरने पर उसकी समाधि पर इसी तरह का ताबूत जंगल में खड़ा किया जाता है।

थॉकों की दृष्टि तीक्ष्ण होती है। वे ऊँचे पेड़ों की चोटियों पर लगे हुए मधु-मक्खियों के छत्ते बड़ी सरलता से खोज लेते हैं, जो दूसरों को दिखाई भी नहीं देते। वे सौ फ़ीट तक ऊँचे सीधे पेड़ों पर बड़ी फुर्ती से चढ़ जाते हैं। पेड़ों के तनों में छेद करके वे उनमें खूँटियाँ गाड़ देते हैं, ताकि ऊपर चढ़ने-उतरने में आसानी रहे। पेड़ के बराबर वे एक ऊँचा बाँस गाड़कर खूँटियों के सिरे उसमें बाँध देते हैं और इस भाँति एक सीढ़ी-जैसी बन् जाती है। उसी सीढ़ी के सहारे चढ़कर वे मधुमक्खियों के छत्ते तोड़कर मधु निकाल लाते हैं। यह काम रात के

समय किया जाता है और प्रायः हाथ में जलती हुई मशाल लेकर वे पेड़ों पर चढ़ते हैं। कुछ लोग पहले पेड़ के नीचे आग भी जला लेते हैं, जिसके धुएँ से मधुमक्खियाँ भाग जाती हैं। पेड़ों में मोटे रस्से डालकर झूला झूलने का भी उनमें चलन है। एक झूले में कई व्यक्ति साथ-साथ झूलते हैं।

ग्रॉकों में किसी भी धार्मिक या सामाजिक रस्म मनाने के अवसर पर लोग अपने अस्त्र-शस्त्रों के करतब भी दिखलाते हैं। पैंतरे बदलकर, कावा काटकर, वे भाँति-भाँति के दाँव दिखलाते हुए खूब उछलते-कूदते हैं। तलवार और ढाल लेकर युद्ध करने की सारी क्रियाएँ भी प्रदर्शित की जाती हैं। ढोल और नक्कारे बजते रहते हैं और गाँव के लोग तमाशा देखने के लिए आसपास जमा रहते हैं। युद्ध के समय अथवा किसी खतरे की सूचना देने के लिए ढोल, घंटे और नक्कारे बजाये जाते हैं। रण-कौशल के कार्य दिखलाने के अतिरिक्त उनमें हमारे देश के नटों की तरह कलाबाज़ी दिखलाने का भी रिवाज है और इसमें वे विशेषतया पारंगत होते हैं। वे इन अवसरों पर खूब मद्य-पान करते हैं।

दावतों के अवसर पर घर के सामने के बरामदे को चारों ओर बाँस बाँधकर एक मण्डप का रूप दे दिया जाता है, जहाँ सब मेहमान और मेज़बान एकत्रित होते हैं। बरामदे की छत पर कपड़े तान दिये जाते हैं, जिसमें धूप न आ सके। लोग महीनों पहले से दावत के लिए प्रबन्ध करते हैं और भाँति भाँति के खाद्य-पदार्थ जुटा रखते हैं। एक प्रकार की मदिरा, जिसे "तुआक" कहा जाता है, ये लोग बहुत पीते हैं। प्रत्येक भोज या दावत के अवसर पर मेहमानों को तुआक पिलाना आवश्यक होता है। तुआक देखने में ताड़ी जैसी होती है, परन्तु उसकी दुर्गन्धि बड़ी तीव्र और कटु होती है, जिससे जी मिचलाने लगता है। दावतों में 'तुऑक' से भरे हुए कई घड़े रखे रहते हैं और भाँति-भाँति के प्यालों और कटोरियों में वह मेहमानों को पिलाई जाती है। उसका दौर बराबर चलता रहता है और वह छोटी-सी मधुशाला सारे दिन और सारी रात कोलाहलपूर्ण रहती है। जो लोग गंभीर रहते और शराब नहीं पीते, उन्हें युवतियाँ और स्त्रियाँ ज़बरदस्ती पिलाती हैं।

ग्रॉक लोगों के धर्म का रूप समझना एक टेढ़ी खीर है, क्योंकि वे लोग स्वयं उस विषय में कुछ भी नहीं कह सकते। जो कुछ वे समझते हैं, उसे वे दूसरों को बतलाते नहीं। यह सच है कि वे एक सर्वशक्तिमान देवता का अस्तित्व मानते हैं, जिसे उनकी प्रत्येक जाति में भिन्न नाम से स्मरण किया जाता है। समुद्री ग्रॉक उसे "बतॉरा" और स्थलीय ग्रॉक 'तापा' कहते हैं। उस सर्वशक्तिमान् देवता के बाद, जिसे वे मनुष्य जाति का आदि पुरुष कहते हैं, कुछ अन्य बली देवता भी माने जाते हैं, उदाहरणतः "तेनॉबो", जिसने पृथ्वी तथा छोटे पशुओं की रचना की, "इयाँग" जिसने उनका धर्म निर्धारित किया, और "जिरॉंग", जो जीवन और मृत्यु का स्वामी समझा जाता है। इन मुख्य देवताओं के अतिरिक्त बहुत-से छोटे देवता भी पूजे जाते हैं, जिनको 'अन्तू' कहा जाता है। प्रत्येक जंगल में किसी न किसी अन्तू का अस्तित्व माना जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने अन्तुओं को आँखों से देखा है। उस प्रकार के देवताओं के सिर नहीं होता और गर्दन कोणाकार होती है। वे इच्छानुसार मनुष्यों और पशुओं का रूप धारण कर लेते हैं।

ग्रॉक लोगों का विश्वास है कि युद्ध में मारे गए व्यक्ति भूत हो जाते हैं। उन भूतों को ये लोग "बुआयम" कहते हैं। वे भूत प्रायः लोगों को—विशेषकर स्त्रियों को—पकड़ लेते हैं और उनसे छुटकारा पाना बड़ा कठिन होता है। उन भूतों से बचने के लिए ये लोग उन्हें विविध खाद्य पदार्थ, मदिरा, और फूल चढ़ाते हैं, जो जंगल में किसी पेड़ के नीचे रख दिये जाते हैं।

ग्रॉक लोगों के मृतक-संस्कार के तरीके दूसरी जंगली जातियों जैसे ही हैं। किसी सर्दार के मरने पर लाश को अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाकर आभूषणों से सजाया जाता है और उसे ऊँचे चबूतरे पर रखकर खाना, पानी, तम्बाकू, सुपाड़ी आदि दी जाती है। कुछ दिनों बाद जब लाश सड़ने लगती है तब किसी पेड़ के खोखले तने का ताबूत बनाकर उसमें लाश को रखकर ज़मीन में दफ़ना देते हैं। लाश के साथ उसके व्यवहार की वस्तुएँ भी रख दी जाती हैं। पहले एक रस्म यह भी थी कि सर्दार के मरने पर उसका सारा सामान और एक दासी हाथ पैर-बाँधकर नाव में रखकर बहा देते थे, किन्तु अब ऐसा नहीं होता।

फ़ारमोसा-वासी

नरमुण्डों की शिकारी एक जंगली जाति

सोलहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों की बात है। कुछ पोर्चुगीज़ नाविकों ने, जो साहस करके चीन-सागर में भ्रमण कर रहे थे, चीन के मुख्य भूभाग से लगभग सौ मील की दूरी पर एक बड़ा सुन्दर टापू देखा। उस टापू के घने जंगलों, और एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई तुषाराच्छादित पर्वतमालाओं का अद्वितीय प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर उन लोगों ने उसे 'इल्हा फ़ारमोसा' या 'सुन्दर द्वीप' का नाम दे दिया। फ़ारमोसा सचमुच प्राकृतिक सौन्दर्य में अपना सानी नहीं रखता। उसके हरे-भरे सुहावने जंगलों, दूध जैसे सफ़ेद पहाड़ी झरनों और मनोरम घाटियों को धूप में चमकते देखकर दर्शक अपने को भूल जाता है। उन्हीं घाटियों में कहीं-कहीं छोटे-छोटे मैदानों के बीच में मनुष्यों की भी कुछ बस्तियाँ दिखाई दे जाती हैं। इस २५० मील लम्बे और ८० मील चौड़े द्वीप पर पोर्चुगीज़ लोगों के बाद तीन राष्ट्र हुकूमत कर चुके हैं। सन् १६२३ ई० में डच लोगों ने वहाँ अपना उपनिवेश बनाकर एक दुर्ग स्थापित किया, किन्तु कॉक्सिङ्गा नामी एक चीनी समुद्री डाकू ने सन् १६६२ में उनको निकाल भगाया। तब से फ़ारमोसा द्वीप चीनी लोगों के अधिकार में रहा। तदनन्तर सन् १८९४-९५ के चीन-जापान-युद्ध में यह द्वीप जापानियों के हाथों में चला गया और तब से वहाँ उन्हीं का राज्य है। फ़ारमोसा में जापानियों और फ़ारमोसावासियों की आबादी है, जिनमें वहाँ के कुछ आदिम निवासी जंगली लोग भी हैं, जिनकी संख्या लगभग एक लाख तीस हज़ार है। फ़ारमोसा की इन्हीं जंगली जातियों में नरघातकों की भी एक उपजाति है, जिसकी सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार ही नरमुण्डों का आखेट है—इसी को वे अपने मनोविनोद का एकमात्र साधन मानते हैं। द्वीप के कुछ अज्ञात और अपरिचित स्थानों में ऐसी नरघातक जातियों की अनेक बस्तियाँ हैं। उनमें राष्ट्रीयता अथवा समाज-संगठन के विचारों का सर्वथा अभाव है और वे हमेशा एक-दूसरे से युद्ध करती रहती हैं। ये लोग बाँसों से झोपड़े बनाते हैं, जिनकी छतें घास-फूस से ढकी रहती हैं। उन झोपड़ों में एक नीचा द्वार और एक छोटी-सी खिड़की रहती है। बिना झुके उस द्वार के रास्ते झोपड़े में प्रवेश करना असंभव होता है। इनमें जो सरदार या प्रधान माने जाते हैं, उनके झोपड़ों में तीन खिड़कियाँ होती हैं। कुछ लोग धरती के नीचे भी घर बनाकर रहते हैं और पास की पहाड़ियों में अधिकता से मिलनेवाली स्लेट की पतली तख्तियाँ लाकर

फ़ारमोसा की आदिम जंगली जाति का एक सदस्य

ये लोग उनसे अपने घरों की फ़र्श को अक्सर पाट लेते हैं।

नरमुण्डों के आखेट के अलावा इन जंगलियों का मुख्य पेशा कपड़े बुनना है और इस विषय में उनकी स्त्रियाँ परस्पर काफ़ी प्रतिद्वन्द्विता करती हैं। फ़ारमोसा के बुने हुए कपड़ों के नमूने सचमुच बड़े सुन्दर होते हैं। इन लोगों की खाद्य-सामग्री चावल और बाजरा है। इनके अतिरिक्त वे शिकार में मारे हुए या पकड़े हुए जंगली जानवरों का मांस भी बड़ी रुचि से खाते हैं। वे बाजरे की खेती भी करते हैं और उनके अन्न के भांडार का प्रबन्ध उनकी स्त्रियों के हाथ में रहता है, जो नियमानुसार प्रत्येक को आवश्यकता के अनुकूल अनाज बाँटा करती हैं।

पारस्परिक व्यवहार में ये लोग बड़े ईमानदार और अतिथि-सत्कार में प्रवीण होते हैं। कोई भी अतिथि उनके घर में जब तक रहता है वे उससे बड़ी सभ्यता से पेश आते हैं और उसके जानमाल की हर प्रकार से रक्षा करते हैं। अपने वचन का पालन करना वे एक धार्मिक नियम समझते हैं, और उनमें विरला ही कोई हो जो अपना दिया हुआ वचन तोड़ता हो।

फ़ारमोसा के ये जंगली बाशिन्दे बौद्धिक दृष्टि से निम्न स्तर के ही प्राणी हैं। इन लोगों का गिनती करने का ढंग बड़ा मौलिक और सीधा-सादा होता है। हाथों और पैरों की उँगलियों से वे गिनती कर लेते हैं और बीस की गिनती का रूप उनकी समझ में एक आदमी होता है, क्योंकि आदमी के कुल मिलाकर बीस उँगलियाँ होती हैं! सौ की गिनती वे पाँच आदमी के संकेत से कर लेते हैं।

इन लोगों का मुख्य धर्म अपने पितरों की पूजा है और 'वर्षा के देवता' की भी वे उपासना करते हैं। उनका विश्वास है कि मरने के बाद जीव को एक बहुत गहरे खड्ड के ऊपर दूर तक बँधे हुए एक पतले पुल को पार करना पड़ता है और जो व्यक्ति युद्ध में विजयी हुआ हो, अथवा जो अपनी जाति के लिए किसी प्रकार लाभदायक सिद्ध हो चुका हो, उसी का जीव उस पुल को पार करके स्वर्ग को जा सकता है। दूसरों के लिए उस पुल से फिसलकर गहरे खड्ड में गिरना अवश्यम्भावी जैसा है, और यही इन लोगों के मत में नरक का मार्ग है।

दुर्दिन, महामारी या अकाल आदि का प्रकोप होने पर इन लोगों के यहाँ एक रिवाज प्रचलित है, जिसके अनुसार कुछ चुने हुए व्यक्ति पहाड़ों की गुफाओं में जाकर गाते-बजाते तथा अभिचारी नृत्य करते हैं। उस गाने-बजाने की प्रतिध्वनि को वे अपने देवताओं का आदेश समझकर उसी के अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं।

इन नरमुण्ड के शिकारियों में काटकर लाया गया मनुष्य का सिर सबसे मूल्यवान् उपहार समझा जाता है। कोई भी पुरुष तब तक विवाह नहीं कर सकता जब तक वह अपनी पत्नी को उपहार में ऐसी बहुत-सी मनुष्य की खोपड़ियाँ, जो यत्न से संचित की गई हों, न दे सके। इसके अतिरिक्त किसी भी नए घर को ये लोग रहने योग्य नहीं समझते, यदि उसकी नींव में ऐसे नरमुण्ड

फ़ारमोसा-वासियों का एक प्रकार का झोपड़ा, जिसमें नवदम्पति रहते हैं

काफ़ी संख्या में न दफ़नाए गए हों। अपने घरों की दीवारों को भी चित्रों के बजाय ये लोग मारे हुए शत्रुओं की खोपड़ियों से सजाना ही अच्छा समझते हैं।

इन लोगों में नरमुण्ड के शिकार-सम्बन्धी कुछ विचित्र नियम प्रचलित हैं। शिकार पर जाने के पहले शिकारी लोग शकुन-अपशकुन संबंधी-विचार भी करते हैं। वे एक जंगली पक्षी विशेष की गति-विधि का अनुसरण करते हैं, जिसके द्वारा वे समझते हैं कि उन्हें अपनी सफलता या असफलता का पूर्व आभास मिलता रहता है। जिस घड़ी से शिकारी लोग गाँव से बाहर जाते हैं, तब से लगाकर उनकी वापसी तक गाँव में बराबर पवित्र अग्नि जलती हुई रखी जाती है। उस आग का बुझना दुर्घटना का सूचक समझा जाता है। शिकारियों के प्रवास की दशा में गाँव में कपड़ों की बुनाई का काम बन्द रखा जाता है और उन दिनों सन या सूत भी तैयार नहीं किया जाता। यदि शिकारियों की यात्रा सफल होती है तो गाँव में बड़ा आनन्द मनाया जाता है। एक गोल घेरे के बीच में शिकार में मारकर लाये हुए नरमुण्ड सजाकर रखे जाते हैं। उनके मुँह में भोजन का ग्रास रखा जाता है और सारी रात सब लोग घूम-घूमकर उनके चारों ओर कोलाहल मचाकर नाचते हैं। विजयी शिकारियों के मुँह पर एक विशेष प्रकार के गोदने के चिह्न रहते हैं। जिस लड़के का पिता विजयी शिकारी रहा हो उसे भी ऐसे गोदने के चिह्न धारण करने का अधिकार रहता है और उसे अपनी उस पैतृक ख्याति को अक्षुण्ण रखने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इन लोगों में सयाने लड़कों और नवयुवकों का जीवन कठिन शासन में बीतता है। वे गाँव से दूर एक अलग झोपड़े में रखे जाते हैं और सामाजिक सम्पर्क में तब तक नहीं लाये जाते जब तक अपनी वीरता का प्रमाण देकर वे विवाह न कर लें।

इन लोगों की विवाह-सम्बन्धी रस्में भी बड़ी अजीब होती हैं। जब इनमें कोई युवक विवाह करना चाहता है तो वह लकड़ी का एक बोझ लेकर अपनी प्रेयसी के घर के द्वार पर छोड़ आता है। ऐसा वह नित्य करता रहता है, जब तक कि ऐसे बीस बोझ इकट्ठा नहीं हो जाते। आख़िरी दिन सबेरे जाकर वह उन बोझों को देखता है। यदि लकड़ी स्वीकार कर ली गई तो उसे विश्वास होता है कि उसकी सगाई पक्की हो गई और इसके बाद विवाह की तैय्यारियाँ होने लगती हैं। विवाह के समय वर और वधू ज़मीन पर झोपड़े की दीवाल से सटकर बैठते हैं। इसके बाद नृत्य होता है तथा और भी बहुत-सी रस्में अदा की जाती हैं। फिर वर और वधू की टाँगों में छुरे से हलके घाव करके उनका रक्त एक में मिला दिया जाता है। इसके बाद उनको पति-पत्नी के रूप में एकत्र की मर्यादा का अधिकार मिलता है। विवाह-कार्य की समाप्ति पर पुनः नृत्य होता है और भोज दिया जाता है, जिसमें दोनों पक्ष के लोग सम्मिलित होते हैं।

मलय, सेमांग और सकाई

मलय प्रायद्वीप के अर्द्धसभ्य और असभ्य बाशिन्दे

हमारे भारतवर्ष के पूर्व में बर्मा से दक्षिण की ओर पसरा हुआ हल के आकार का एक विचित्र प्रायद्वीप दिखाई देता है, जो अपनी अनेक विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है। उत्तर में थाईलैंड (जिसे श्याम देश कहते हैं), दक्षिण में सुमात्रा, पूर्व में चीन सागर और पश्चिम में मलाका स्ट्रेट्स से घिरा यह प्रायद्वीप मलाया कहलाता है। मलाया के निवासियों की आदि जन्मभूमि सुमात्रा कही जा सकती है, जहाँ बारहवीं शताब्दी में उनके पूर्वजों के रहने का पता मिलता है। वे लोग साधारणतया नाटे क़द के मनुष्य होते थे। गोल सिर, चौड़ा चेहरा, छोटी नाक, फैले हुए नथुने, उठा हुआ जबड़ा, तिरछी आँखें, यही उनकी आकृति थी, जो दक्षिणी मंगोल लोगों से मिलती-जुलती थी। लोगों का अनुमान है कि मलाया प्रायद्वीप में आने से पूर्व वे काफ़ी सभ्य हो चुके थे, किन्तु समय की गति ने उनको उन्नति करने का अवसर न देकर अवनति की ओर ही ढकेला। उनकी अर्धसभ्य सन्तान, जो समुद्र-तट

के आस-पास के प्रदेश में अब भी पाई जाती है, मलाया की सेमांग और सकाई नामक जंगली जातियों से सर्वथा भिन्न है और 'मलय' कहलाता है। मलय जातिवाले अवश्य ही समुद्री मार्ग से मलाया प्रायद्वीप में आए होंगे। इसी बात से उनकी अपेक्षाकृत प्रगतिशीलता का प्रमाण मिलता है। सुमात्रा द्वीप से अनेकों बार मलय जातिवालों की सामूहिक बाढ़ मलाया प्रायद्वीप में आई और प्रत्येक बार नए आनेवालों ने पुराने निवासियों को समुद्री तटों से खदेड़ भगाया, जिसके फलस्वरूप वे लोग भीतरी भागों में जा बसे और वहाँ की दूसरी जातियों से हिल-मिल गए। मलय जातिवालों का सामाजिक संगठन परिष्कृत रूप को पहुँचा हुआ है। उसमें वर्ग-योजना या दलबन्दी का स्थान है ही नहीं। उत्तराधिकार और पैतृक अधिकार सम्बन्धी जो उनके प्राचीन नियम सुमात्रा द्वीप में प्रचलित थे, वे ही मलाया में भी जहाँ-तहाँ माने जाते हैं। मलय जाति के अधिकांश व्यक्ति आज दिन सुन्नी मुसलमान हैं। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच में उन लोगों ने मूर्त्ति-पूजा छोड़कर इस्लाम की दीक्षा ली, किन्तु उनका धर्म-परिवर्त्तन बहुत धीरे-धीरे और अधूरा ही हो पाया। अधिकतर मलय जातिवाले धर्म के विशेष पाबन्द नहीं होते और न उनमें धार्मिक विश्वास की कट्टरता ही पाई जाती है। समुद्री तटों पर रहनेवाले मलय लोग बड़े कुशल नाविक होते हैं और पुराने ज़माने में वे समुद्री डाकुओं के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु अब वे बड़े शान्तिप्रिय और उद्यमशील बन गए हैं। मछलियाँ पकड़ना ही उनका मुख्य पेशा है। भीतरी प्रदेश में रहनेवाले लोग नदियों के किनारे रहना अधिक पसन्द करते हैं। वे ज़मीन से कई फ़ीट ऊँचे लट्ठों के मचानों पर घर बनाकर रहते हैं और घर के चारों ओर नारियल, सुपाड़ी, खजूर और अन्य फलों के वृक्ष लगाते हैं। चावल ही उनका मुख्य भोजन है और इसी की वे खेती करते हैं। वे जंगली पैदावार भी इकट्ठा करते हैं, जिनमें रबड़, कपूर तथा तरह-तरह की लकड़ियाँ भी सम्मिलित हैं। ये सूती और रेशमी कपड़े बुनते हैं, मिट्टी और चाँदी के बर्त्तन बनाते हैं तथा चटाइयाँ और हथियार तैयार करते हैं। इनके चाँदी के बर्तनों पर बहुत उम्दा नक़्क़ाशी की जाती है। हाँ, उनका मिट्टी का सामान वैसा अच्छा और सुन्दर नहीं होता। मलाया में योरपियन जातियों के आने से पहले से ही बारूद बनती थी और तोपें भी ढाली जाती थीं। मलय लोगों की लिपि पिछले सौ वर्षों से अरबी जैसी है। इसके पहले वे लोग देवनागरी से मिलती-जुलती लिपि लिखा करते थे। ये लोग बड़ी सुन्दर नावें बनाते हैं, जिन पर बड़ी कलापूर्ण कारीगरी की होती है।

मलय जाति के पुरुष

मलय जातिवाले बेईमान या दग़ाबाज़ नहीं होते। अपने मित्रों के लिए अनेकों बार उन्होंने आपत्तिकाल में अपने प्राण तक न्योछावर कर दिये हैं। वे लोग सुसंस्कृत और आत्माभिमानी होते हैं। भड़कीले वस्त्र पहनने का उन्हें बेहद शौक़ होता है और अधिकतर वे आराम-पसन्द होते हैं। वे मेहनत से जी चुराते हैं और पास में पैसा होने पर कामकाज करने में उनको आलस्य आता है। उनमें सच्चरित्रता नहीं है, परन्तु इस पर भी मलाया में वेश्याओं का नामोनिशान नहीं पाया जाता। बहुविवाह केवल रईसों और सम्पन्न व्यक्तियों में ही प्रचलित है। वे अपने

सरदारों और राजाओं के प्रति स्वामिभक्ति रखते हैं। इन लोगों में पागलपन की बीमारी प्रायः पाई जाती है। जब-तब कोई-न-कोई पागल होता ही रहता है और उस दशा में या तो आत्महत्या करके वह मर जाता है या दो-चार व्यक्तियों का ख़ून कर डालता है। ऐसी दशा में ये लोग बड़े ख़ूँख़ार और हत्यारे बन जाते हैं।

इन लोगों में ढीला कोट और पायजामा पहनने का चलन है, परन्तु अधिकांश मलय 'सारंग' पहनते हैं। सारंग प्रायः दो गज़ लम्बा और सवा गज़ चौड़ा एक सूती या रेशमी वस्त्र होता है, जो दोनों छोरों पर सिला रहता है। हमारे यहाँ मुसलमान लोग जिस प्रकार तहमत या लुंगी बाँधते हैं, लगभग उसी तरह सारंग भी पहना जाता है। इसे ये लोग कमर में पहनकर सामने एक गाँठ लगा लेते हैं। स्त्रियाँ इस वस्त्र को ज़रा नीचा पहनती हैं, जिससे वह उनके पैरों तक आता है। पुरुष उसे घुटनों तक ऊँचा पहनते हैं। इनका कोट सामने की ओर खुला रहता है, जिससे सीना साफ़ दिखलाई देता है। इनके पायजामे ऊँचे होते हैं और अजीब तरीक़े से सिए जाते हैं। सारंग अधिकतर सूती ही काम में लाया जाता है और उसके कपड़े पर बहुत बढ़िया चमक की हुई रहती है, जो एक तरह की पालिश द्वारा की जाती है। यह पालिश कपड़े पर सीप को घिसकर की जाती है। मलय लोगों की युद्ध की पोशाक भी बड़ी विचित्र होती है। ये लोग लड़ाई पर जाते समय बिना बाँह की एक कुर्ती पहनते हैं, जिस पर क़ुरान की आयतें लिखी रहती हैं। उसके नीचे वे जाँघों तक का एक लँगोट या जाँघिया पहनते हैं, जिसके ऊपर वे अपना सारंग या तहमत बाँधते हैं। उस सारंग की गाँठ के नीचे वे अपनी कटार खोंसते हैं, जिसकी मूठ बाहर निकली रहती है।

सकाई जाति के लोग

इन लोगों का मुख्य शस्त्र क्रिस है, जो एक छोटा ख़ंजर या कटार जैसा होता है। उसमें लकड़ी या हाथीदाँत की सुन्दर मूठ लगी रहती है और उसका फल सीधा या ख़मदार होता है। इनकी तलवारें बड़ी चौड़ी किन्तु छोटी होती हैं। इनका सबसे अधिक काम का औज़ार पारँग या गोलक नामक एक भारी छुरी होती है, जो जंगलों में जाते समय साथ रखी जाती है। झाड़ियाँ काटने, रास्ता साफ़ करने और हिंसक जन्तुओं से आत्मरक्षा करने में वह ख़ूब काम आती है। मलाया का कोई भी किसान बाहर जाते वक़्त उस छुरी को साथ रखने से नहीं चूकता।

मलय जातिवाले अब मलाया प्रायद्वीप की अन्य दूसरी पड़ोसी जातियों से बहुत कुछ हिलमिल गए हैं, जिससे शुद्ध मलय कम ही मिलते हैं। कल-कारख़ाने खुल जाने से उनकी जीवनधारा अब नई गति से बहने लगी है और वे सभ्य बनते जा रहे हैं। साथ ही उनमें जुआ खेलने और शराब पीने का व्यसन भी बढ़ता जा रहा है।

मलय लोगों के अलावा इस प्रदेश की अन्य एक जाति के लोग 'सेमांग' कहलाते हैं। ये मलाया के सबसे प्राचीन निवासी हैं और उत्तरी पेराक, केदा, केलनतॉन, त्रेगानू और पेहॉंग के उत्तरी इलाक़ों में रहते हैं। ये नीग्रो जाति की एक शाखा की सन्तान हैं; जो अंडमान-निवासियों, फ़िलिपाइन के बाशिन्दों और मध्य अफ़्रीका की बौनी जातियों से बहुत मिलती-जुलती है। इनमें पुरुषों के क़द का औसत ४ फ़ीट ६ इंच और स्त्रियों का ४ फ़ीट ५ इंच के लगभग होता है। सेमांग जातिवालों के पूर्वज सम्भवतः दक्षिणी एशिया से आए थे। यहाँ आकर उनकी सभ्यता का विकास बिल्कुल न हो सका और वे लगातार बर्बर ही रहे।

सेमांग लोगों का रंग काला या गहरा भूरा होता है, उनका सिर लम्बाई लिये हुए गोल, माथा छोटा और नाक के ऊपर उभरा हुआ, नाक छोटी, दबी हुई और सिरे पर नुकीली-सी, आँखें बड़ी, होंठ साधारणतया भरे हुए, मुँह चौड़ा, ठुड्डी छोटी और जबड़ा विस्तृत होता है। इनके केश काले या गहरे भूरे होते हैं। सिर पर केशों के घने घुमावदार गुच्छे ऊपर की ओर उठे रहते हैं। इनकी भुजाएँ लम्बी और पैर छोटे होते हैं। ये खेती-बारी नहीं करते और न दस्तकारी ही जानते हैं। केवल बाँस या पौधों के रेशों से टोकरियाँ वग़ैरह बनाना ये जानते हैं। सेमांग लोग मछली मारते और बड़ी सफ़ाई से जंगली जानवरों का शिकार कर लेते हैं। धनुष-बाण तथा फूंकनेवाले बाँस के चोंगे और बर्छों से वे शिकार करते हैं। उनका आहार जंगली कन्द-मूल, मछलियाँ तथा पशु-पक्षियों का मांस ही होता है। अधिकतर वे गुफ़ाओं में रहते हैं या पेड़ों की डालों के बीच में पत्तियों तथा फ़ूस के झोंपड़े बनाकर उन्हीं में बसते हैं।

सेमांग पुरुष पेड़ों की छाल का बना हुआ एक कपड़ा कमर में लपेटे रहते हैं, जो छाल को लकड़ी के हथौड़े से कूटकर बनाया जाता है। स्त्रियाँ उसी छाल का बना हुआ एक ऊँचा घाँघरा पहनती हैं। बहुतेरे स्त्री-पुरुष बिल्कुल नंगे भी रहते हैं। गोदना गोदाना या शरीर पर घाव करके नक़्क़ाशी करना उनमें बहुत प्रचलित है। इसके लिए गन्ने की पत्ती और कोयले का चूर्ण काम में लाया जाता है। ये लोग बाँस के बाजे बनाते हैं, जिनमें एक प्रकार का तम्बूरा, नाक से बजनेवाली बाँसुरी और बंशी प्रमुख हैं। त्यौहारों के अवसर पर वे ख़ूब नाचते-गाते हैं और सभी स्त्री-पुरुष पत्तियों से शृंगार करके उस समारोह में सम्मिलित होते हैं। वे अपने मुर्दे क़ब्रों में गाड़ते हैं और उन्हीं में उनके लिए खाना-पानी भी रख देते हैं।

सेमांग जाति के कुछ-कुछ सभ्य लोग ऊपरी पेरॉक के इलाक़े में पाये जाते हैं और उनको खेती-बारी तथा पेड़-पौधे लगाने का कुछ ज्ञान है। पिछले वर्षों में अनेकों बार पड़ोसी जातियों ने उन पर आक्रमण किए हैं—विशेषकर सकाई जाति ने उनको बहुत सताया है। मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी भाग में बहुतेरे सेमांग स्त्री-पुरुष क़ैदियों की दशा में दिखाई देते हैं।

दूसरी एक प्राचीन जाति, जो मलाया प्रायद्वीप में पेरॉक के दक्षिणी भाग, सेलांगोर और पेहॉंग में पाई जाती है, 'सकाई' के नाम से प्रसिद्ध है। मलाया के गाँवों में सकाई लोग चारों ओर फैले हुए पाए जाते हैं, किन्तु मलय लोगों से वे इतना अधिक मिल गए हैं कि उनकी मौलिकता सर्वथा नष्ट हो चुकी है। सकाई प्रायः नाटे क़द के होते हैं और उनमें बिरला ही कोई साढ़े चार फ़ीट से अधिक लम्बा दिखाई देता है। उनके शरीर का रंग गहरा भूरा होता है, किन्तु उसमें एक अद्भुत लालिमा दिखाई देती है। प्लूस, किन्ता और नैनगिरि के ज़िलों में रहनेवाले सका-ईयों का रंग अधिक साफ़ पाया जाता है। सकाई लोगों की आकृति बुरी नहीं होती। उनका सिर बड़ा, बाल काले या भूरे और घुँघराले, ठुड्डी नुकीली और सुडौल, माथा चौड़ा, भौंहें पतली, नाक छोटी और सिरे पर गोल, भुजाएँ लम्बी तथा शरीर की बनावट आकर्षक होती है। मलय जातिवालों से विशेष सम्पर्क रखने के कारण सकाई लोगों के रीति-रिवाज और रहन-सहन में काफ़ी परिवर्त्तन आ गया है। उनका आहार कई तरह का होता है। जंगलों में रहनेवाले सकाई जंगली कन्दमूल, तथा बाँस के चोंगे से शिकार मारकर खाते हैं। जो सकाई गाँवों में रहते हैं, वे आलू, चावल, ज्वार, गन्ना, आदि की खेती करते हैं और यही वस्तुएँ उनका मुख्य भोजन हैं। जंगली सकाई लोगों का बाँस का चोंगा एक विचित्र शस्त्र होता है। एक ख़ास तरह का बाँस, जो ६ से ८ फ़ीट तक लम्बा होता है और जिसमें एक भी गाँठ नहीं होती, एक दूसरे मोटे बाँस के भीतर रख दिया जाता है, जिसमें वह मज़बूत बना रहे। उस पतले बाँस में एक छोर से दूसरे छोर तक

पतला छेद किया जाता है। तब एक प्रकार के ताड़ की पत्तियों को चीरकर उनकी रगें निकाली जाती हैं, जिनको सुखाकर तीर बनाए जाते हैं, जो मोटी सिलाई करने की सुई से अधिक बड़े नहीं होते। उन तीरों के सिरों को ज़हर में बुझाया जाता है, जो एक प्रकार के पेड से निकलता है। ये तीर नरकुल या सेंठे के टुकड़ों में रखे जाते हैं और उन टुकड़ों को समेटकर एक तरकस में रखा जाता है, जो कमर से बँधा रहता है। एक तरकस में ३० से ५० तक ऐसे टुकड़े आते हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक-एक तीर होता है। जब शिकार करना होता है तब शिकारी किसी पशु या पक्षी की ओर निशाना ताककर उस बाँस के अन्दर तीर रखकर पूरे ज़ोर से उसे मुँह से फूँकते हैं। बस, तीर उड़कर ठीक निशाने पर जा लगता है। सुना जाता है कि तीस क़दम की दूरी तक इस चोंगे से निशाना मारा जा सकता है।

सभी सकाई अधिकतर ख़ानाबदोश होते हैं और पेड़ों के नीचे घास-फूस तथा पत्तियों के झोंपड़े बनाकर रहते हैं। वे छाल के बने हुए कपड़े के वस्त्र पहनते और सेमांग लोगों की भाँति अपने चेहरे पर गोदने द्वारा चित्र बनवाते हैं। वे बड़ी सुन्दर चटाइयाँ बुनते और टोकरियाँ बनाते हैं, मगर कपड़ा बुनना या मिट्टी के बर्त्तन बनाना उनको नहीं आता। सेमांग जाति की तरह उनमें भी शादी-ब्याह की विचित्र रस्में प्रचलित हैं।

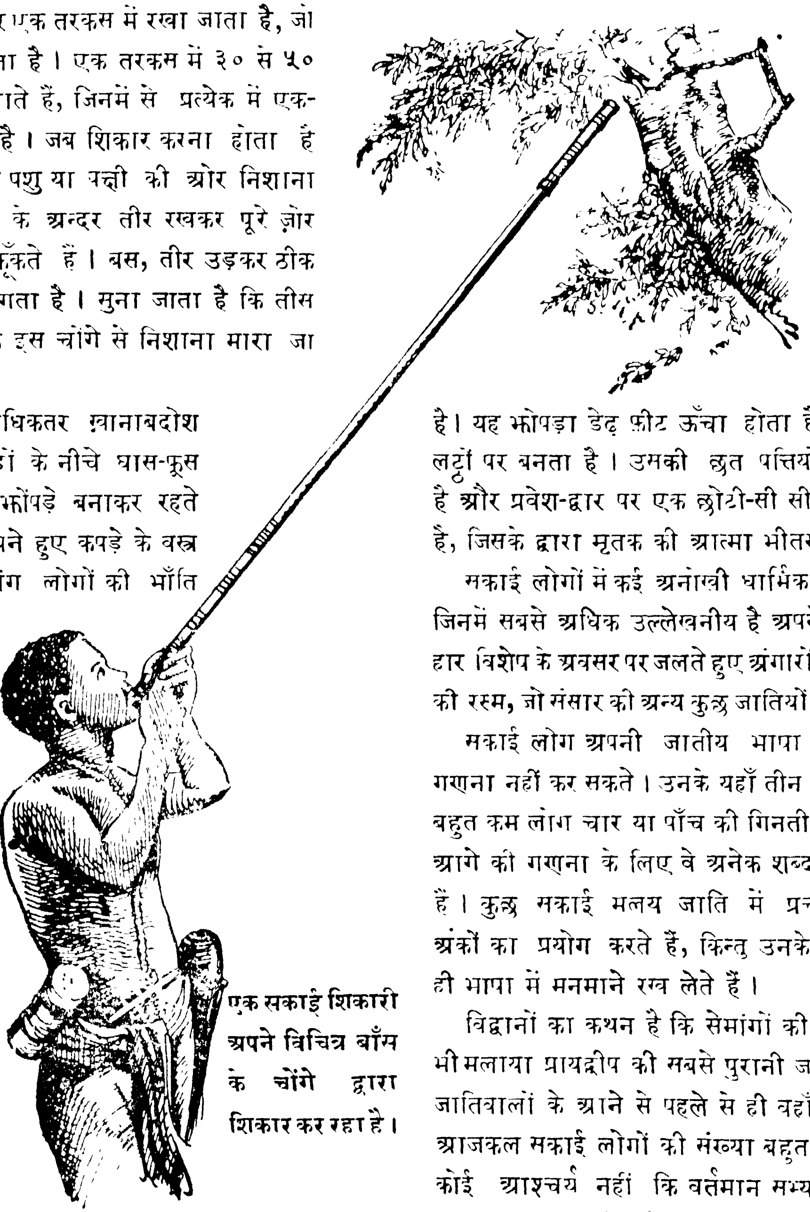

एक सकाई शिकारी अपने विचित्र बाँस के चोंगे द्वारा शिकार कर रहा है।

जब कोई मर जाता है तो उसे एक बाँस पर लटकाकर दूर जंगल में ले जाते हैं। वहाँ उसे छाल के बने हुए नए वस्त्र पहनाए जाते हैं और तब क़ब्र खोदकर उसे गाड़ देते हैं। उसके सब पुराने कपड़े वहीं आग में जला दिए जाते हैं। क़ब्र को मिट्टी से तोपकर उस पर चावल बो दिए जाते हैं और उसे पानी से सींच देते हैं। उसके चारों ओर केले के पेड़ भी लगा देते हैं, जिसमें स्वर्गीय आत्मा भूख लगने पर उनको खा सके! तदनंतर वहीं पर एक तिकोना झोपड़ा मृतक के रहने के लिए बना दिया जाता है। यह झोपड़ा डेढ़ फ़ीट ऊँचा होता है और लकड़ी के लट्ठों पर बनता है। उसकी छत पत्तियों से ढकी होती है और प्रवेश-द्वार पर एक छोटी-सी सीढ़ी लगा दी जाती है, जिसके द्वारा मृतक की आत्मा भीतर जा सके!

सकाई लोगों में कई अनोखी धार्मिक रस्में प्रचलित हैं, जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है अपने किसी एक त्यौहार विशेष के अवसर पर जलते हुए अंगारों पर नंगे पैर चलने की रस्म, जो संसार की अन्य कुछ जातियों में भी प्रचलित है।

सकाई लोग अपनी जातीय भाषा में तीन से आगे गणना नहीं कर सकते। उनके यहाँ तीन तक के ही अंक हैं। बहुत कम लोग चार या पाँच की गिनती जानते हैं। इससे आगे की गणना के लिए वे अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ सकाई मलय जाति में प्रचलित दस तक के अंकों का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनके नाम वे अपनी ही भाषा में मनमाने रख लेते हैं।

विद्वानों का कथन है कि सेमांगों की तरह सकाई जाति भी मलाया प्रायद्वीप की सबसे पुरानी जाति है और मलय जातिवालों के आने से पहले से ही वहाँ रहती आई है। आजकल सकाई लोगों की संख्या बहुत घट गई है और कोई आश्चर्य नहीं कि वर्तमान सभ्यता के प्रवाह में उनका शीघ्र ही लोप हो जाय।

वेद्दा

पाषाण-युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले लंका के आदिम निवासी

आज दिन यदि कोई आपसे कहे कि दियासलाई की सहायता के बिना आग सुलगाइए तो आप आश्चर्य से उसका मुँह ताकने लगेंगे। आपकी समझ में सर्वसाधारण के लिए आग जलाने का कोई दूसरा साधन है ही नहीं। परन्तु बात वास्तव में वैसी नहीं है। आइए, हम आपको लंका या सीलोन कहे जानेवाले उस दक्षिणी द्वीप के भीतरी प्रदेशों में ले चलें, जहाँ घने जंगलों के बीच में एक पेड़ के नीचे बैठे हुए दो नंग-धड़ंग जैसे मनुष्य पत्थर के टुकड़ों और लकड़ी के एक छोटे डंडे की सहायता से आग जला रहे हैं। वे उन पत्थरों को लकड़ी के साथ इस प्रकार रगड़ते हैं कि उनसे चिनगारी निकल पड़ती है जिससे लकड़ी सुलग जाती है। पास जाकर देखिए, वे भी आप ही जैसे मनुष्य हैं, यद्यपि उनके बदन पर एक मामूली लँगोट के सिवा और कुछ भी नहीं है। यही लंका के प्राचीन निवासी माने जाते है और 'वेद्दा' के नाम से पुकारे जाते हैं। नए युग की सभ्यता से कोसों दूर रहकर ये सदियों से इसी प्रकार अपने जंगली जीवन में सुखी हैं। उनको दूसरे किसी जीवन की चाह नहीं। शिकार करना और उसके द्वारा अपना भरण-पोषण करना यही उनकी दिन-चर्य्या है।

संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में लंका में राक्षसों का होना बतलाया गया है। ये वेद्दा जातिवाले उन्हीं आदिम राक्षसों की सन्तान तो नहीं हैं? कोई नहीं जानता। बस उनके विषय में इतना ही पता चलता है कि लंका द्वीप के वे सबसे प्राचीन निवासी हैं। सन् १६४४-१७९६ के बीच जब लंका द्वीप पर डच लोगों का आधिपत्य था, उस समय द्वीप के धुर उत्तर तक वेद्दा लोगों की बस्तियाँ थीं, परन्तु आजकल ये लोग उत्तर-पूर्व के प्रदेशों और जंगली इलाक़ों में ही पाए जाते हैं। बत्तिकलोआ के निकट समुद्री किनारे तक वे लोग बिखरे हुए हैं।

वेद्दा जाति उन द्रविड़ जातियों की एक उपजाति है, जो आर्यों के आने से पहले दक्षिण भारत में निवास करती थीं। इतिहास-युग से सैकड़ों वर्ष पूर्व, दक्षिण भारत की अनेक जातियाँ नए उपनिवेशों की खोज में सामूहिक रूप से चल पड़ी थीं, जिनमें से कुछ तो लंका द्वीप में बस गईं और कुछ ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा उसके पार्श्ववर्त्ती भूभागों में जाकर रहने लगीं। लंका में बस जानेवाली उन्हीं प्राचीन जातियों के लोग वेद्दा जाति के पूर्वज माने जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व जब राजा विजय ने अपनी सेना की सहायता से लंका द्वीप को जीत लिया, तब वहाँ के आदि निवासी भागकर जंगलों और पहाड़ों में जा छिपे। उन्हीं की सन्तान वेद्दा हैं।

जिस भूभाग में वेद्दा लोग रहते हैं, वह ९० मील लम्बा और लगभग ४५ मील चौड़ा है। वर्त्तमान वेद्दा जाति-वाले दो वर्गों में विभाजित हैं—एक काले

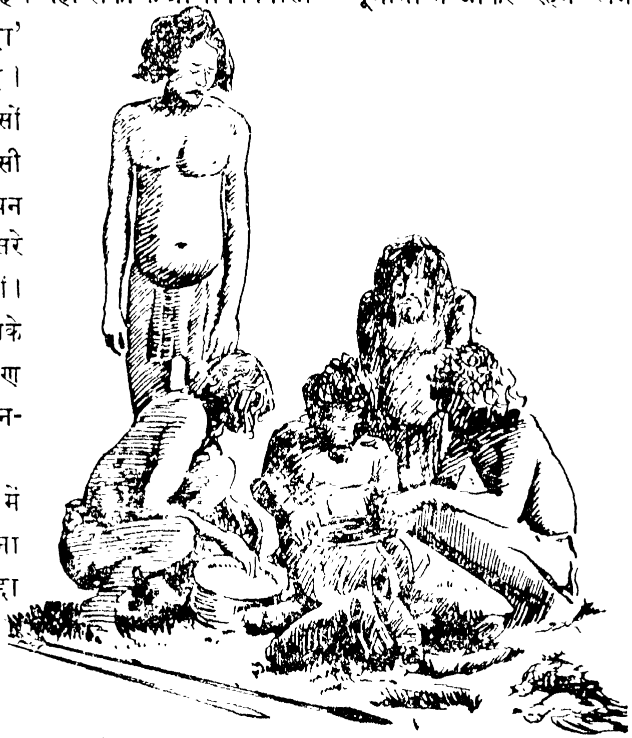

पत्थरों को रगड़कर आग सुलगाकर खाना पकाते हुए वेद्दा लोग

या जंगली वेद्दा और दूसरे गण या अर्ध-सभ्य देहाती वेद्दा। इन वेद्दा जातिवालों का जीवन और रहन-सहन का ढंग बिल्कुल असभ्य जातियों-जैसा है, और उनकी बोली सबसे निराली है। वह प्राक्आर्यकालीन जान पड़ती है। वह सिंहली भाषा से कुछ मिलती है, किन्तु उसमें संस्कृत या पाली का किंचित् भी अंश नहीं पाया जाता। उनकी भाषा का शब्दकोष बहुत सीमित है, जिसके कारण बातचीत में वे संकेतों और चिह्नों का अधिक आश्रय लेते हैं। उनकी भाषा में केवल प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं तथा प्रकृति के सर्वोत्कृष्ट चमत्कारों के नाम ही होते हैं, जिनका वे बड़ी ख़ूबी से बखान किया करते हैं। उनकी बोल-चाल को अन्य जातिवाले बिल्कुल नहीं समझ पाते, किंतु वे सिंहलियों पर अपना आशय प्रकट कर लेते हैं।

जंगलों में रहनेवाले वेद्दा लोगों का रंग काला होता है। उनकी नाक चिपटी, सिर छोटा और बाल कमर तक लम्बे तथा उलझे हुए होते हैं। उनकी मूछें और दाढ़ियाँ लम्बी, घनी और फैली हुई होती हैं, जिनको वे कभी नहीं छाँटते। देखने में वे बड़े बदसूरत और भोंडे होते हैं। क़द में बिरला ही कोई उनमें पाँच फ़ीट से ज़्यादा होगा। उनका बदन इकहरा किन्तु गठा हुआ होता है। वेद्दा औरतें भी वैसी ही कुरूप होती हैं और प्रायः नंगी रहती हैं। इन लोगों में शादी-ब्याह के कोई नियम नहीं माने जाते और इनके बच्चे बड़े दुबले-पतले और कमज़ोर होते हैं। वेद्दा पुरुषों का पहनावा केवल कपड़े का एक छोटा टुकड़ा मात्र होता है, जिसका एक छोर सामने लटकता है तथा दूसरा कमर में बँधी हुई मूँज की एक मेखला में पीछे की तरफ़ लिपटा रहता है। वेद्दा लोग पहाड़ों की गुफाओं, पेड़ों के खोखले तनों या छाल के बने झोपड़ों में रहते हैं। उनके झोपड़ों को सिंहली भाषा में 'रूकुला' कहते हैं।

वेद्दा शिकारी—इनके मुख्य शस्त्र धनुष-बाण होते हैं।

वेद्दा जातिवालों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे दूसरी जातियों के सम्पर्क में आना पसंद नहीं करते। देहातों के अर्धसभ्य वेद्दा भी अन्य लोगों से केवल उतना ही मेल-जोल रखते हैं जितना कि उनको आवश्यक प्रतीत होता है। अपनी जाति के अतिरिक्त वे किसी दूसरी जाति में विवाह-संबंध कभी नहीं करते। इतना ही नहीं वरन् देहात के और जंगल के वेद्दा लोग भी एक दूसरे में बड़ा भेद मानते हैं और आपस में कभी शादी-ब्याह नहीं करते। वेद्दा लोग स्वभाव से सरल, शर्मीले और सादी रहन-सहन पसंद करनेवाले होते हैं। उनके मुख्य अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण और लाठी हैं। शिकार से ही वे जीवन-निर्वाह करते हैं, इसलिए साधारणतया वे जंगलों में एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं। उनके धनुष लचीली लकड़ी के

बनते हैं, जिन पर मूँज या सन की डोरी चढ़ाई जाती है। लकड़ी के पतले बाण, जिनके सिरे पर लोहे के नुकीले फल लगे होते हैं, वे अपने आप बना लेते हैं। उनकी लाठी के सिरे पर भी लोहा या पत्थर लगा रहता है। वे प्रायः हाथों और पैरों की सहायता से धनुप चलाते हैं और बड़ा अच्छा निशाना लगानेवाले होते हैं। पशु-पक्षियों का शिकार करने के अलावा वे पोखरों तथा तालाबों के जल में ज़हर मिलाकर मछलियाँ भी पकड़ते हैं। जंगली मधुमक्खियों के छत्तों से वे बड़ी आसानी से शहद निकाल लेते हैं और उसे बड़े चाव से खाते हैं। कंद-मूल, जंगली फल, जड़, अनाज, पक्षी, चमगादड़, कौए, उल्लू, चील्ह, आदि सब कुछ वे खा जाते हैं। केवल रीछ, हाथी और भैंसे का मांस वे नहीं खाते।

वेद्दा जातिवाले मांस को बहुत दिनों तक ताज़ा रखने की विधि भी जानते हैं। किसी पेड़ के तने को भीतर से खोखला करके उसके भीतर वे हिरन या दूसरे जानवरों का मांस रखकर उसे शहद से ऊपर तक भर देते हैं। फिर ऊपर से चिकनी मिट्टी की तह लगाकर उस तने का मुँह वे बिल्कुल बन्द कर देते हैं। इस प्रकार से रखा हुआ मांस बहुत दिनों तक ख़राब नहीं होता और कभी भी ज़रूरत के समय वे उसे निकालकर काम में ले सकते हैं। ये लोग मांस को आग में भूनकर खाते हैं। गिलहरी, गिरगिट, और बंदर का भुना हुआ मांस उनको बहुत प्रिय होता है। गरमी के दिनों में जब पानी सूखने लगता है, तब किसी छिछले पोखर या ताल के किनारे वे छिपे बैठे रहते हैं। ज्योंही कोई हिरन या जंगली जानवर वहाँ पानी पीने आता है, त्योंही धनुप-बाण से वे उसे मार गिराते हैं। शिकार ही उनका मुख्य उद्यम है। वे शिकारी कुत्ते भी पालते और उनसे काम लेते हैं। जंगली वेद्दा बहुत ही कुशल शिकारी होते हैं। वे सघन जंगलों में घूमते हुए हाथियों को बड़ी सफ़ाई से पकड़ लेते हैं और उन्हें पालतू बना लेते हैं। ये लोग अपने पितरों, भूतप्रेतों, नक्षत्रों और अनेक विचित्र देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। इनका धर्म एक प्रकार की मूर्त्ति-पूजा ही है। पूजा के अवसर पर ये लोग इकट्ठा होकर नाचते और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से बुरी आत्माएँ भाग जाती हैं और दिवंगत पितरों को त्रास नहीं देतीं। ये मृतक को न जलाते हैं और न धरती में ही गाड़ते हैं। इनके यहाँ का नियम यह है कि मृतक का शव जंगल के बीचोबीच पत्तियों से ढककर रख दिया जाता है, जिसे बाद में जंगली पशु-पक्षी खा जाते हैं।

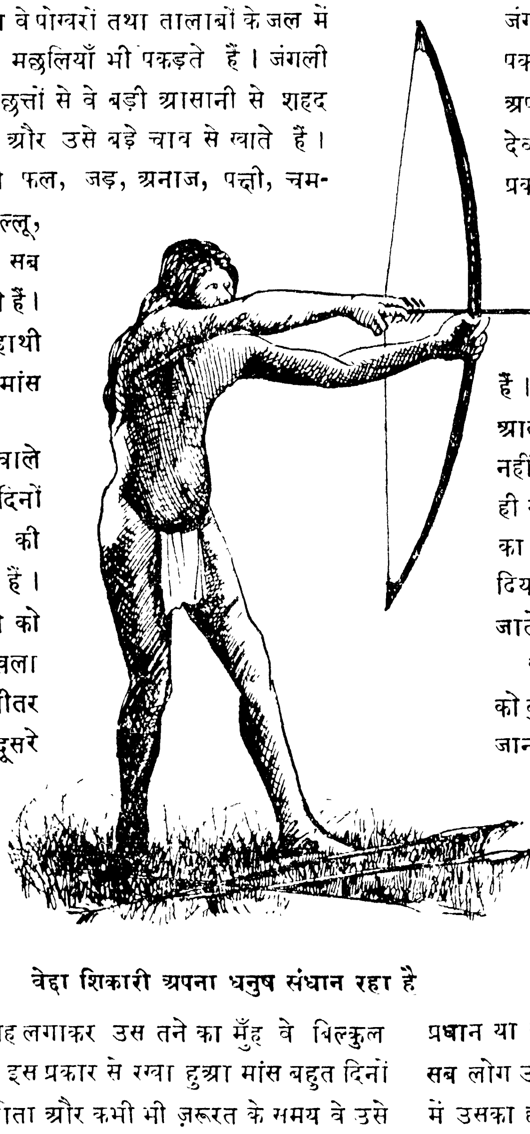

वेद्दा शिकारी अपना धनुष संधान रहा है

ईश्वर है अथवा नहीं, इस संबंध में वेद्दा जातिवालों को कुछ नहीं मालूम। ईश्वर क्या है, यह भी वे नहीं जानते और न जानने की इच्छा करते हैं। भविष्य की बात भी वे नहीं जानना चाहते। उनके यहाँ मंदिर, वेदी, प्रार्थनागृह, मंत्र-जंत्र, तावीज़ आदि कुछ भी नहीं होता। केवल उनके कुछ रिवाज ऐसे हैं जिनके अवसर पर वे इकट्ठा होकर नाचते-गाते हैं।

वेद्दा लोगों की प्रत्येक उपजाति का एक प्रधान या सरदार होता है, जो बहुमत से चुना जाता है। सब लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, लड़ाई-झगड़ों में उसका ही फ़ैसला मानते हैं और उसका आदर करते हैं। प्रत्येक बस्ती में पेड़ों के ऊपर एक बहुत ऊँचा मचान-जैसा बँधा रहता है, जिस पर बैठकर लोग पहरा देते हैं, क्योंकि हाथियों तथा दूसरे जंगली जानवरों का वहाँ बड़ा

ख़तरा रहता है। वेद्दा लोग रीछ से बहुत डरते हैं और उससे विशेष सतर्क रहते हैं, क्योंकि वह प्रायः उनके इकट्ठा किये हुए शहद को खा जाया करता है।

यदि कोई आपसे पूछे कि रुपया-पैसा किसे प्रिय नहीं होता तो आप तुरन्त वेद्दा लोगों का उदाहरण दे सकते हैं। वास्तव में वेद्दा जातिवाले रुपये-पैसे की सूरत देखकर दूर भागते हैं! उनमें से किसी व्यक्ति को पैसा दीजिए तो वह फेंक देगा। हाँ, छुरी, चाक़ू, कुल्हाड़ी, गहरे रंग का भड़कीला वस्त्र या पीतल का बर्त्तन दीजिए तो वह सहर्ष ले लेगा और आपको धन्यवाद देगा। उन लोगों में रुपये-पैसे का चलन है ही नहीं, अक्सर व्यापारियों से वे लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीदकर बदले में मधु-मक्खियों का मोम, हिरन की खाल और सींग दे देते हैं।

गाँवों में रहनेवाले ग्राम-वेद्दा अर्ध-सभ्य होते हैं और छोटे-छोटे घर बनाकर उनमें रहते हैं। वे लोग खेती करते हैं और बाहरी दुनिया से व्यावसायिक सम्पर्क भी रखते हैं। वे सब जाति और वर्ण के मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं, मगर अपने कार्य के अतिरिक्त वे भी प्रायः अन्य जातिवालों से अलग ही रहना पसंद करते हैं। उनका एकाकी सामाजिक जीवन वास्तव में विचित्र है।

गोंड

भारतवर्ष की सबसे प्राचीन जंगली जाति

द्रविड़ जातियों के सबसे प्राचीन वंशज, जो आज दिन भी भारतवर्ष में पाए जाते हैं, वनवासी गोंड के नाम से प्रसिद्ध हैं। आबादी की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक महत्व में, गोंडों से पुरानी जाति भारतवर्ष में दूसरी नहीं है। सन् १९११ में उनकी संख्या तीस लाख थी जो अब तक बहुत बढ़ गई होगी। अकेले मध्य प्रान्त में ही उनकी संख्या तेईस लाख है। मध्यभारत, बिहार और उड़ीसा में उनकी आबादी दो लाख पैंतीस हज़ार के लगभग पाई जाती है। इसके अतिरिक्त आसाम, मद्रास और हैदराबाद के इलाक़ों में भी अल्पसंख्यक जातियों में उनकी गणना की जाती है। लगभग पचास हज़ार प्रवासी गोंड आसाम के चाय के बग़ीचों में मज़दूरी करते हैं। मध्यप्रान्त के दो मुख्य भूभागों में गोंडों की बस्तियाँ अधिक हैं। इस प्रान्त के ठीक बीचोंबीच में सतपुड़ा का पठार, जिसमें छिन्दवाड़ा, बेतूल, सिवनी और मंडला के ज़िले तथा आसपास के प्रदेश सम्मिलित हैं, गोंडों की प्रथम आवास-भूमि कहा जा सकता है, जहाँ विशृंखलित पर्वतश्रेणियों और जंगलों में वे अधिकता से पाये जाते हैं। दूसरा भूभाग अधिक विस्तृत और दुर्गम पहाड़ियों से घिरा हुआ है और छत्तीसगढ़ के मैदानों से दक्षिण-पश्चिम की ओर गोदावरी की तलहटी तक फैला हुआ है। उसमें छत्तीसगढ़ के तीनों ज़िले, बस्तर और काँकड़ रियासतें तथा चाँदा का अधिक भाग मिला हुआ है। यहाँ गोंडों की संख्या अधिक है। मध्य प्रान्त का यह बहुत बड़ा इलाक़ा पुराने समय में 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध था और यहाँ एक जमाने में गोंड लोगों की अनेक सम्पन्न रियासतें थीं।

गोंड नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी पता नहीं चलता। अनुमानतः यह नाम सम्भवतः हिन्दुओं और मुसलमानों का रखा हुआ है, क्योंकि गोंड लोग अपने को "कोईतूर" या "कोई" कहते हैं। विद्वानों के कथनानुसार, प्राचीन काल में गोंड और खोंध, दक्षिण भारत की एक ही जाति थी, किन्तु उत्तर की ओर जो लोग बढ़ आए वे गोंड कहलाने लगे और दक्षिण के लोग खोंध के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोंड लोगों की प्राचीन आख्यायिकाएँ भी इसी वक्तव्य का समर्थन करती हैं। आरम्भ में, मध्यप्रान्त राजपूतों के शासन में था और छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक उनकी कई पीढ़ियाँ वहाँ राज्य करती रहीं। इसके उपरान्त, चौदहवीं शताब्दी तक उन शासकों का कुछ भी पता नहीं चलता है। सम्भवतः उसी समय गोंडों के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई होगी। बेतूल में खेरला, छिन्दवाड़ा में देवगढ़, और गढ़ामण्डला में (जिसमें जबलपुर और चाँदा सम्मिलित थे) गोंडों की कई स्व-

तंत्र रियासतें एक ज़माने में प्रस्थापित थीं। जब उत्तर भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब हिन्दुओं की शक्ति का ह्रास होने पर मध्यप्रान्त के हिन्दू राजाओं को जीत कर सम्भवतः गोंडों ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये थे। इस प्रकार दो-तीन शताब्दियों तक मध्यप्रान्त में गोंड राजाओं की तूती बोलती रही। उन्होंने अपने राज्यों को अनेक छोटे-छोटे भागों में बाँटकर उन हिस्सों को बहुत-से सर्दारों को सौंप दिया था, जो उनके अधीन तो रहते थे परन्तु उन्हें कर नहीं देते थे। केवल आवश्यकता के अवसर पर वे अपनी सेना के साथ-साथ राजा की आज्ञानुसार एकत्र हो जाया करते थे और उसकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। वे किसी पहाड़ या नदी के आस-पास बड़े सुदृढ़ कोट बनाकर रहते थे, जिन पर तालाब या कुएँ अवश्य बनाये जाते थे। उनकी शासन-प्रणाली समयानुकूल तथा सुव्यवस्थित थी। मुसलमानों तथा मराठों से अनवरत युद्ध करते-करते गोंडों की शक्ति क्षीण होने लगी और धीरे-धीरे उनके राज्यों का अन्त हो गया। कालान्तर में विजातियों से सताई गई यह वीर जाति बड़ी खूँखार और भयानक बन गई। वह हरे-भरे मैदानों से निकलकर पुनः जंगलों और पहाड़ों में सुरक्षित रहने लगी तथा राहचलते यात्रियों को लूटना-मारना और नए शासकों को चैन से न बैठने देना ही उसका मूलमंत्र बन गया। प्रतिहिंसा से पागल होकर उसने बर्बरता का जामा पहन लिया और जंगलियों की भाँति जीवन-यापन करने लगी। ब्रिटिश शासन की स्थापना होने पर भी उसका यह क्रम जारी रहा और बहुत मुश्किल से पुनः वह शान्तिप्रिय प्रजा की भाँति रहने को विवश की गई।

गोंडों की उत्पत्ति के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा प्रचलित है, जिस पर कुछ-कुछ हिन्दू अनुश्रुति की भी छाप है। उनके कथनानुसार "सृष्टि के आदि में चारों ओर केवल जल-ही-जल दिखाई देता था। तब कमल के पत्ते पर भगवान् ने जन्म लिया और वह अकेले ही रहने लगे। एक दिन अपनी भुजा के मैल से उन्होंने एक कौआ उत्पन्न किया, जो उड़कर उनके कन्धे पर जा बैठा, और एक केंकड़ा भी बनाया, जो तैरता हुआ पानी में चला गया। भगवान् ने कौए को आज्ञा दी कि उड़कर जाओ और थोड़ी-सी मिट्टी ले आओ। कौआ बड़ी देर तक इधर-उधर उड़ता रहा, परन्तु उसे मिट्टी कहीं न दिखाई दी। इतने में उसने केंकड़े को देखा, जिसकी एक टाँग समुद्र की तह तक पहुँची हुई थी और उसी के सहारे वह पानी पर खड़ा हुआ था। कौआ बहुत थक गया था, अतएव वह केंकड़े की पीठ पर जा बैठा। केंकड़े की पीठ बड़ी कोमल थी और उस पर कौए के पंजों के निशान पड़ गए, जो आज भी दिखाई देते हैं। कौए ने केंकड़े से पूछा कि मिट्टी कहाँ मिलेगी। केंकड़े ने जवाब दिया कि भगवान् से कहो कि मेरी देह को सुदृढ़ बना दें तो मैं मिट्टी ले आऊँ। कौए ने जाकर केंकड़े का संदेशा भगवान् को सुनाया। भगवान् ने केंकड़े की पीठ मज़बूत बना दी, जैसी कि वह आज तक बनी हुई है। केंकड़ा समुद्र में डुबकी मारकर एक केंचुए को पकड़ लाया। केंचुए की गर्दन पर केंकड़े के नाखूनों के चिह्न बन गए जो आज तक मौजूद हैं। केंचुए ने अपने मुँह से मिट्टी उगल दी, जिसे लेकर केंकड़ा भगवान् के पास गया। भगवान् ने उस मिट्टी को पानी के ऊपर इधर-उधर बखेर दिया, जिससे धरती के टुकड़े इधर-उधर निकल आए। तब भगवान् धरती पर गए और उनके हाथ पर एक फफोला पड़ गया। उस फफोले को फोड़कर महादेव-पार्वती निकले। महादेव ने मूत्र-त्याग किया, जिससे भाँति-भाँति के शाक उत्पन्न हो गए। पार्वती ने वे शाक खाए और उनके गर्भ रह गया। उस गर्भ से ब्राह्मणों के अट्ठारह और गोंडों के बारह कुल उत्पन्न हुए। गोंड लोग जंगलों में घूमने लगे। उनका व्यवहार हिन्दुओं-जैसा नहीं था और वे सर्वथा जंगली और सर्व-भक्षी थे। वे गन्दे रहते थे और पूजा-पाठ, उपासना आदि कुछ भी नहीं जानते थे। उनके शरीर की दुर्गन्धि से जंगल भी सड़ने लगे। उनकी यह दशा देखकर महादेव को क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने कहा कि गोंडों की जाति बड़ी भ्रष्ट है, मैं इन्हें जीवित नहीं रखना चाहता, ये मेरे धवलगिरि पर्वत को नष्ट कर देंगे। उनसे छुटकारा पाने को महादेव ने एक युक्ति सोची। उन्होंने सब गोंडों को एकत्र किया और अपने शरीर के मैल से एक गिलहरी बनाकर उनके सामने छोड़ दी। उसे देखते ही गोंडों की लार टपकने लगी और वे उसे अच्छा आहार समझकर उसके पीछे दौड़े। वे पेड़ों की डालें और पत्थर लेकर उसे मारने लगे। गिलहरी, जैसा महादेव ने सिखा रखा

था, भागकर एक पहाड़ की गुफा में घुस गई। सब गोंड भी उसके पीछे-पीछे गुफा में घुस गए। महादेव ने उस गुफा का द्वार एक भारी पत्थर की शिला से बन्द कर दिया। केवल चार गोंड बाहर रह गए थे, जो कछीकोपा लोहगढ़ की ओर भाग गए और वहीं रहने लगे। पार्वती को गोंडों की बास बड़ी प्रिय थी और जब धवलगिरि पर उस बास का अभाव होने लगा तो उन्होंने तपस्या करना आरम्भ कर दी। छः महीने तक पार्वती ने घोर तपस्या की और व्रत रखा। भगवान् का सिंहासन डोलने लगा। उन्होंने सूर्य को भेजा कि देखो कौन तपस्या कर रहा है। सूर्य ने पार्वती से आकर पूछा कि उनकी क्या इच्छा है। पार्वती ने कहा कि मेरे गोंड वापस ला दीजिए। सूर्य ने भगवान को जाकर सूचना दी। भगवान ने वचन दिया कि वे गोंड वापस आ जायँगे। उन दिनों धवलगिरि पर्वत पर पहिन्दी वृक्ष के पीले-पीले फूल खिल रहे थे। भगवान् ने आँधी, पानी और बिजली भेजी और फूलों में से एक कली पराग बखेरने लगी। सबेरे सूर्य निकलते ही कली चटख गई और उसमें से "लिंगो" का जन्म हुआ। लिंगो बड़ा ही सुन्दर बालक था। उसकी ठुड्डी पर एक हीरा जड़ा हुआ था और माथे पर तिलक शोभायमान था। कली से निकलकर वह पराग के ढेर पर जा गिरा। धीरे-धीरे वह बड़ा हुआ और लोहगढ़ के चारों गोंडों से जा मिला। उनके साथ रहते हुए उसने उनको आग बनाना तथा शिकार करना सिखलाया। फिर एक बड़े दैत्य से मित्रता करके उसकी सात लड़कियों को लिंगो अपने साथ लाया। तीन गोंडों से उसने दो-दो लड़कियों का विवाह करा दिया और सबसे छोटे को एक ही पत्नी दी। वह गोंडों को भाई कहता था और उन लड़कियों को भावज। गोंडों की अनुपस्थिति में भावजें लिंगो से हँसी-ठट्ठा करती थीं और उससे अनुचित सम्बन्ध स्थापित करना चाहती थीं। लिंगो को उनका यह व्यवहार सहन नहीं हुआ और इस पाप-चेष्टा के लिए उसने भावजों को बहुत बुरा-भला कहा। भावजों ने इस पर अपने-अपने पतियों से लिंगो की शिकायत की और उस पर पापाचार का झूठा अपवाद लगाया। तब चारों भाई लिंगो को बहकाकर जंगल में ले गए और उन्होंने उसे तीरों से छेदकर मार डाला तथा उसकी आँखें निकाल लीं। भगवान् ने देखा कि सदा की भाँति लिंगो उनकी प्रार्थना नहीं करता, इसका क्या कारण है। उन्होंने कौए अर्थात् कागदेवता को लिंगो का पता लगाने भेजा। कौए ने लिंगो की मृत्यु का समाचार सुनाया तब भगवान् ने उसे अमृत देकर भेजा कि लिंगो की मृत देह पर छिड़क दो। लिंगो जी उठा। उसे अपने चारों भाई गोंडों से घृणा हो गई थी। उसने सोचा कि जो गोंड गुफा में बन्द हैं, अब उनको छुड़ाना चाहिए। वह चल दिया और मार्ग की विघ्न-बाधाएँ झेलता हुआ पशु-पक्षियों, नदी-नालों, पर्वतों और सूर्य-चन्द्र आदि से उन बन्दी गोंडों का पता पूछते हुए भटकता रहा। बाद में एक साधु ने लिंगो को गोंडों के बन्दी होने की पूरी कथा कह सुनाई। लिंगो को बड़ा दुःख हुआ। वह तुरन्त ही महादेव की उपासना में लग गया और अपने शरीर की चिन्ता न करते हुए अनवरत तप करने लगा। महादेव का आसन डोल

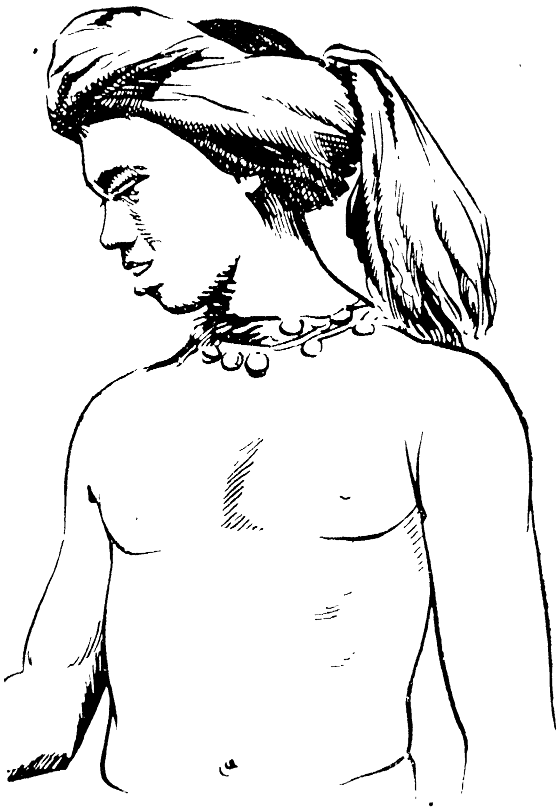

एक माड़िया गोंड युवक

उठा। उन्होंने लिंगो की परीक्षा लेने के लिए बहुत-से दुस्तर कार्य उसे सौंपे, जिनको उसने पूरा किया। अन्त में प्रसन्न होकर महादेव ने गुफा का द्वार खोल बंदी गोंडों को बाहर निकाला और उन्हें लिंगो के हवाले कर दिया। उन गोंडों ने लिंगो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसे अपना पिता माना। इस प्रकार गोंडों का महादेव के बन्दीगृह से छुटकारा हुआ और लिंगो के आदेशानुसार वे अनेक जातियों में विभाजित होकर उस प्रदेश में बस गए।"

गोंडों का देश 'गोंडवाना' कहलाया और उनकी अनेक व्यावसायिक शाखाएँ हो गईं। पेशे के हिसाब से उनके नाम पड़ गए, जैसे अगरिया (लुहार), बैगा (झाड़-फूँक करनेवाले), परधान (पुरोहित), सोलाहा (बढ़ई), कोयलाभूती (नर्तक और वेश्यावृत्ति करनेवाले) आदि। कालान्तर में अन्य जातियों के लोग भी उनमें मिल गए। बस्तर के रहने वाले परजा जाति के लोग असली गोंड हैं। झाड़ी तैलंग लोग गोंड और हिन्दुओं के मिश्रण से उत्पन्न हुए। हिन्दू और द्रविड़ जातियों के संसर्ग से गोंडों की संख्या बहुत बढ़ गई, परन्तु उनकी दो मुख्य शाखाएँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं—एक तो राजगोंड, दूसरी खटोला। राजगोंड राजपूतों और गोंडों के मिश्रण से बने और खटोला बने गोंडों और अन्य निम्न जातियों के संसर्ग से। राजगोंडों की गणना हिन्दुओं में होती है। खटोला लोग नीची जाति के समझे जाते हैं, परन्तु कहीं-कहीं वे राजगोंडों से विवाह-सम्बन्ध कर लेते हैं। सूर्य और रावणवंशी गोंड भी खटोला लोगों में पाए जाते हैं। उनकी भी अनेक उप-जातियाँ हैं, परन्तु राजगोंड अधिकतर ज़िमींदार तथा सम्पन्न व्यक्ति होते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क में आने पर भी गोंडों ने अपने सामाजिक नियमों तथा पूजा-पाठ की रीतियों में अन्तर नहीं आने दिया। उनमें से कुछ ही लोगों ने हिन्दू धर्म को अपनाया और बहुत थोड़ी संख्या में वे मुसलमान हुए। मालवा के कुछ राजपूतों ने तो गोंडों से विवाह-सम्बन्ध भी करना आरम्भ कर दिया था और उनके वंशज अभी तक राजपूत कहलाते हैं। गोंडों की कुछ शाखाएँ अपने को हिन्दू नहीं कहतीं और हिन्दुओं से वे घृणा करती हैं। कुछ इलाकों में देवताओं की भिन्नता के अनुसार गोंडों की उपजातियाँ बन गई हैं तथा कुछ लोगों ने अपनी जाति का नाम किसी वृक्ष या जंगली पशु के नाम पर रख लिया है। ऐसे लोग अपनी जाति के वृक्ष या पशु विशेष को हानि नहीं पहुँचाते वरन् उसको पूजते हैं।

किन्तु आजकल गोंड लोग शान्तिप्रिय प्रजा बनकर रहने लगे हैं। उनमें स्वाभाविक संकोच की मात्रा अधिक पाई जाती है। गोंडों की कुछ जातियाँ कृषि-कार्य में बड़ी कुशल पाई जाती हैं। कुछ लोग भिन्न-भिन्न उपयोगी उद्योग-धन्धों में लगे हुए हैं। कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जो आलस्यवश उद्यम से दूर भागती हैं। गोंडों के प्राचीन जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि किसी समय उनमें सभ्यता का यथेष्ट विकास हो चुका था। वेदों में "दस्युओं" के नगरों तथा गाँवों का उल्लेख मिलता है। वे "दस्यु" सम्भवतः यही गोंड रहे हों। मंडला, देवगढ़, खेरला और चाँदा के इलाकों में गोंडों द्वारा निर्मित विशाल दुर्गों तथा महलों के ध्वंसावशेष अभी भी पाए जाते हैं, जो उनकी कला-विज्ञता का परिचय देते हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही जनमार्ग, नदियों के बाँध, तालाब, नहरें और कुएँ गोंडों के बनाए हुए पाए जाते हैं, जो देखने-वाले यात्री को आश्चर्य में डाल देते हैं। साधारणतया गोंडों के गाँव घने जंगलों के बीच में बसे हुए मिलते हैं और उनका जीवन वनवासियों-जैसा बन गया है। वन-वासियों के गुणों का भी उनमें पर्याप्त समावेश है। उनकी स्पष्टवादिता, सचाई, ईमानदारी और आपत्ति के समय उनकी निर्भयता प्रसिद्ध है। यद्यपि वे अपरिचित लोगों से सकोचवश दूर भागते हैं, परन्तु अतिथि-सत्कार उनका विशेष गुण होता है। जो लोग नगरों और मैदानों में जा बसे हैं, वे कमीने, कायर, दासत्वप्रिय और धोखेबाज़ बन गए हैं, जिसका मुख्य कारण पड़ोस की अन्य जातियों के संसर्ग और अधिकार में रहना ही कहा जा सकता है। गोंडों की समस्त जाति की कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ समान हैं। उनका नाटा क़द, गठीला बदन, चिपटी नाक, मोटे होंठ, खड़े बाल, और काला रंग उनकी जातीय विशेषता के परिचायक हैं। पुरुष सिर घुटाये रहते हैं और चोटी रखते हैं। स्त्रियाँ अपने चेहरे और टाँगों पर गोदना गोदाती हैं। स्त्री पुरुष दोनों अपने कान में बालियाँ पहने रहते हैं। पुरुष प्रायः एक ही कान में बालियाँ पहनते हैं। स्त्रियाँ पोत तथा रंगीन पत्थरों के टुकड़ों की मालाएँ भी धारण

करती हैं। पार्वतीय प्रदेशों और जंगलों की सीमा पर रहनेवाले लोग बहुत कम कपड़े पहनते हैं। वहाँ स्त्रियाँ पत्तों से अपनी लाज बचाती हैं या कपड़े की एक पट्टी कमर में लपेटे रहती हैं। पुरुष कभी-कभी ऊँची धोती पहनते या अधिकांशतः लँगोटी ही पहने रहते हैं। पहाड़ों के ऊपर तथा घने जंगलों में रहनेवाले गोंड बिल्कुल नंगे रहते हैं और अपने शरीर पर राख या मिट्टी लपेटे दिखाई देते हैं। वे इतने असभ्य हैं कि वस्त्रों से अपना शरीर ढँकना भी उन्हें बुरा लगता है। भयंकर शीत पड़ने पर वे आग जलाकर उसके चारों ओर बैठे-बैठे रात बिता देते हैं। यदि कपड़ा पहने हुए कोई गोंड उनके सामने आ जाय तो वे डरकर भाग जाते हैं। वनवासी गोंड जंगली कंदमूल, फल तथा पशु-पक्षियों का मांस खाते हैं। चील्ह और गिद्ध भी उनसे नहीं बचते। वे अपना शिकार धनुष-बाण से करते हैं। सुना जाता है कि भीतरी भागों में रहनेवाली कुछ गोंड जातियों में नर-मांस-भक्षण की भी प्रथा है, परन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण आज दिन नहीं मिलता। सम्भव है कि विदेशी लेखकों ने उनको कलंकित करने की भावना से ही ऐसा लिखा हो। इतना अवश्य है कि गोंड सर्वभक्षी कहे जा सकते हैं। कृषि-कार्य करनेवाले गोंड कुटकी और कोदों बोते हैं, जिसकी उपज वहाँ बहुतायत से होती है। उनके खेती करने के तरीके भी एकदम प्राचीन हैं। गोंडों के इलाके में बंजारे बहुत फिरा करते हैं, जिनसे वे अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ मोल ले लिया करते हैं, जिनमें शकर और नमक अधिक खरीदा जाता है। जौ, अरहर, चना, ज्वार, जनेरा, सरसों और तम्बाकू की भी गोंड लोग खेती करते हैं। माड़िया इलाके में लड़कों को छोटे-छोटे खेत दे दिये जाते हैं, जिनको वे स्वयं जोतते-बोते तथा उनकी पैदावार से अपना जेबखर्च चलाते हैं। गोंडवाने का पश्चिमी भाग अधिक उपजाऊ है और वहाँ के रहनेवाले गोंड अधिक सभ्य पाये जाते हैं।

जो गोंड हिन्दुओं की बस्तियों के आसपास रहने लगे हैं, वे उन्हीं की देखादेखी मिट्टी के छोटे-छोटे घर बना लेते हैं। वनवासी गोंड बाँस की दीवालों पर मिट्टी छोपकर और उन पर पतावर की छत डालकर झोपड़े बनाते और उन्हीं में रहते हैं। इन झोपड़ों के भीतर फ़र्श पर ऊँची-ऊँची टोकरियाँ, जिनमें अनाज भरा जाता है, एक पंक्ति में रखी रहती हैं, जिनसे उस घर के अलग-अलग दो भाग दिखाई देते हैं। इस घर से मिला हुआ एक सायबान बनाया जाता है, जिसके चारों ओर बाँस बाँधकर ये लोग एक बाड़ा जैसा तैयार करते हैं। उस सायबान के नीचे मवेशी बाँधे जाते हैं। बस्तर में घरों की दीवालें ४-५ फ़ीट ऊँची और दरवाज़ा ३ फ़ीट ऊँचा होता है। वहाँ गाँवों में लोग दो या तीन खलिहान बना लेते हैं, जिनमें गाँव के सभी लोगों का अनाज जमा रहता है। परन्तु एक दूसरे की चोरी करने का ध्यान उन्हें स्वप्न में भी नहीं आता। गोंडों के गाँवों में प्रायः छोटे-छोटे मचान बाँधकर खेतों के पास ही घर बना लिये जाते हैं और तीन-चार घर एक दूसरे से मिले रहते हैं। गोंड लोग जनमार्ग के किनारे रहना पसन्द नहीं करते। नया घर बनाते समय वे पहला लट्ठा एक प्रकार की लकड़ी का गाड़ते हैं और उसके चारों ओर पतावर लपेट देते हैं। भिलाँवे का एक फल और एक ताँबे का पैसा भी उस लट्ठे को अर्पण किया जाता है। उस लट्ठे को "खिरखुत देव" कहते हैं, जो घर को सर्व प्रकार के अनिष्ट से बचाने की क्षमता रखने वाला समझा जाता है। गोंडों के घरों में एक पीतल या काँसे की छोटी-सी थाली, एक लोटा, कुछ मिट्टी की हाँडियाँ, एक कुल्हाड़ी, और मिट्टी का हुक्का-चिलम, बस इतनी ही सामग्री रहती है। वनवासी गोंडों को छोड़कर अन्य लोगों के पहनावे का ढंग हिन्दुओं जैसा ही है। बस्तर ज़िले में गोंड स्त्रियाँ अपनी छाती खुली रखती हैं। गर्भिणी होने के पश्चात् उनमें छाती ढँकने का नियम है। स्त्रियाँ हाथों में काँच, पीतल और काँसे के कड़े तथा चूड़ियाँ और पैरों में मोटे-मोटे कड़े पहने रहती हैं। पैरों में आभूषण पहनने का रिवाज इनमें अब कम हो गया है। पुरुष और स्त्रियाँ, दोनों ही, गले में हँसली पहने दिखाई देते हैं। मंडला में स्त्रियाँ रंगबिरंगे पत्थरों के टुकड़े तथा कौड़ियों को एक में पिरोकर हार बनाती हैं, जिन्हें वे बड़े चाव से पहनती हैं। विधवाएँ गले में तागे में पिरोई हुई एक कौड़ी पहने रहती हैं। पीले पोत की मालाएँ पहनने का अधिकार केवल विवाहिता स्त्रियों का ही माना जाता है। गोंड स्त्रियों में चोली पहनना वर्जित है और जो स्त्री ऐसा करती है उसे जाति से बाहर निकाल देते हैं। परिवार के बड़े-बूढ़ों के सामने स्त्रियाँ अपने आँचल को छोर कमर में नहीं लपेटतीं। यदि कोई स्त्री इस नियम

के पालन में असावधानी करती है तो उसे अभद्र समझा जाता है। लड़कियों के कान काँटे से छेदकर उनमें मोर के पंख या लकड़ी के टुकड़े डाल दिए जाते हैं। वयस्क स्त्रियाँ कानों में "तरकी" या बुंदे पहनती हैं। बस्तर में स्त्रियाँ कानों में अनेक छेद करके बहुत-सी बालियाँ पहने रहती हैं। जिस स्त्री का कान फट जाता है, उसे जाति-च्युत कर देने का नियम है और बिरादरी को भोज देने के बाद तथा कान अच्छा होने पर ही उसे पुनः जाति में सम्मिलित किया जाता है।

गोंड पुरुष अपने सिर के केश कटाए रहते हैं। जब कैंचियों का चलन नहीं था तब वे कुल्हाड़ी से केश छाँट देते थे या उन्हें जला देते थे। वनवासी गोंड अभी भी अपने केश लम्बे रखाते हैं, जो जटाओं की भाँति गुथे और उलझे रहते हैं। गोंडों के बैगा या पुरोहित लोग बाल नहीं कटाते। स्त्रियाँ बकरियों तथा अन्य पशुओं के बाल लेकर अपने बालों में मिलाकर गूँथती हैं, जिससे वे लम्बे जान पड़ें। मंडला में, विवाह से पहले गोंड लड़कियाँ केशों के बीच में सीधी माँग नहीं काढ़तीं। विवाह होने पर बैगा या पुरोहित लड़कियों की माँग पहले पहल सीधी काढ़ता है और माथे पर गोदने से चंडी माता की मूर्त्ति गोद देता है।

गोंड लोग नित्य प्रति नहीं नहाते, परन्तु हाथ-पैर धो डालते हैं। उनकी समझ में महीने में एक बार स्नान कर लेना पर्याप्त होता है। यदि कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो वह यह समझता है कि स्नान न करने के कारण ही ईश्वर कुपित है, अतएव वह स्नान करने की मनौती मानकर अच्छा होते ही ख़ूब नहाता है और भोज भी देता है! स्त्रियाँ घर का कामकाज या चौका-बरतन करते समय कपड़े उतारकर प्रायः नंगी हो जाती हैं, जिसमें उनके कपड़े मैले न हों। कपड़ों के मूल्य का उतना महत्त्व नहीं समझा जाता जितना कि उनकी धार्मिक पवित्रता का। गोंडों का एक देवता जिसे "पॉलो" कहते हैं, कपड़े का एक गुड्डा मात्र होता है। गोंडों में पहले स्त्री-पुरुष सभी गोदना गोदाते थे, परन्तु पुरुषों में इसका रिवाज उठ गया है। स्त्रियाँ सारे शरीर पर गोदना गोदाती हैं, परन्तु कमर और नितंबों को छोड़ देती हैं। उनके ओझा, स्याने और टोना करनेवाली स्त्रियाँ अपने वक्षःस्थल पर गोदने से अपने देवी-देवता विशेष की मूर्त्ति अंकित करवाते हैं। उनकी धारणा है कि ऐसा करने से उनके शत्रुओं का जादू उन पर नहीं चल सकता और उनके इष्ट देवी-देवता उनकी रक्षा करते हैं। स्त्रियाँ अपने पीहर में ही गोदना गोदाती हैं और विशेष रूप से विवाह के पहले ही यह कार्य्य हो जाता है। यदि विवाह के बाद गोदना गोदाया जाता है, तो उसका मूल्य उसके माता को देना पड़ता है। गोदने में पशुओं तथा घरेलू व्यवहार की वस्तुओं के चित्र अंकित किए जाते हैं। गोदने की क्रिया बड़ी कष्टदायक होती है और स्त्रियाँ अक्सर पीड़ा से चीखने-चिल्लाने लगती हैं, मगर उनके परिवारवाले उनको बलपूर्वक पकड़ रखते हैं। शृंगार के अतिरिक्त यह एक धार्मिक कृत्य समझा जाता है। होली के अवसर पर पुरुष अपने हाथों और पैरों के सारे जोड़ों को जलती हुई सेमर की लकड़ी से दागते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से नृत्य के समय उनके अंगों में फुर्ती आ जाती है।

जैसा हम पहले लिख आए हैं, गोंड प्रायः सर्वभक्षी होते हैं। वे मुर्गे, मुर्गी, सुअर, घड़ियाल, कुछ विशेष जाति के सर्प, गिलहरी, गिरगिट, छिपकली, कछुए, चूहे, बिल्ली, गीदड़, बन्दर और गाय आदि सब-कुछ खा लेते हैं। खटोला और राजगोंडों में गाय, भैंस, और बंदर का मांस नहीं खाया जाता। वे खेतों तथा घर के चूहों का मांस विशेष रूप से पसंद करते हैं। माडिया गोंड लाल रँग की चिउँटियाँ बड़ी रुचि के साथ खाते हैं। खेती-पाती करनेवाले या मज़दूरपेशा गोंड चावल या बाजरे का माँड़ पीते हैं। महुए के फूल कसरत से खाए जाते हैं और उनकी शराब भी पी जाती है। शराब का इनमें बड़ा व्यसन है और ये दिन-रात में कई बार शराब पीते हैं। अन्य जातियों का छुआ भोजन गोंड लोग नहीं खाते, यहाँ तक कि ब्राह्मणों से भी उनको परहेज़ होता है। हाँ, होशंगाबाद के रहनेवाले गोंड हिन्दुओं का छुआ खा लेते हैं, परन्तु उनकी स्त्रियाँ ऐसा नहीं करतीं। राजगोंडों और हिन्दुओं में विशेष अन्तर नहीं रह गया है और हिन्दुओं के रीति-रिवाज उनके यहाँ भी माने जाते हैं। हिन्दुओं में बहुत कम ऐसी जातियाँ हैं जो गोंडों के हाथ का छुआ खाती-पीती हों। वे लोग गोंडों को अपवित्र और अछूत जाति के मानते हैं। दोनों की यह पारस्परिक घृणा आदि काल से चली आ रही है। परन्तु

राजगोंडों के यहाँ ब्राह्मण लोग खाते-पीते हैं, क्योंकि उनको हिन्दुओं से पृथक् नहीं समझा जाता। शराब का अत्यधिक प्रचार होने के कारण गोंड जाति का भयानक पतन हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप उनके बड़े-बड़े राजपरिवारों की महत्ता नष्ट हो गई। कारण यह है कि उनकी धार्मिक रस्में बिना शराब के पूरी ही नहीं होतीं और शराब को देवताओं का मुख्य प्रसाद समझा जाता है। शराब के अतिरिक्त ताड़ी भी भयंकर रूप से पी जाती है और ये लोग प्रत्येक उत्सव-समारोह और त्योहार के अवसर पर उसका व्यवहार करते हैं। जन्म के भोज और मृत्यु की ज्योनार दोनों में ही शराब अवश्य पी जाती है। इसी दुर्व्यसन के कारण गोंड लोग लाख परिश्रम करने पर भी निर्धन बने रहते हैं, क्योंकि उनकी कमाई और जमा-पूँजी का अधिकांश भाग शराब की भेंट चढ़ जाता है। गोंड लोग अपने दोनों हाथों से चुल्लू बाँधकर पानी नहीं पीते बल्कि किसी नदी या तालाब के किनारे मुँह लगाकर पीते हैं। प्रायः सभी गोंड धनुषबाण, कुल्हाड़ी, और छुरे के व्यवहार में कुशल होते हैं और आरम्भ से ही उनमें युद्ध एवं शिकार के इन अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार प्रचलित रहा है।

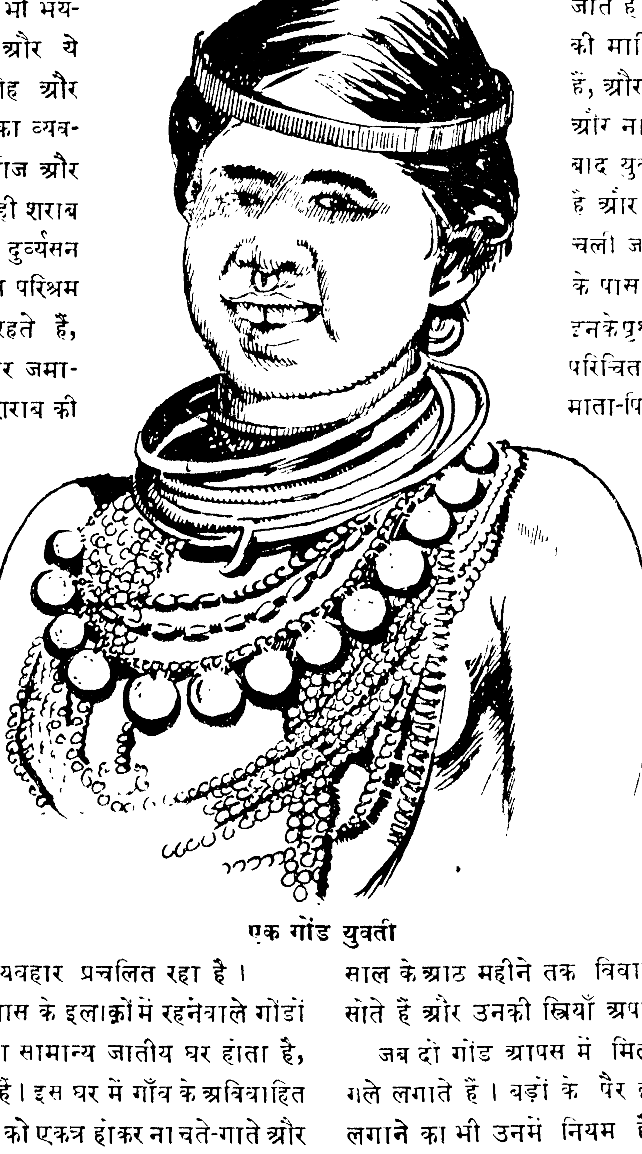

एक गोंड युवती

छत्तीसगढ़ तथा आसपास के इलाक़ों में रहनेवाले गोंडों के गाँवों में एक बहुत बड़ा सामान्य जातीय घर होता है, जिसे "गोतुलगुरी" कहते हैं। इस घर में गाँव के अविवाहित युवक और युवतियाँ रात को एकत्र होकर नाचते-गाते और सोते हैं। कुछ गाँवों में दो घर होते हैं, एक युवकों के लिए और एक युवतियों के लिए। बस्तर में युवकों की एक संस्था होती है, जिसका एक सर्दार या "कोतवार" होता है। रात्रि को खाने-पीने से निबटकर सब अविवाहित युवक पहले सर्दार के पास जाकर उसे सिर नवाते हैं, बाद में युवतियाँ भी आकर उसे प्रणाम करती हैं। तब एक-एक युवती और एक-एक युवक मिलकर विभिन्न जोड़े बना लेते हैं और गोतुलगुरी के भीतर इधर-उधर बैठ जाते हैं। युवतियाँ युवकों के शरीर की मालिश करती हैं, अंग दबाती हैं, और उनके साथ मिलकर गाती और नाचती हैं। थक जाने के बाद युवक तो सोने को चले जाते हैं और लड़कियाँ चाहती हैं तो घर चली जाती हैं अथवा वहीं युवकों के पास सो रहती हैं। इस प्रकार इनके पृथक्-पृथक् जोड़े परस्पर काफ़ी परिचित हो जाते हैं। यदि उनके माता-पिता या अभिभावक गण उनकी इस मित्रता पर आपत्ति करते हैं तो वे जंगलों में भाग जाते हैं और अन्त में माता-पिता को राज़ी होकर उनका परस्पर सम्बन्ध स्वीकार करना ही पड़ता है। कुछ गाँवों में लड़कियाँ गोतुलगुरी में नहीं जाने पातीं। एक ज़िले में ऐसा नियम है कि साल के आठ महीने तक विवाहित पुरुष भी गोतुलगुरी में सोते हैं और उनकी स्त्रियाँ अपने घरों में।

जब दो गोंड आपस में मिलते हैं तो वे एक दूसरे को गले लगाते हैं। बड़ों के पैर छूकर उनकी रज मस्तक से लगाने का भी उनमें नियम है। इस अभिवादन को वे "जोहार" कहते हैं। स्त्रियाँ भी इसी प्रकार अभिवादन करती हैं।

बड़ी-बूढ़ियों के पैर छुए जाने पर उनके द्वारा छोटों का ललाट या गाल चूमने की प्रथा है। पुरुषों की उपस्थिति में स्त्रियाँ पलंग या आसन पर नहीं बैठतीं। स्त्रियाँ अपने पति, देवर, जेठ या जेठ के लड़कों के नाम नहीं लेतीं। पुरुष भी अपनी पत्नी या बड़ी साली का नाम कभी नहीं लेता। गोंडों में प्रत्येक जाति की एक पंचायत होती है जो आपस के झगड़ों और अपराधों का फ़ैसला करती है। सर्वसम्मति से पंचायत के सदस्यों का चुनाव किया जाता है। जब तक किसी सदस्य का व्यवहार और आचरण आपत्तिजनक नहीं समझा जाता तब तक उसे पंचायत में बैठने का अधिकार रहता है, अन्यथा उसे तुरंत निकाल देते हैं। धार्मिक भूलों तथा अपराधों के लिए प्रायश्चित या दण्ड का विधान पंचायत ही करती है। धोखा, चोरी, साधारण मार-पीट, जालसाज़ी, गाली-गलौज आदि के लिए पंचायत कुछ भी दण्ड नहीं देती, क्योंकि गोंडों के जातीय नियमानुसार ऐसी बातें अपराध की कोटि में नहीं आतीं। यदि सरकार ऐसे अपराधी को पकड़कर जेल भेज देती है तो ऐसे व्यक्ति को जातिच्युत् कर दिया जाता है, क्योंकि जेल का खाना खाना गोंडों की दृष्टि में भयंकर अपराध है। बड़े अपराधों के लिए पंचायत दण्डस्वरूप भोज का विधान करती है, और छोटों के लिए जुर्माना करना पर्याप्त समझा जाता है। जुर्माने की रक़म का कुछ भाग मेहनताने के तौर पर पंचायत के सदस्य ले लेते हैं और बाक़ी शराब और दावत में ख़र्च हो जाता है। गोंड लोग देशी शराब को अमृत-तुल्य पवित्र समझते हैं। छुआछूत तथा सामाजिक मर्यादा तोड़नेवाले अपराधियों को अपने पाप का प्रायश्चित्त करना होता है, जिसका ढंग हिन्दुओं के प्रायश्चित्त करने के ढंग से मिलता-जुलता है। उदाहरणतः अपराधी को गोबर खिलाया जाता है या गोमूत्र पिलाकर उसका सिर घुटा देते हैं। कभी-कभी अपराधियों को बैलों की जगह हल में जोतकर चलाते हैं! प्रत्येक दशा में मांस-मदिरा से परिपूर्ण लम्बी-चौड़ी व्यवस्था के साथ भोज देने पर अपराधियों के प्रायश्चित्त की पूर्त्ति होना समझा जाता है और तब उनको जाति में मिला लिया जाता है।

गोंड लोग संगीत और नृत्य के बड़े प्रेमी होते हैं और उनका कोई उत्सव या समारोह इससे ख़ाली नहीं रहता। पुरुष और स्त्रियाँ सम्मिलित नृत्य करते हैं और विचित्र भावभंगी के साथ गाना गाते हैं। उस समय वे नशे में चूर रहते हैं और ख़ूब आनन्द मनाते हैं। माड़िया गोंडों के नृत्य में केवल अविवाहिता युवतियाँ ही भाग ले पाती हैं। नाचते समय पुरुष चीते, तेंदुए, हिरन तथा अन्य पशुओं की खालों के वस्त्र धारण करते हैं और सिर पर मोर के पंखों का ऊँचा मुकुट धारण करते हैं। कमर में कौड़ियों की मेखला और पैरों में घुंघरू बाँधते हैं। माड़िया गोंडों के नृत्य में कम-से-कम तीस गाने-बजानेवाले बुलाए जाते हैं, जिनका ख़र्च पचास रुपए से कम नहीं होता। स्त्री-पुरुष पहले आमने-सामने दो पंक्तियाँ बनाकर हाथ-पैर मटकाते हुए नाचते हैं, फिर गोल घेरा बनाकर ताल-स्वर के साथ सम्मिलित नृत्य करते हैं। बीच-बीच में पत्तों के दोनों में उनको शराब पीने के लिए दी जाती है। नाचने के साथ ही स्वर मिलाकर सब गाते भी जाते हैं। पुरुष गाने की एक पंक्ति कहते हैं, स्त्रियाँ दूसरी, इसके बाद दोनों मिलकर उसको दुहराते हैं। उनके गाने अधिकतर शृंगार-रस के होते हैं। गोंडों की बोली 'गोंडी' में कोई लिखित साहित्य नहीं पाया जाता। कुछ विद्वानों ने चेष्टा करके इस भाषा के शब्दकोश और व्याकरण की पुस्तकें तैयार की हैं।

गोंड अपनी बिरादरी के भीतर शादी-ब्याह नहीं करते और न अपने 'भाइयों' की बिरादरी में ही करते हैं। जिस घराने में वे लड़का-लड़की देते हैं, वहीं सम्बन्ध करना वे अपना अधिकार समझते हैं, और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, उसे अधिकारी व्यक्ति को हरजाने की रक़म देनी पड़ती है। चाचा के लड़के-लड़कियों का आपस में सम्बन्ध बुरा नहीं समझा जाता। पहले मामा और फूफी के बच्चों में भी विवाह हो जाते थे, परन्तु अब यह प्रथा उठ गई है। बहनों के लड़के-लड़कियों में आपस में विवाह नहीं होता। बड़ी साली, चाची, फूफी, भतीजी, सास या सास की बहिन से भी विवाह करना अनुचित समझा जाता है! यदि बाबा किसी कमसिन लड़की को ब्याह लाएँ और ब्याह के बाद बाबा की मृत्यु हो जाय तो उसका पौत्र अपनी नई दादी से विवाह कर सकता है! बस्तर ज़िले के निवासी गोंड अपनी नातिनों, नाना की पौत्रियों, तथा नानी की बहनों से विवाह कर लेते हैं। माड़िया प्रदेश में यदि विवाह से पहले किसी लड़की को अपनी ही जाति के

किसी युवक से गर्भ रह जाय तो वह उस युवक के घर चली जाती है और उसके साथ पत्नी की भाँति रहने लगती है। इसको "पैठू" की रस्म कहते हैं। युवक को लड़की के पिता को उसका मूल्य तथा भाई-बिरादरीवालों को भोज देना पड़ता है। यदि लड़की सयानी हो जाय और उसके योग्य वर न मिलता हो तो लड़की के माता-पिता मामा या फूफी के लड़के को आज्ञा देते हैं कि वह लड़की को ज़बरदस्ती उठा ले जाए और घर में डाल ले। ऐसा होने पर, कुछ दिनों बाद, माता-पिता लड़की की ससुराल जाकर भगानेवाले के साथ नियमानुसार उसका विवाह कर देते हैं। निर्धन लोगों में बिना किसी रस्म के युवक-युवतियाँ साथ रहने लगते हैं और विवाहित समझे जाते हैं। जब वे समर्थ होते हैं, तब बिरादरीवालों को भोज दे देते हैं। बिना विवाह के जो गोंड स्त्री रखेल या "पैसामुंडी" बनकर रहती है, उसे उसके प्रेमी के साथ एक रस्म में शामिल होना पड़ता है। दोनों को शरीर पर हल्दी और तेल लगाकर तथा खजूर की पत्तियों के मुकुट पहनाकर सिर से नहलाया जाता है और उनसे महुए की एक डाल के सात फेरे लगवाये जाते हैं। विवाह प्रायः सयाने होने पर ही होते हैं। बस्तर के जंगली माड़िया गोंडों में विवाह से पहले लड़की की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता है। लड़कों को भी इस विषय में विचार करने की पूरी स्वतंत्रता दी जाती है। अन्य ज़िलों में माता-पिता ही विवाह तय करते हैं। लड़की का मूल्य चुकाने की रस्म उनमें अवश्य मानी जाती है। वर के माता-पिता की आर्थिक स्थिति का किंचित् विचार न करते हुए कन्या-पक्ष के लोग प्रायः लम्बी रक़म माँगते हैं, जिसे दिए बिना विवाह-सम्बन्ध पक्का नहीं हो सकता। लड़कियों को इस विषय में कुछ स्वतंत्रता अवश्य है। यदि कोई लड़की किसी युवक के यहाँ अपने आप जाकर उसके ऊपर हल्दी और पानी डाल दे तो उसे पक्का विवाह समझा जाता है और युवक उसे पत्नी की भाँति घर में रख सकता है। विवाहिता स्त्रियाँ यदि अपने पतियों को छोड़ना चाहती हैं, तो वे भी ऐसा ही करती हैं।

हिन्दुओं की वैवाहिक-रस्मों के ठीक विपरीत, गोंड लोगों में बारात कन्यापक्षवालों के यहाँ से वरपक्षवालों के यहाँ जाती है, जहाँ विवाह-कृत्य सम्पन्न किया जाता है! सम्भवतः पुराने ज़माने में वर कन्या को ज़बरदस्ती अपहरण करके घर ले आता था और वहीं उससे विवाह करता था। उसी रस्म का यह रूपान्तर वर्तमान समय में इस प्रकार प्रचलित हुआ है। गोंडों का कहना है कि जब से उनके "दूल्हादेव" को, जो गाँव का मुख्य देवता माना जाता है, विवाह-यात्रा के समय बाघ उठा ले गया तभी से ऐसा निश्चय किया गया कि वर कन्या के यहाँ न जायगा वरन् कन्या ही वर के यहाँ आएगी। इस प्रकार विवाह-यात्रा के सारे संकट कन्या पर ही बीत जाएँगे और वर बचा रहेगा। माड़िया गोंडों में जब बारात वर के गाँव में आ जाती है तो बरातियों के लिए कुछ खाली झोपड़ों में जनवासे का प्रबन्ध कर दिया जाता है। वर का पिता बरातियों के पास कुछ भोजन-सामग्री, सुअर और मुर्ग़ियाँ भेज देता है और वे सारा दिन खाते-पीते हुए आनन्द से बिता देते हैं। शाम को बरातवाले वर के घर जाते हैं, जहाँ भोज और नाचने-गाने का समारोह मनाया जाता है। वर-कन्या भी सबके साथ मिलकर नाचते-गाते हैं। दूसरे दिन सवेरे बरात के लोग जनवासे लौट जाते हैं और खाने-पीने के बाद कन्या के माता-पिता उसे लेकर वर के घर के भीतर पहुँचा देते हैं और वर के पिता से कहते हैं कि "अब यह तुम्हारी पतोहू हुई, इसे सम्हालना और इसे हमारे घर अकेले न आने देना।" लड़की जातीय नियमानुसार रोती-चिल्लाती है और इसके साथ विवाह-कृत्य की समाप्ति समझी जाती है। कुछ अधिक सभ्य जातियों में वर-कन्या को पास-पास बिठाकर उनको नहलाने की भी रस्म है। इसके बाद गाँव के बड़े-बूढ़े उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हैं और विवाह हो जाता है। पर धीरे-धीरे अब गोंडों में भी हिन्दुओं के रीति-रिवाज प्रचलित होते जा रहे हैं।

काँकड़ ज़िले के गोंडों में विवाह की बड़ी विचित्र रस्म प्रचलित है। विवाह के दिन वर-कन्या पुरोहित के साथ नदी के किनारे जाते हैं और वहाँ पर पाँच या छः फ़ीट ऊँचे दो नरकुल के टुकड़े लगभग तीन गज़ के अन्तर से बराबर-बराबर गाड़ दिए जाते हैं तथा ऊपर एक सूत का धागा दोनों को मिलाते हुए बाँध दिया जाता है। पुरोहित उस धागे के नीचे लेट जाता है और वर-कन्या उसके ऊपर चढ़कर सात बार कूदते हैं! इसके बाद थोड़ी दूर जाकर वे अपने वस्त्र उतारकर फेंक देते हैं और नग्न होकर

दौड़ते हुए उस स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ नए वस्त्र रखे रहते हैं! ये नए वस्त्र पहनकर वे घर लौट आते हैं। खैरागढ़ के गोंडों में वर और कन्या एक बड़े तराजू के दो पलड़ों में कम्बलों से ढँककर बिठा दिये जाते हैं। तब पुरोहित वर का कम्बल तथा नाते-रिश्ते की स्त्रियाँ कन्या का कम्बल उतार लेती हैं। इसके बाद सब मिलकर सात फेरे घूमते हैं और प्रत्येक फेरे में विवाह-खम्भ को छूते जाते हैं। इसके बाद बिना एक दूसरे को देखे वर-कन्या गाँव के बाहर ले जाये जाते हैं। थोड़े फ़ासले से उनको खड़ा करके बीच में एक परदा डाला जाता है और उनके बीच में धरती पर शराब से एक लकीर खींच दी जाती है। थोड़ी देर बाद, वर परदा हटाकर कन्या पर झपटता है और उसकी पीठ पर एक घूँसा मारता है तथा बकरे के बोलने का शब्द करते हुए उसके हाथ की उँगली में अँगूठी पिन्हा देता है! इसके उपरान्त गाँववाले शराब पीकर नाचते-गाते और आनन्द मनाते हैं। स्त्री-पुरुषों के उस जमाव में जब नशे का पूर्ण आधिपत्य हो जाता है, तब वासना का नंगा ताण्डव शुरू हो जाता है। उस समय लोग अपने आपे से बाहर हो जाते हैं।

विवाहेच्छुक वर के पिता यदि कन्या का मूल्य नहीं दे पाते तो बदले में वर कन्या के परिवार में कुछ वर्षों तक दासत्व-कार्य करके उस ऋण को चुकाने के लिए बाध्य होता है। इसके उपरान्त वह कन्या से विवाह कर सकता है। इस अवधि में वह कन्या से न तो मिल-जुल पाता है और न उसे प्रेम-प्रदर्शन का अवसर ही दिया जाता है। प्रायः ऐसा भी होता है कि वर की सेवाओं का कुछ भी विचार न करके कन्या के माता-पिता किसी मालदार असामी से लम्बी रक़म लेकर उसके साथ कन्या का विवाह कर देते हैं और वह बेचारा मुँह ताकता रह जाता है। यदि वह बीच ही में कन्या को ले भागे तो उसके पिता को हर्जाना देना पड़ता है। विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा गोंडों में प्रचलित है—पति के मर जाने के बाद विधवा अपने किसी भी देवर या जेठ से विवाह कर सकती है। ऐसे विवाह के अवसर पर गाँव के पंचों तथा बिरादरीवालों को भोज देना आवश्यक होता है। विधवा-विवाह में वर-कन्या पर हल्दी और पानी डालकर उनके कपड़े बदलाना या अँगूठियों का परिवर्तन कराना ही पर्याप्त समझा जाता है। गोंडों में तलाक़-प्रथा भी प्रचलित है। यदि पत्नी दुश्चरित्रा, झगड़ालू या गृहस्थी के प्रबंध में लापरवाह हो, अथवा बाँझ हो, या उस पर गुप्त जादूगरनी होने का सन्देह हो तो तुरन्त तलाक़ दिया जा सकता है। किन्तु प्रायः तलाक़ कम ही होते हैं। गोंडों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वे बार-बार विवाह का ख़र्च नहीं उठा सकते, अतएव वे एक बार विवाह करने के पश्चात् जैसे-तैसे आपस में निर्वाह कर लेते हैं। पत्नी के दुश्चरित्रा होने पर भी पति प्रायः उसे तलाक़ नहीं देता, यद्यपि कभी-कभी व्यभिचार के कारण उनमें खून-खराबे की भी नौबत आ जाती है। गोंडों में बहु-विवाह का निषेध नहीं और जिनके पास पैसा होता है उनको अनेक स्त्रियाँ रखने का बड़ा चाव रहता है। किराए के मजदूरों की अपेक्षा घर की स्त्रियाँ खेती-पाती का काम कहीं अधिक सुचारु रूप से करती हैं, अतएव उनको बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जिसके अनेक पत्नियाँ होती हैं, उसे बड़ा आदमी समझकर लोग उसका आदर करते हैं। बाज़ार-हाट के अवसर पर लोग अपनी महानता प्रदर्शित करने के विचार से अपनी स्त्रियों को साथ ले जाते हैं। बालाघाट में एक गोंड के सात पत्नियाँ थीं, जो सदा उसके पीछे एक पंक्ति में चलती हुई बाज़ारों में दिखाई देती थीं!

गोंड लोगों में जादू-टोने, शकुन आदि को बड़ा महत्व दिया जाता है। भूत-प्रेतों की पूजा-उपासना के अतिरिक्त उनमें असंख्य देवी-देवता भी पूजे जाते हैं, जिनको नाना प्रकार के उपचारों, बलिदान, और पूजा द्वारा प्रसन्न किया जाता है। उधमी देवी-देवताओं का गोंडों को बड़ा भय रहता है और उनको मनाने में उनकी आमदनी का अधिकांश भाग ख़र्च होता रहता है। प्रत्येक अवसर पर भोज और मद्यपान का प्रबन्ध करते-करते गोंड प्रायः ऋणी बन जाते हैं। ये लोग पितरों को भी बलि चढ़ाते हैं। कुछ गोंड अपने शस्त्रों, जंगली पशुओं तथा जाति के मृत महापुरुषों को भी पूजते हैं। बहुत-से हिन्दू देवताओं की भी गोंडों में पूजा होती है। भीमसेन, घोड़देव, घनश्यामदेव, पालो, बड़ादेव, बूढ़ादेव, बामदेव, बोदिलपीर, आदि असंख्य देवताओं के अतिरिक्त बाँगडाबाई, दन्तेश्वरी, साली, मुतिया देवी की भी पूजा-उपासना गोंडों में होती है। हनुमान, रावण, राम आदि को भी किसी-किसी जाति के गोंड पूजते हैं। नज़र लगने से हानि हो जाने, मूठ

मारने, आदि में भी गोंडों का विश्वास है। उनमें ओझे, स्याने, झाड़-फूंक करनेवाले बहुत होते हैं, जो उनको खूब ठगते हैं। पुरोहितों और पुजारियों की भी उनमें कमी नहीं—वे भी इस ग़रीब जाति के रक्तशोषक हैं। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी धार्मिक कृत्य होते हैं, उन सबको प्रत्येक गोंड सम्पन्न करता है, नहीं तो उसे जाति बाहर कर देते हैं।

साधारणतया गोंड लोगों में मृतक को गाड़ देने का रिवाज है, परन्तु कुछ जातियों में दाह-संस्कार भी होता है। उनमें एक रस्म 'मुर्दे को जगाने की' होती है, जिसमें सब बिरादरीवाले और सम्बन्धी शामिल होते हैं। उस समय एक भोज दिया जाता है और शराब पानी की तरह पी जाती है। उसके बाद नाच-गाने की धूम मचती है। किसी के मरते ही ढोल बजाकर गाँववालों को सूचना दी जाती है। सब इकट्ठा होते हैं और अपने साथ कुछ वस्त्र लाते हैं, जो मृतक के साथ ही दफ़ना दिए जाते हैं। मुर्दे के पैर उत्तर की ओर करके उसे दफ़नाया जाता है। स्त्रियाँ कभी-कभी लाश के ऊपर लोहे का एक हलका छल्ला रख देती हैं। मुर्दे को गाड़ने से पहले दो-तीन दिन तक घर में रखते हैं और उसकी लाश पर रोते और शोक मनाते हैं।

कुछ जातियों में मृतक की जिस स्थान पर अन्त्येष्टि-क्रिया होती है, वहाँ उसकी स्मृति में एक बड़ी शिला रख देने का भी रिवाज है। धनाढ्य लोग उस शिला के स्थान पर पत्थर के बड़े स्मृतिखम्भ खड़े कर देते हैं। उन स्मारक पत्थरों के आगे कभी-कभी खाना और मदिरा रख दी जाती है, जो इनके धारणानुसार मृतक के व्यवहार में आती है। पति के मरने पर विधवा के हाथों की चूड़ियाँ तोड़ देते हैं। इसके बाद यदि वह पसंद करती है तो देवर या जेठ से विवाह कर लेती है। यदि किसी घर में दो-चार व्यक्ति मर जाते हैं तो उस घर में भूतों का आवास समझा जाता है। उस घर के लोग घर के पिछवाड़े की दीवाल में सेंध लगाकर भाग जाते हैं और दूसरा घर बनाकर रहते हैं। महामारी का प्रकोप होने पर गोंड लोग गाँव-के-गाँव खाली करके अन्यत्र चले जाते हैं।

भील

मध्यभारत और गुजरात के वनवासी

आज से कई शताब्दी पूर्व के संस्कृत ग्रन्थों में "भील" जाति का उल्लेख मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि वे प्राचीन द्रविड़ जातियों के वंशज हैं, जो आर्यों द्वारा समतल मैदानों और उपजाऊ प्रदेशों से खदेड़े जाकर मध्यभारत के पहाड़ी इलाकों में बस गए थे। लोगों का अनुमान है कि उनकी आदिम बस्तियाँ मारवाड़ प्रान्त में थीं, जहाँ से अन्य बली जातियों ने उनको मार भगाया और फलतः वे अरावली पर्वतों, तथा सिन्ध और राजपूताना के जंगली प्रदेशों में जाकर रहने लगे। क्रमशः आधुनिक ख़ानदेश और अहमदाबाद तक उनकी जाति का विस्तार हुआ। उनमें से बहुतेरे सोन, नर्मदा और महानदी के वन्य प्रांतों, सरगुजा और छोटा नागपुर के पठारों, तथा विन्ध्याचल और सतपुड़ा के पार्वतीय इलाक़ों में बस गए। आज भी उनकी प्रिय आवासभूमि ताप्ती, मही और नर्मदा के दोनों किनारों का पथरीला जंगली भूभाग और राजपूताने में डूँगरपुर तक फैला हुआ पहाड़ी इलाक़ा है। असीरगढ़ के क़िले के आसपास पार्वतीय श्रेणियों, धुन्धुका, रामपुर और गोगो की रियासतों और सूरत के उत्तर में राजपीपला तक गुजरात प्रान्त में उनकी घनी बस्तियाँ पाई जाती हैं। उनका देश अभी तक भीलवाड़ा कहलाता है। विन्ध्याचल, सतपुड़ा और अरावली पर्वतों के प्रायः सभी पहाड़ी रास्तों पर वर्षों उनका अधिकार रहा है। अधिकांश भील अभी तक अपने आदिम रीति-रिवाज मानते चले आते हैं और वनवासियों का जीवन व्यतीत करते हैं। सभ्यता की दौड़ में बहुत पिछड़ी हुई यह प्राचीन जाति भारतवर्ष के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है। गोंड लोगों के बाद भील ही यहाँ की आदिम जातियों के प्रतिनिधि माने जाते हैं। उनके सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती प्रचलित है कि

एक बार भगवान् महादेव मृत्युलोक की एक वनवासिनी सुन्दर बालिका पर मुग्ध हो गए और उन्होंने उससे विवाह कर लिया। उससे उनकी कई सन्तानें हुईं, जिनमें एक पुत्र विशेषतया उद्दण्ड स्वभाव का, कुरूप और दुष्ट निकला। उसने महादेवजी के वाहन वृषभ या नंदी का वध कर डाला, जिस पर क्रोधित होकर महादेवजी ने उसे बस्ती से बाहर निकाल दिया। भील लोग अपने को उसी शिव-पुत्र का वंशज कहते हैं, जिसने उनको चोरी, डाका और लूटमार का पेशा करने की शिक्षा दी। "भील" नाम से ही किसी ज़माने में डाकुओं की उस भयंकर जाति का बोध होता था, जो शान्तिप्रिय प्रजा पर अपने अमानुषिक अत्याचारों से आतंक जमाए हुए थी। इतिहास कहता है कि प्राचीन काल में गोंडों की भाँति भीलों ने भी अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की थी, जो उनकी वर्तमान आवासभूमि से अन्यत्र बसे हुए थे। अनुमानतः वे जोधपुर और मारवाड़ प्रदेश के आदि निवासी माने जाते हैं। राजपूताने के इतिहास से ज्ञात होता है कि राजपूतों द्वारा भील उपजाऊ मैदानों से खदेड़ दिए गए, कारण उनसे मोर्चा लेना भीलों की सामर्थ्य के बाहर था। उन्होंने प्रवासी जातियों के निरन्तर प्रत्याक्रमणों से आक्रान्त होकर किसी की अधीनता और दासत्व स्वीकार करने की अपेक्षा अपनी जन्मभूमि को छोड़ जनशून्य सघन जंगलों और ऊजड़ पार्वतीय प्रदेशों में भागकर अपनी जातीय स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखना उचित समझा। जहाँ भी उनको जीवननिर्वाह की सुविधाएँ प्रतीत हुईं, वहीं वे जा बसे, किन्तु हर कहीं अन्य जातियों से सर्वथा दूर रहने में ही उन्होंने अपना कल्याण देखा। एक के बाद दूसरी उठने वाली सभ्यता की लहरें उनकी रहन-सहन को स्पर्श न कर सकीं और उनका एकान्त जीवन सबसे निराला और आदिम ही बना रहा। खानदेश और मालवा के पहाड़ी प्रान्त आदि काल से ही उनके अधिकार में रहे और पास-पड़ोस के ज़िमींदारों और किसानों पर बहुत दिनों तक उन्होंने लूटमार, डाका और हत्याओं द्वारा आतंक जमाया। उस समय के शासकगण लाख चेष्टा करने पर भी अपनी सीमित शक्ति द्वारा इस उद्दण्ड जाति का दमन न कर सके। अवसर पाते ही पास की रियासतों में किसी आन्तरिक विद्रोह से लाभ उठाकर भील लोग दलबल से चढ़ आते और लूटमार का बाज़ार गर्म करके सब-कुछ लेकर भाग जाते। यही नहीं, वे लोगों को भी पकड़ ले जाते और उनके बदले भारी रक़में वसूल करके तब उन्हें छुटकारा देते। खुले आम वे अपनी माँगें पेश करते थे और प्रायः ललकारकर डाके डालते थे। गाँव के बाहर प्रायः किसी मन्दिर की मूर्त्ति के गले में धमकी के पत्र बँधे हुए मिलते या किसी बड़े पेड़ की डाल में लटकी हुई सूचना मिलती कि अमुक समय पर अमुक व्यक्ति के घर डाका पड़ेगा, यदि वह माँगी हुई रक़म नियत समय पर तथा निश्चित स्थान पर भीलों के पास नहीं पहुँचा देगा।

इस प्रकार के पत्र कोरी धमकी नहीं होते थे। वस्तुतः भील जो कहते थे, वही कर दिखाते थे। देश के शासक और अधिकारी लोग केवल इतना ही कर पाते थे कि इन डाकुओं को किसी छल, कौशल या प्रलोभन से फुसलाकर किसी निर्दिष्ट स्थान पर बुलाते और जो डाकू उनकी बातों पर विश्वास कर उनके चंगुल में जा फँसते थे, उन्हें कठोर यंत्रणाएँ देकर मार डाला जाता था। मुग़लों के शासन-काल में भीलों का उत्पात कुछ कम हुआ, परंतु मराठों का राज्य स्थापित होते ही भीलों ने पुनः सिर उठाया। मराठा शासकों ने उनको क्षमादान देने तथा धन देने का लालच दिखाकर बहुत बड़ी संख्या में बन्दी भी किया और क़त्ल तक करवा दिया। इतना सब होते हुए भी उनकी उत्पाती प्रवृत्ति को रोकना असंभव था। उस समय भीलों को राजा, प्रजा और समाज का शत्रु तथा हिंस्र पशुओं-जैसा समझा जाता था। वे अवसर पाते ही गाँव-के-गाँव जलाकर ख़ाक कर देते, यात्रियों को लूट लेते, और मार डालते तथा शासकों के नाक में दम किये रहते। मराठों का पतन होने तक उनका आतंक यथावत् बना रहा और वे किसी भाँति क़ाबू में न आए। न भारतवर्ष में अंग्रेज़ी राज्य का प्रारम्भ होने पर ही भीलों ने लूटमार का पेशा छोड़ा। उनकी नये शासकों से ज़ोरदार मुठभेड़ हुई। जब सर जान मैल्कम ने सन् १८१८ में खानदेश और मालवा जीत लिया तब कहीं उन प्रान्तों में भीलों का दबदबा कम हुआ। ब्रिटिश शासकों ने भीलों के यहाँ मैदानी बस्तियों से जो रसद जाया करती थी उसे रोक दिया। जो भीलों के दल पहाड़ों से लूट-मार करने के लिए बाहर निकलते उनको ढूँढ़-ढूँढ़कर पकड़ा जाने लगा। फिर भी बन्दरों की भाँति कूदने-फाँदने और छिपने में

चतुर भील अपने दाँव-घात में रहते और सरकारी सेना को पहाड़ी रास्तों में फँसाकर पत्थरों और बाणों से यमपुरी पहुँचा देते । यथेष्ट जनहानि के बाद सरकार ने यह अनुभव किया कि नम्र युक्तियों द्वारा ही भीलों को वश में लाना संभव है । अतएव आत्मसमर्पण करनेवाले भीलों के लिए क्षमा-दान देने की घोषणा की गई । साथ ही मुआफ़ी की ज़मीन, कपड़े, धन और भोजन देने का भी प्रलोभन दिया गया । फलतः ये लोग खेती-पाती के काम में लगकर शान्ति से रहने लगे और उद्योग-धन्धों को सीखने लगे, यद्यपि जंगली इलाक़ों में फिर भी कुछ जातियाँ ऐसी बच गईं, जो लूट-मार का पेशा नहीं छोड़ती थीं ।

ख़ानदेश की कुल आबादी का आठवाँ भाग भीलों की बस्तियों से भरा पड़ा है। वहाँ वे बड़ी सभ्य और उपयोगी प्रजा की भाँति रहते हैं । उनमें से बहुतेरे कृषि-कार्य में लगे हुए हैं और वहाँ के अन्य जातियों के किसानों तथा उनमें कोई भेद नहीं जान पड़ता । कुछ लोग टोकरियाँ बनाने के व्यवसाय से भी अपनी जीविका चलाते हैं । कुछ जंगलों में से गोंद, मोम और मधु इकट्ठा करके बेचते हैं । लकड़ी और लट्ठे काटने का काम करनेवाले भी बहुत-से भील जाति के ही लोग हैं । भील-सेना में रहकर स्थानीय पुलिस का कार्य भी ये लोग करते हैं । बहुत-सी राजपूत रियासतों में राज्याभिषेक के अवसर पर किसी भील द्वारा ही उसके हाथ या पैर का अँगूठा चीरकर उसके रक्त से राजा के माथे पर तिलक लगाने का रिवाज़ पाया जाता है । राजपूतों का कहना है कि भीलों की मित्रता की स्मृति में यह रस्म मनाई जाती है ।

भीलों का क़द नाटा, रंग साँवला, केश लम्बे घुँघराले, चेहरा चौड़ा, नथुने बड़े, नाक चिपटी और बड़ी, और आँखें सजीव होती हैं । उनकी फुर्ती और चपलता, तीखी दृष्टि, साहसी स्वभाव, गठा हुआ बदन और भावमयी आकृति देखकर सैकड़ों में उन्हें पहचाना जा सकता है । कठोर से कठोर श्रम सहने की उनमें विचित्र शक्ति पाई जाती है । गोंडों की भाँति वे दीर्घजीवी नहीं होते । साठ वर्ष की अवस्था में भी गोंड हट्टा-कट्टा दिखाई देता है, परन्तु भील की शारीरिक शक्ति का उस उम्र तक ह्रास होने लगता है । फिर भी गोंडों की अपेक्षा भील अधिक मज़बूत और फ़ुर्तीले होते हैं । शरीर से वे हृष्टपुष्ट नहीं होते, परन्तु परिश्रम करने में गोंड उनका मुक़ाबला नहीं कर पाते । चुपचाप खाली बैठना या लगातार एक ही काम में लगे रहना उनके स्वभाव के विपरीत होता है । उनकी चंचल प्रकृति उन्हें स्थिर बैठने नहीं देती । मैदानों में रहने-वाले भील नीची जाति के हिन्दुओं-जैसे दिखाई देते हैं और उनको पहचानना कठिन होता है । भील जन्म से ही वनवासी होता है । पहाड़ों और जंगलों के निकटतम मार्ग वह अच्छी तरह पहचानता है । दुर्गम रास्तों पर वह उछलता-कूदता चला जाता है । पथरीली, नोकदार, सीधी खड़ी हुई पर्वत की चोटियों पर बंदरों की भाँति बिना फिसले वह सुगमता से बात-की-बात में चढ़ जाता है । यदि कोई उसका विश्वास करता है तो भील उसे धोखा नहीं देता । वह वीर, साहसी और स्वामिभक्त होता है । इतिहास में भीलों की स्वामिभक्ति के अनेकों उदाहरण मिलते हैं । अनेक अवसरों पर, विशेष-तया आपत्तिकाल में, उन्होंने अपने नाममात्र के राजपूत राजाओं की सेवा करने में लिए अपने प्राणों को भी तुच्छ समझा है । भील स्वभाव से मनमौजी और प्रसन्नचित्त रहनेवाले लोग होते हैं । पहाड़ों के निवासी भील प्रायः

गुजरात के भीलों का एक समूह

एक लँगोटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं पहनते और उनकी स्त्रियाँ एक मोटा कपड़ा कमर में लपेटे रहती हैं। गाँवों और नगरों के रहनेवाले पगड़ी, मिर्ज़ई, धोती, कोट सब कुछ पहनने लगे हैं और उनकी स्त्रियाँ धोतियाँ पहनती हैं। घाटियों और तराइयों के निवासी भील अपनी मोटे कपड़े की लँगोटी में एक छुरी खोंसे रहते हैं। इनमें कुछ लोग एक कपड़े का छोटा टुकड़ा पगड़ी की जगह सिर पर भी लपेट लेते हैं। पहले पुरुष अपनी दाढ़ी और सिर के बाल बढ़ाये रहते थे, जिससे उनकी आकृति बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। पर आजकल वे दाढ़ी बनाने, बाल कटाने और थोड़ी मूछें भी रखाने लगे हैं। उनका मुख्य शस्त्र धनुष-बाण है, जिसे वे "कामटा" कहते हैं। आदि काल से वे इसका व्यवहार करते आए हैं। यह धनुष बाँस का बनाया जाता है और उस पर प्रायः बाँस की छाल या चमड़े की पतली डोरी चढ़ाई जाती है। भील लोग तर्जनी और मध्यमा उँगलियों के बीच में पकड़कर डोरी के साथ बाण को खींचते हैं और तब उसे चलाते हैं। युद्ध और शिकार दोनों ही के अवसर पर वे धनुष-बाण से काम लेते हैं। इनके बाण प्रायः नरकुल या बाँस के टुकड़ों में लोहे के तीखे फल बाँधकर बनाये जाते हैं। भीलों का निशाना कभी चूकता नहीं और वे भागते हुए शिकार को एक ही बाण से गिरा देने में विशेष कुशल होते हैं।

भीलों की अनेक शाखाएँ हैं, जिनमें नहाल, निरछी, खोतील, दाँगची, तुरवी, मटवारी, बुर्दा, दोर्पा, मोची, पर्वी, उल्वी, उसॉव, उराला और पांवेरा मुख्य हैं। अहमदाबाद और रेवाकाँठा के पास भीलों की बरिया, करीट, पागी, कोतवाल और नैकारा जातियाँ भी पाई जाती हैं। इन सब जातियों में परस्पर वर्ण, आकृति, धार्मिक संस्कार, भाषा और सामाजिक आचार-व्यवहार की बड़ी भिन्नता पाई जाती है। कुछ जातियाँ हिन्दू-धर्म से प्रभावित होकर हिन्दुओं की भाँति ही रहने लगी हैं। कुछ इने-गिने भील मुसलमान भी हो गए हैं। कुछ जातियों का रक्त शुद्ध है तो कुछ का मिश्रित। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो अपने प्राचीन धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को नहीं मानतीं। सच पूछा जाय तो उनके दो मुख्य भेद हैं—एक तो वे जो जंगलों और पहाड़ों में आदिम अवस्था में रहते हैं और दूसरे वे जो सुधारप्रिय होने के कारण सभ्य हो गए हैं और मैदानों में आकर गाँवों और नगरों में बस गए हैं। उनमें शिक्षा का प्रचार बहुत कम हुआ है और इने-गिने भील ही ऐसे हैं जो पढ़-लिख सकते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो बीस के आगे गिनती गिनना भी नहीं जानते, फिर हिसाब-किताब की कौन कहे! परन्तु वे कुशाग्र-बुद्धि और समझदार होते हैं। सीखने पर वे प्रत्येक कार्य में कुशलता प्राप्त कर सकते हैं।

भीलों के घर बड़े क़ायदे के और आराम देनेवाले बनते हैं। बाँस के टट्टरों या बेजोड़ पत्थरों को इकट्ठा करके वे अपना आवासगृह बना लेते हैं, जो भीतर से खूब चौड़ा होता है। छत पर वे खपड़ैल या छप्पर डालते हैं। मकान बनाने के लिए भील लोग कोई ऊँचा टीला या पहाड़ी के ढाल पर स्थान चुनते हैं। प्रत्येक घर से मिले हुए दो-एक झोपड़े बनाए जाते हैं, जिनमें मवेशी रखे जाते हैं और अनाज एकत्र किया जाता है। ऐसे घर और झोपड़ों के चारों ओर अहाता बना रहता है। घर के भीतर एक चारपाई, अनाज रखने के बड़े-बड़े बर्त्तन, और बाँस का एक पालना रहता है। भील प्रायः नंगे पैर ही रहते हैं। उन्हें बालियाँ पहनने का बड़ा शौक़ होता है और कानों में बहुत-से छेद करके उन सबमें वे बालियाँ पहने रहते हैं। उनका सबसे प्रिय आभूषण एक बड़ी-सी बाली है, जो पूरे कान को ढक लेती है। धनी और सम्पन्न भीलों को आभूषण पहनने का बड़ा चाव होता है। वे कमर में चाँदी की करधनी पहने रहते हैं। जिनकी सामर्थ्य होती है, वे बन्दूकें और तलवारें भी रखते हैं, परन्तु तीर-कमान प्रायः प्रत्येक घर में पाया जाता है। स्त्रियाँ अपने हाथ-पैरों में काँच या लाख की चूड़ियाँ और कड़े पहनती हैं। हिन्दुओं की भाँति उनमें भी पीतल के कड़े और तोड़े पहनने का रिवाज है। टाँगों में वे चार-चार कड़े तक पहनती हैं। विवाहिता स्त्रियाँ अपनी टाँगों में अंग्रेज़ी के डब्ल्यू (W) अक्षर के आकार का एक गहना पहने रहती हैं। युवतियाँ काँच की गुरियों और पोत की रंग-बिरंगी मालाएँ गले में डाले रहती हैं। किशोरावस्था तक लड़के और लड़कियाँ प्रायः नग्न रहते हैं।

आपस के लड़ाई-झगड़ा तथा सामाजिक मामलों का फ़ैसला करने के लिए प्रत्येक गाँव में पंचायत रहती है और प्रायः प्रत्येक अपराध के बदले में जुर्माना लिया जाता

है। हत्या करने पर २४० रुपया देना पड़ता है और जब तक इस रक़म की भरपाई नहीं होती तब तक मृतक के सम्बन्धियों और हत्याकारी में ख़ून का झगड़ा चलता रहता है। विश्वासघात करनेवाले को लोग लूट लेते हैं और उसे गाँव से निकाल देते हैं। पंचायत द्वारा निश्चित की हुई जुर्माने की पूरी रक़म देने के बाद ही वह व्यक्ति गाँव में पुनः बसने पाता है।

भील लोग प्रायः खेती-पाती और पशुपालन द्वारा ही अपनी जीविका चलाते हैं। प्रत्येक गृहस्थ अपने घर में कई पशु पालता है। ये लोग जंगलों से घास और लकड़ी काटकर बेचते हैं। बाँस की टोकरियाँ, चिकें, परदे, और सुन्दर पंखे बनाकर उनका व्यवसाय भी वे करते हैं। पिछले वर्षों में भीलों ने पर्याप्त उन्नति कर ली है और वे पहले-जैसे असभ्य और जंगली नहीं रह गए हैं। मक्का, बाजरा और ज्वार भीलों का मुख्य भोजन है। घर के पास ही थोड़ी-सी भूमि को गोड़कर उसमें वे इन चीज़ों के बीज छितरा देते हैं। खेतों के बाहर काँटेदार झाड़ियों की बाढ़ लगा दी जाती है या मिट्टी की ऊँची दीवारें खड़ी कर देते हैं, जिसमें पशु फ़सल को हानि न पहुँचाएँ। भील लोग कुएँ के पानी से खेतों की सिंचाई भी करने लगे हैं और धान तैयार करते हैं। इसके लिए तंग पहाड़ी घाटियों में पत्थरों की बेजोड़ दीवारें खड़ी करके क्यारियाँ बना दी जाती हैं और उनमें खेती की जाती है।

एक भील युवक

शुद्ध रक्त के भीलों की कुल संख्या १० लाख से कुछ अधिक है और लगभग बीस हज़ार भील ऐसे हैं जो मिश्रित रक्त के पाए जाते हैं।

भीलों में बच्चे के पैदा होते ही उसका नामकरण-संस्कार होता है और प्रायः उसका नाम जन्मदिन और समय से सम्बन्धित रखा जाता है। यदि उस समय कोई ब्राह्मण नहीं मिलता तो बच्चे की चची इस रस्म को पूरा करती है। ऐसी दशा में बच्चे का नाम उस वार-विशेष के नाम पर रखा जाता है, जिस दिन उसने जन्म लिया हो। तदनंतर माता-पिता की ओर से एक भोज दिया जाता है और नाते-रिश्ते की स्त्रियों को वस्त्र भेंट किए जाते हैं। यह समारोह जन्मदिन के बाद होली का जो त्योहार पड़ता है, उस दिन मनाया जाता है। जब वह २-३ महीने का हो जाता है, तब बालक का सिर मूँड़ा जाता है। विवाह-योग्य होने के पहले ही भील लोग अपनी लड़कियों की सगाई कर देते हैं। लड़के का पिता ही कन्या का चुनाव करता है और कन्या के माता-पिता से उसका मूल्य, जिसे "दापा" कहा जाता है, तय करता है। मूल्य तय हो जाने पर लड़की को एक तिपाई या चौकी पर बिठाकर एक रुपया, एक पैसा और थोड़ा चावल उसके हाथ पर रखते हैं, जिसे वह पीछे फेंक देती है और सगाई की रस्म पूरी हो जाती है। लड़की का विवाह रजस्वला होने के बाद होता है, किन्तु बहुत सयानी लड़कियाँ सगाई होने के बाद शीघ्र ही ब्याही जाती हैं। विवाह का कृत्य कोई ब्राह्मण कराता है, परन्तु कभी-कभी लड़की के परिवार का बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति ही पुरोहित का कार्य करता है। जब सब आमन्त्रित व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं, तब वर-कन्या के वस्त्रों की गाँठ जोड़ देते हैं। इसके बाद अपने जातीय संत गौतमजी को, जिनकी मूर्त्ति घर के किसी ताक में स्थापित रहती है, पूजा चढ़ाई जाती है। फिर वर-कन्या उपस्थित व्यक्तियों के चारों ओर घूमकर फेरे डालते हैं। इसके बाद कन्या के सगे-सम्बन्धी उसे अपने कन्धे पर चढ़ाकर बारी-बारी से तब तक नाचते हैं जब तक कि वे थकते नहीं। बस, विवाह की रस्म पूरी हो जाती

है। भीलों में अनेक पत्नियाँ रखने की स्वतंत्रता है, परन्तु साधारणतया लोग दो से अधिक विवाह नहीं करते। बड़े भाई के मर जाने पर छोटा भाई अपनी भावज या भावजों को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है, जिसके लिए विवाह की रस्म आवश्यक नहीं समझी जाती। छोटे भाई की मृत्यु हो जाने पर बड़ा भाई अनुज-वधू से विवाह नहीं कर सकता। यदि स्वर्गीय पति का कोई छोटा भाई न हो या विधवा की अपनी कोई सम्पत्ति न हो, तो वह अपने पीहर चली जाती है अथवा स्वर्गीय पति की बिरादरी का कोई प्रमुख व्यक्ति उसे तब तक अपने घर में आश्रय देता है, जब तक कि वह किसी अन्य गोत्र के व्यक्ति को पति के रूप में स्वीकार नहीं कर लेती। विवाह के बाद स्त्रियाँ परपुरुष के सम्पर्क में आते समय सावधान रहती हैं, किन्तु विवाह से पहले साधारणतया वे इस सावधानी की आवश्यकता नहीं समझतीं। पराई स्त्री से व्यभिचार करनेवाले को पंचायत के नियमानुसार स्त्री के पति को २४० रुपया बतौर हर्जाने के देना पड़ता है। इसके बाद पति चाहे तो स्त्री को घर में रखे या निकाल दे। कुँवारी लड़की को भगानेवाले पर ६० रुपया जुर्माना किया जाता है। यह रक़म लड़की के पिता को मिल जाती है और भगानेवाले व्यक्ति को उस लड़की से विवाह करने को मजबूर किया जाता है। इस प्रकार के अपराधों का फ़ैसला गाँव की पंचायत करती है।

भील लोग शिव-पार्वती को पूजते हैं। पत्थर के चबूतरे बनाकर उन पर कुछ गोलमटोल पत्थरों के टुकड़े रखकर सिन्दूर चढ़ाया जाता है और उन्हें भी विविध नामों से पूजा जाता है। पशुओं की बलि दी जाती है तथा मिट्टी के छोटे-छोटे घोड़े बनाकर देवताओं को अर्पण किये जाते हैं। विविध मानता माननेवाले उन पत्थरों के ऊपर वस्त्र चढ़ाते हैं और चबूतरे के ऊपर देवताओं के नाम से दीपक जलाकर रखते हैं। हनुमान, भैरों और देवी भी सर्वत्र पूजे जाते हैं। ये लोग अनेक स्थानीय देवताओं को भी पूजते हैं। लोगों का कहना है कि किसी ज़माने में भील लोग अपने देवताओं को प्रसन्न करने के हेतु नरबलि भी दिया करते थे, परन्तु आजकल इस प्रथा का कोई संकेत नहीं मिलता। देवी के आगे भील लोग बकरे का बलिदान करते हैं और उसके बाद उस बकरे का मांस प्रसाद-रूप में ग्रहण किया जाता है। भीलों के पुरोहित लोग "जोगी" कहलाते हैं और वे जाति के भील ही होते हैं। वे भीलों के साथ खाते-पीते हैं। इन को भूत-प्रेत और मृतात्माओं में कट्टर विश्वास रहता है, जिनसे बचने के लिए वे अपनी दाहिनी भुजाओं पर अनेक गंडे-तावीज़ बाँधे रहते हैं। जादू-टोने में भी इनका पूर्ण विश्वास रहता है। प्रत्येक बड़े "पाल" या बस्ती में, जादूगरनियों को पकड़नेवाले "भोपे" या ओझे होते हैं। जिस स्त्री के जादूगरनी होने का सन्देह होता है उसे बाँधकर टाँग देते हैं। टाँगने के पहले जलते हुए तेल में उसका हाथ रखा जाता है या पानी में उसका सिर तब तक डुबो कर रखते हैं जब तक कोई उपस्थित व्यक्ति धनुष से फेंका हुआ तीर लेकर वापस न लौट आए। यदि वह स्त्री इतनी यातना सहने के बाद सही-सलामत बच जाती है तो उसे छोड़ देते हैं अन्यथा उसे बाँधकर टाँग देते हैं। टाँगने के समय उसकी आँखों पर लाल काग़ज़ की एक पट्टी चढ़ा देते हैं और पैरों में रस्सी बाँधकर किसी पेड़ की डाल से तब तक उसे लटकाते हैं, जब तक वह अपना जादूगरनी होना स्वीकार नहीं कर लेती या प्राण नहीं छोड़ देती। यदि वह स्वीकार कर लेती है तो उसे नीचे उतारकर या तो बस्ती से बाहर निकाल देते या तीरों से मार डालते हैं।

भील लोग मृतात्माओं और विशेषतया दुष्टात्माओं का आवागमन मानते हैं और उनकी धारणा है कि मृतक की आत्मा अपने जीवन-काल की परिचित जगहों में निवास करती है। चन्द्र या सूर्यग्रहण तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं का कारण वे देवताओं का मनोविनोद समझते हैं। ग्रहण पड़ने पर वे ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर देवताओं की प्रार्थना करते हैं। किसी विशेष काम से बाहर जाते हुए यदि बिल्ली रास्ता काट जाय तो भील तुरन्त वापस लौट आते हैं। होली, दिवाली और विजयादशमी का त्यौहार वे बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। होली के अवसर पर वे विशेष रूप से शराब पीकर नाचते-गाते और तरह-तरह के स्वाँग बनाते हैं और १० दिन तक बराबर त्यौहार मनाते हैं। सभी त्योहारों के अवसर पर भील पुरुष गोलाकार घेरा बनाकर एक विशेष नाच नाचते हैं। बीच में ढोल बजानेवाले बैठते हैं और उनके चारों ओर घूम-घूमकर लोग नाचते हैं। हाथों में वे लकड़ी के छोटे-छोटे डंडे लिये रहते हैं और उनको बारी-बारी से एक दूसरे से

लड़ाते हैं। ढोल के तालस्वर का साथ देते हुए ही डंडे बजते हैं और लोग अपने पैर पटकते हैं। ज्यों-ज्यों ढोल का शब्द ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों नाचनेवाले उत्तेजित होकर जंगलियों की भाँति ज़ोरों से उछल-कूद मचाते हैं। उनके लम्बे-लम्बे केश बिखरकर हवा में उड़ने लगते हैं। बीच-बीच में कोई व्यक्ति घेरे से निकलकर अलग ही बीच में आकर अपने नृत्यकौशल का प्रदर्शन करने लगता है।

भील लोगों में मुर्दों को जलाने का रिवाज है। हाँ, यदि बस्ती में चेचक के प्रकोप से पहली मृत्यु हुई हो तो "माता" की शान्ति के लिए मुर्दे को कुछ दिनों के लिए धरती में गाड़ देते हैं। थोड़े समय तक यदि अन्य किसी की मृत्यु नहीं होती तो उस मुर्दे को खोदकर उसका पुनः दाह-संस्कार कर देते हैं। मृतक का शव प्रायः किसी नदी के किनारे ही जलाते हैं और अस्थियाँ—एक दो छोड़कर—जल में बहा दी जाती हैं। दो-तीन दिन बाद एक मिट्टी के घड़े में चावल भरकर उसी स्थान पर रख दिया जाता है। यदि दाह-संस्कार नदी से बहुत दूर जगह पर होता है, तो अस्थियों को एकत्र करके चावल का पात्र उनके ऊपर रख देते हैं। राख में से अस्थियाँ बीन ली जाती हैं और उनको ले जाकर महीकाँठा प्रदेश में "समला-जी", बाँसवाड़ा में "गौत-मजी" या डूँगरपुर में बाणे-श्वर के मन्दिर के समीप मही नदी में प्रवाहित कर देते हैं। मही आदि नदियाँ इनमें बड़ी पवित्र मानी जाती हैं और भील लोगों में इन नदियों का वैसा ही धार्मिक माहात्म्य है, जैसा हिन्दुओं में गंगा जी का है। भीलों की धारणा है कि जब तक मृतक की एक-दो अस्थियाँ इनमें बहाई नहीं जातीं, तब तक उसकी आत्मा पृथ्वी पर भट-कती रहती है और अपने सगे-सम्बन्धियों को त्रास देती रहती है। मृत्यु के कुछ दिनों बाद मृतक के परिवारवालों और सम्बन्धियों में से कोई व्यक्ति इस बात की घोषणा करता है कि उसे अमुक दिन स्वप्न में ज्ञात हुआ है कि मृतक की आत्मा अमुक पहाड़ी पर रहती है। तुरन्त ही सब लोग उसी स्थान पर जाकर एक चबूतरा बनवाते हैं और वहाँ चावल तथा शराब चढ़ाते हैं। अन्त्येष्टि-क्रिया के १०-२० दिन बाद मृतक के इष्ट-मित्र उसके घर पर एकत्र होकर मातमपुर्सी करते हैं और परिवारवालों के लिए आवश्यक होता है कि इस अवसर पर उन्हें खूब शराब पिलाएँ। तब भोजन बनाने की व्यवस्था की जाती है और वे एक दूसरे की हजा-मत बनाते व सिर मूँडते हैं। भोजन तैयार होने पर ढाक के पत्तों पर मेहमानों के आगे परोसा जाता है और खा-पीकर सब अपने-अपने घर चले जाते हैं।

एक भील शिकारी अपना धनुष संधान रहा है! कहने की आवश्यकता नहीं कि ये लोग अद्वितीय तीरंदाज़ होते हैं।

मेवाड़ के भील इलाके में भीलों पर सामुहिक रूप से उक्त प्रदेश में से होकर निकलनेवाले यात्रियों के जानमाल की रक्षा का भार सिपुर्द है, जिसके बदले में वे यात्रियों से हर चौकी पर एक प्रकार का कर वसूल करते हैं!

कोरवा

विन्ध्य-प्रदेश के धनुर्धारी

भारतवर्ष के आदिम निवासी द्रविड़ों की एक जाति, जिसके वंशज संयुक्त प्रान्त के मिर्ज़ापुर ज़िले, सोन नदी के दक्षिणी प्रदेश, तथा सरगुजा रियासत की सीमा के आसपास पाए जाते हैं, 'कोरवा' के नाम से प्रसिद्ध है। कोरवा जाति के लोगों का स्वयं कहना है कि वे सरगुजा रियासत से आकर दो-तीन पीढ़ियों से मिर्ज़ापुर ज़िले में बस गए हैं। उनके इस कथन में काफ़ी सचाई है कि वे सरगुज़ा, जशपुर और पालामऊ में रहने वाली किसी प्राचीन जाति के वंशज हैं, क्योंकि उन स्थानों में अब भी जब-कभी लोग भूत-प्रेतों के उत्पात से पीड़ित होते हैं तो वहाँ कोरवा जाति के ही स्याने और ओझे झाड़-फूँक के लिए बुलाए जाते हैं। कोरवा जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती सुनी जाती है। पुराने ज़माने में सरगुजा रियासत के किसान लोग अपनी फ़सल को जानवरों से बचाने के लिए बाँस और घाँस-फूस के पुतलों को कपड़े पहनाकर खेतों में खड़ा कर देते थे। किसानों के इष्टदेव ने उनको बार-बार ऐसे पुतले बनाने के कष्ट से बचाने के हेतु उन घास-फूस के पुतलों में जान डाल दी और उनका रूप बड़ा भयानक बना दिया, जिसमें जंगली जानवर उनको देखकर ही दूर भाग जाया करें। उन्हीं जीवधारी पुतलों का नाम कालान्तर में 'कोरवा' पड़ गया। मिर्ज़ापुर ज़िले में कोरवा जाति के जो मूल वंशज रहते हैं, उनमें यद्यपि इस किम्वदन्ती का प्रचार नहीं मिलता, परन्तु मध्यभारत के रहनेवाले कोरवा इसे मानते हैं। महादेव पर्वत-श्रेणियों तथा पश्चिम की ओर ताप्ती और नर्मदा नदी के किनारेवाले जंगलों से लेकर भीलों की आवासभूमि तक बसी हुई कोल जाति से, जिसे "कूर" भी कहा जाता है, कोरवा लोगों का कुछ सम्बन्ध अवश्य ज्ञात होता है। कूर और कोरवा दोनों, जहाँ तक नाम तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध है, परस्पर समकक्ष जान पड़ते हैं। महादेव पहाड़ियों में रहनेवाले लोग, जो हिन्दुओं के सम्पर्क में अधिक आ चुके हैं, अपने को "मुआँसी" या "कूर" कहते हैं, परन्तु इस नाम की उत्पत्ति के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। छोटा नागपुर के निवासी कोल या कूर महादेव पहाड़ियों को ही अपनी जन्मभूमि बतलाते हैं। इस प्रकार 'कोरवा' शब्द 'कोल' शब्द का ही अपभ्रंश ज्ञात होता है। कोरवा लोगों की अनेक उपजातियों में से अगरिया कोरवा, डंड कोरवा, दीह कोरवा, बंगाल के पहाड़िया कोरवा, बिरहोर कोरवा तथा किसन कोरवा आदि का मिर्ज़ापुर ज़िले में कुछ भी पता नहीं चलता। मिर्ज़ापुर के कोरवा लोगों में केवल दो उपजातियाँ मानी जाती हैं—एक तो कोरवा, दूसरी कोराकू। पहली उपजाति दूधी परगने में, सरगुजा के पठारों के उत्तरी मैदानों में, तथा आसपास के इलाक़ों में बसी हुई है और कोराकू लोग मुख्यतः सरगुजा की पहाड़ियों में निवास करते हैं। कोरवा लोगों ने धनुष-बाण का व्यवहार छोड़ दिया है, परन्तु कोराकू अभी तक उनको धारण करते हैं। मिर्ज़ापुर के कोरवा आपस में बातें करते समय अपनी जाति के पुरुषों को कोराकू तथा स्त्रियों को कोरिकू कहते हैं।

मिर्ज़ापुर का कोरवा क़द में नाटा, गेहुँआ रँग का, गठीले शरीर वाला, फ़ुर्तीला, हृष्टपुष्ट और बली दिखाई देता है, परन्तु उसकी टाँगें अधिक लम्बी नहीं होतीं। कोरवा पुरुषों के क़द का औसत ५ फ़ीट ३ इंच तथा स्त्रियों का ४ फ़ीट ९ इंच होता है। उनका चौड़ा चेहरा, चिपटा माथा, तथा सुडौल नाक, मुँह और ठुड्ढी उनकी विशेष जातीय पहिचान है। द्रविड़ों की गोंड, भील, उड़िया तथा अन्य जातियों की अपेक्षा कोरवा लोगों की आकृति अधिक सुन्दर होती है। पहले उनमें पुरुष दाढ़ियाँ और केश बढ़ाए रहते थे। वे न उनको कभी काढ़ते थे और न कटाते थे। शृंगार करने में वे केशों का ध्यान ही नहीं रखते थे। स्वाभाविक अवस्था में केशों को बढ़ने देना ही वे अच्छा समझते थे। वे पशुओं की तरह जंगली जीवन व्यतीत करते थे। उनके सिर पर गुँथे तथा उलझे हुए केशों की जटाएँ कन्धों तक लटकती रहती थीं। स्त्रियाँ कठोर परिश्रम के भार

से दबी हुई बड़ी दीन दिखाई देती थीं। वे शरीर से जीर्ण, काली-कलूटी और भद्दी तो थीं ही, साथ ही चीथड़ों से तन लपेटे वे बड़ा गन्दा जीवन व्यतीत करती थीं। उनके केश उलझे हुए रहते थे। पुरुष अपने सिर के बालों को समेटकर पीछे की ओर जूड़ा बाँधते, जिसमें वे अपने तीर खोंसे रहते थे। कोरवा लोगों की यह दीन दशा अब धीरे-धीरे सुधरती जा रही है और वे सभ्यता की ओर पैर बढ़ा रहे हैं, परन्तु अभी भी जंगलों और पहाड़ियों में रहनेवालों की रहनसहन वैसी ही बनी हुई है जैसी पहले थी। अधिकांश में वे वैसे ही जंगली हैं और अपनी प्राचीनता को छोड़ना नहीं चाहते।

कोरवा लोगों में एक प्रकार की जातीय संस्था या पंचायत पाई जाती है, जिसे "भैय्यारी" कहते हैं। यद्यपि अधिकांश में ये लोग अनियमित और अराजकता का जीवन व्यतीत करनेवाले होते हैं, परन्तु आवश्यकता होने पर वे अपनी इस पंचायत या "भैय्यारी" का आह्वान भी करते हैं। भैय्यारी का एक सभापति या प्रधान होता है, जिसका पद पैतृक माना जाता है। प्रत्येक वयस्क पुरुष को भैय्यारी में शामिल होने का अधिकार होता है। यह संस्था प्रायः आपस के झगड़ों का निपटारा करती है, धन-सम्पत्ति और बटवारे के अभियोग सुनती है और व्यभिचार, अपहरण, व्यक्तिगत अत्याचार, मारपीट, हत्या आदि के अपराधियों के लिए दण्ड-विधान करती है। इसमें केवल जातिवालों की ही साक्षी मानी जाती है और किसी को भी शपथ नहीं लेना पड़ती। अपराध का दण्ड साधारणतया यही होता है कि अपराधी बिरादरीवालों तथा सगे-सम्बन्धियों को विराट् भोज दे। यदि कोई व्यक्ति भैय्यारी के इस निर्णय को नहीं मानता तो उसे तब तक के लिए जातिच्युत् कर देते हैं तब तक कि वह भोज न दे।

मिर्ज़ापुर के कोरवा लोगों में मामा और फूफा के कुटुम्बों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। एक ही गोत्र के लोगों में भी विवाह नहीं होता। प्रायः पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करते हैं—उनमें बहुपति या बहु-पत्नी प्रथा नहीं पाई जाती और न वे रखेलियाँ ही रखते हैं। लड़कों का १२ वर्ष की अवस्था में और लड़कियों का प्रायः १० वर्ष की उम्र में विवाह होता है। प्रायः वर का बहनोई ही विवाह पक्का करता है, परन्तु विवाह के मामले में वर से भी परामर्श किया जाता है। कभी-कभी लड़के-लड़की भाग जाते हैं और स्वयं ही अपना विवाह कर लेते हैं। वधू का चुनाव करने में उसकी सुन्दरता की अपेक्षा उसके परिश्रमी होने का अधिक ध्यान रखा जाता है! कन्या का मूल्य साधारणतया पाँच रुपए और एक-दो मन चावल दिया जाता है। सगाई होने के बाद, कन्या की कुरूपता या उसके शारीरिक दोष अथवा वर की नपुंसकता, पागलपन, मूर्खता, या अंग-भंग संबंधी दोष विवाह-सम्बन्ध तोड़ने के लिए पर्याप्त कारण नहीं समझे जाते। विवाह के बाद यदि स्त्री-पुरुष दोनों में से कोई किसी डोम, चमार या अछूत जाति के व्यक्ति के हाथ से भोजन ग्रहण कर ले, या ऐसे व्यक्ति से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर ले तो तलाक़ हो सकता है। इनके तलाक़ का ढँग भी बिल्कुल सीधा-सादा है। इसके लिए "भैय्यारी" के सामने अपराध और अपराधी का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त समझा जाता है। यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे-पीटे, उसके साथ दुर्व्यवहार करे या उसे घृणा की दृष्टि से देखे तो स्त्री को अधिकार होता है कि वह "भैय्यारी" के समक्ष पति पर आरोप लगाए। ऐसी अवस्था में पति को दण्ड दिए जाने का विधान है। तलाक़ दी हुई स्त्री पुनर्विवाह नहीं कर सकती।

एक कोरवा युवक

सगाई के ढँग पर ही विधवाओं का भी पुनर्विवाह होता है। प्रायः विधुर पुरुष ही विधवाओं से विवाह करते हैं। विरले ही कुँवारे युवक विधवाओं को पत्नी बनाते हैं।

विवाहेच्छुक व्यक्ति विधवा के सम्बन्धियों को बीस आने देकर उसे घर ले जाता है। छोटा भाई अपनी विधवा भावज से विवाह कर सकता है और यदि वह अपने इस अधिकार का उपयोग करे तो वह विधवा किसी अन्य पुरुष से विवाह नहीं कर सकती। यदि उस विधवा की गोद में दूध-पीता शिशु हो तो वह उसको अपने साथ ही नए पति के घर ले जाती है। उसके अन्य बच्चे, जो सयाने होते हैं, अपने चचा लोगों के पास रहते हैं। जिन परिवारों में लड़के-लड़कियों का सम्बन्ध हो जाता है, वे परिवार निकट के संबंधी समझे जाते हैं। कोरवा लोगों में पिता को "आपा", बाबा या नाना को "तातँग", परबाबा और परनाना को "दादों", पुत्र को "होपन", पौत्र को "कुरीन", प्रपौत्र को "बहोतू", बहन को "आया", पत्नी को 'बाबू-काईदुँगा", बड़े भाई की स्त्री को "भावो", माता के भाई को "मामा" और पतोहू को "बाई" कहा जाता है।

कहीं-कहीं वर का पिता ही लड़की को देखने जाता है। जब वह लड़की को पसंद कर लेता है, तब लड़के का मामा कन्या-पक्ष से सम्बन्ध की बातचीत चलाता है। यदि कन्या का पिता सहमत हो जाता है और प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है तो वह प्रस्तावक को अपने यहाँ खिलाता-पिलाता है। विवाह के दिन अपने कुछ सम्बन्धियों के साथ वर कन्या के घर जाता है। बारात चल पड़ने के बाद दोनों पक्षों में से कोई भी विवाह-सम्बन्ध में आपत्ति नहीं कर सकता। जो पक्ष आपत्ति करता है, उसे "भैय्यारी" की आज्ञानुसार सम्बन्ध करने को मजबूर किया जाता है। विवाह होते समय कन्यापक्ष का कोई बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति कन्या से कहता है—"हमने तुम्हें अमुक व्यक्ति के अमुक पुत्र के हाथ सौंप दिया है। वह तुमसे चाहे जैसा दुर्व्यवहार करे, तुम्हें चाहे जितना कष्ट सहन करना पड़े, तुम किसी भी दशा में पति का साथ न छोड़ना। अपने कुटुम्ब की बदनामी न कराना। किसी अन्य जाति के पुरुष से अनुचित सम्बन्ध करके अपने वंश को कलंक न लगाना।" इस उपदेश के बाद वर कन्या की माँग में सिंदूर लगाता है, जो विवाह का एक अनिवार्य कृत्य समझा जाता है। इसके बाद सबंधियों और जाति-बिरादरीवालों को बकरे का माँस और चावल भोज में खिलाया जाता है। अगले दिन वधू को विदा कराकर वर अपने घर लाता है और अपनी बिरादरीवालों को भोज देता है। कोरवा लोगों में विवाह-सम्बन्ध तय करानेवाले पेशेवर दलाल या बिचवानी लोग नहीं होते, सहबोला और सहबोलियाँ भी नहीं होतीं और न वर-कन्या का गँठबन्धन ही होता है, जैसा कि छोटा नागपुर की आदिम जातियों में रिवाज है। विवाह के बाद घर आई हुई वधू को पति के परिवार की ओर से जंगल का थोड़ा-सा भाग पृथक् दे दिया जाता है, जहाँ से वह कन्दमूल तथा फल ले आती रहे। उसकी अधिकृत भूमि पर कोई दूसरा नहीं जा सकता और गाँव की पंचायत या "भय्यारी" इस विषय में बड़ा ध्यान रखती है।

कोरवा जाति में अभी तक मृतक को गाड़ने और दाह करने की प्रथाओं का पूर्ण निश्चय नहीं हो सका है। कुछ परिवारवाले अपने मुर्दों को गाड़ते हैं, दूसरे दाह करते हैं। जो लोग मुर्दों को गाड़ते हैं, उनकी अपनी पारिवारिक श्मशान-भूमि होती है। जो दाह करते हैं, वे मुर्दों को गाँव के बाहर उत्तर-पश्चिम दिशा में ले जाते हैं। मरणासन्न व्यक्ति को उसके परिवारवाले उठाकर खुले मैदान में ले जाकर रखते हैं। मुर्दे को पीठ के बल लिटाकर उसके पैर दक्षिण की ओर कर दिए जाते हैं। मृतक का पुत्र, भाई या आत्मीय स्वजन, शव को चिता पर रखकर उसमें आग लगा देता है। जब चिता दहक उठती है, तब लोग स्नान करके अपने घर लौट आते हैं। अगले दिन दाह-संस्कार करनेवाला व्यक्ति शव की राख बटोरकर घर ले जाता है। तब गाँव भर में अन्त्येष्टि क्रिया की रस्म, जिसे "खोइया" या "खौर" कहते हैं, मनाने का दिन नियत होने की सूचना भेजी जाती है। सारी बिरादरीवाले इकट्ठा होते हैं और अस्तुरे से बाल बनवाते हैं। इसके लिए नाई नहीं बुलाया जाता, बल्कि जातिवाले आपस में ही एक दूसरे को मूँड़ते हैं। मृतक को दफ़नाते या दाह करते समय मृतक के सारे कपड़े-लत्ते और कुल्हाड़ी तथा आभूषण आदि शव के साथ ही रख देते हैं। परलोक में वे मृतक की सम्पत्ति बने रहते हैं, ऐसी लोगों की धारणा है।

कोरवा लोगों को स्वर्ग या नरक का कुछ भी ज्ञान नहीं है। वे इतना ही जानते हैं कि मृत व्यक्ति की आत्मा परलोक में जाकर परमेश्वर से मिल जाती है तथा पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों की आत्माएँ भी इसी प्रकार परमेश्वर को प्राप्त होती हैं। कोरवा लोग अपने को हिन्दू

नहीं कहते और ब्राह्मणों से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। फ़रवरी के महीने में वे अपने जातीय देवता "राजा चन्दोल" को मुर्ग़े की बलि देते हैं तथा सिन्दूर और फूल चढ़ाते हैं। कोरवा जाति में "बैगा" लोगों का एक सम्प्रदाय होता है, जिसके सदस्य पूजा तथा बलि चढ़ाने का कार्य्य करते हैं। देवता की पूजा तथा बलि चढ़ाने के लिए प्रायः कोई 'बैगा' ही बुलाया जाता है। कोरवा लोग भूत-प्रेतों से बहुत डरते हैं और उनको गाँव से बाहर निकालने के लिए बैगा ही की वे शरण लेते हैं। पास-पड़ोस की अन्य जातियों के गाँवों से आई हुई प्रेतात्माएँ विशेष उपद्रवी समझी जाती हैं। प्रति वर्ष किसी विशेष दिन बैगा बहुत-सी शराब लेकर उसे धरती पर गिराता हुआ पूरे गाँव के चारों ओर चक्कर लगाता है, जिससे शराब की एक लकीर-सी गाँव के इर्द-गिर्द बन जाती है। भूत-प्रेत उस लकीर को लाँघकर गाँव के भीतर प्रवेश नहीं कर पाते। जब किसी पुरुष पर भूत का आवेश होता है तब उसे मूर्च्छा आ जाती है या उसके अंग चेष्टारहित हो जाते हैं। भूत को हटाने के लिए ओझा बुलाया जाता है। किसी युवती स्त्री पर भूत का आवेश होने पर बैगा उसे गाँव के मन्दिर में ले जाकर लोहे की बनी हुई जादू की ज़ंजीर से ख़ूब पीटता है। उस ज़ंजीर को "गुर्दा" कहते हैं। महामारी का प्रकोप होने पर कोरवा लोग पितरों की पूजा करते हैं और अपने स्वर्गीय माता-पिता के नाम पर बकरे की बलि देते हैं। इसके अतिरिक्त वे पितरों को कभी नहीं पूजते। पितरों के नाम का भोजन धरती पर रख दिया जाता है। भोजन करते समय कोरवा लोग किसी भी देवता का स्मरण नहीं करते। वे स्थानीय देवताओं को ही मानते हैं, जिनको "दीह" कहा जाता है। गाँव के मन्दिर, जिनको "मानरॉर" कहा जाता है, तथा उसके पास के वृक्षों पर "दीह" देवताओं का आवास समझा जाता है। घर में प्रवेश करते या बाहर जाते समय कोरवा घर की देहली पर पाँव नहीं रखते। चेचक या हैज़ा का प्रकोप होने पर बैगा प्रतिदिन शकर और मक्खन से हवन करता है। कोरवा लोग बृहस्पतिवार और शुक्रवार को शुभदिन समझते हैं। साँप की फुफकार सुनाई देने पर वर्षाकाल निकट आया समझा जाता है। शहद की मक्खियों का भनभनाना ख़ूब वर्षा होने का चिह्न माना जाता है। मधुमक्खियाँ यदि छत्ते छोड़कर उड़ जाती हैं तो यह समझा जाता है कि अकाल की सम्भावना है।

धनुर्धारी कोरवा शिकारी—ये लोग अपने तीर अपने बालों की जटा में खोंसे रहते हैं।

कोरवा लोगों में माता की शपथ लेना बहुत बड़ी बात समझी जाती है और कोई पुरुष अपनी बहिन या छोटे भाई की स्त्री को स्पर्श नहीं करता। खेती के समय जब बीज बोने का अवसर आता है तब बैगा आकर शीरा और मक्खन खेत में चढ़ाता है और मन्दिर में भी यही वस्तुएँ चढ़ाने जाता है। इस कार्य्य के लिए उसे पारिश्रमिक

मिलता है। कोरवा लोग फाल्गुन से नया वर्ष मानते हैं और तभी वे बैगा को एक डलिया भर अनाज देते हैं, जिसे "खरवॉन" कहा जाता है।

साँप, बाघ, तेंदुआ, गीदड़, गिरगिट, कछुआ, छिपकिली तथा ऐसे ही अन्य कुछ जीवों का मांस कोरवा लोग नहीं खाते। पक्षियों में वे गीध, चील्ह, कौआ, या टिड्डियों को नहीं खाते। उनके द्वारा भालू, बन्दर, सुअर, बैल, भैंस, हिरन, और बकरे का मांस खाया जाता है। कन्दमूल वे "खाँते" से खोदकर निकालते हैं, जो एक प्रकार का लकड़ी के बेंट का लोहे के फलवाला बेलचा सरीखा शस्त्र होता है। इसे प्रत्येक कोरवा अपने साथ रखता है। वे जंगलों की पैदावार—बहेड़ा, लाख, रेशम के कीड़ों के छत्ते, रंग और बीज—देकर बदले में भोजन-सामग्री तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं। छोटे लोग बड़ों का अभिवादन करते हैं, जिसे "पैलगी" कहा जाता है। कोरवा लोगों में बहुत कम वस्त्र पहनने का चलन है। स्त्रियाँ अपनी भुजाओं पर पीतल के बाज़ूबन्द या कड़े पहनती हैं, जिन्हें "चुरला" कहा जाता है। पैरों के कड़े "पैरी" कहलाते हैं। ये लोग विशेषतया जंगलों के रहनेवाले हैं और उनमें इने-गिने व्यक्ति ही कृषि-कार्य करते हैं। ये अब भी लकड़ी या बाँस के दो टुकड़ों को आपस में रगड़कर आग बनाते हैं!

संथाल और हो

छोटा नागपुर पठार के मुण्डा-भाषाभाषी वर्ग के प्रतिनिधि

भारतवर्ष के बिहार प्रान्त से संलग्न छोटा नागपुर का पहाड़ी इलाक़ा मानव वैज्ञानिकों के लिए एक तरह का प्राकृतिक अजायबघर-सा है, जहाँ विविध आदिम जंगली जातियाँ अब भी अपनी प्राचीन संस्कृति और रहन-सहन को अक्षुण्ण बनाए हुए प्रकृति की गोद में जीवन-यापन कर रही हैं। ये आदिम जातियाँ यद्यपि अपने को एक-दूसरे से पृथक् मानती हैं और उनके रीति रिवाज़ आदि में भी काफ़ी अंतर पाया जाता है, फिर भी मानव-वैज्ञानिकों ने उन्हें मोटे तौर पर एक ही विशाल वर्ग के अन्तर्गत माना है, जो 'मुण्डा'-भाषाभाषी वर्ग कहलाता है। इस वर्ग के सदस्य यद्यपि भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोलते हैं, किन्तु वे एक ही समूह के मालूम देते हैं। भारत में इस मुण्डा-भाषा समूह के बोलनेवालों की कुल संख्या ६० लाख के लगभग है, और इसके प्रधान प्रतिनिधि के रूप में छोटा नागपुरी पठार तथा उसके पार्श्ववर्त्ती प्रदेश की निवासिनी मुण्डा, ओराँव, संथाल, हो, भूमिज, जुआँग आदि जातियाँ गिनाई जा सकती हैं। स्थानाभाव के कारण इन सभी जातियों का परिचय देने में हम असमर्थ हैं। केवल प्रतिनिधि-स्वरूप इनमें से दो—'संथाल' और 'हो'—का ही हाल पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. संथाल

कोल-जाति की एक शाखा, जिसके वंशज उत्तरी भारत के इलाक़ों से निकलकर बंगाल की पश्चिमी सीमा पर जंगलों में जा बसे थे, 'संथाल' के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण में महानदी के मुहाने से लेकर उत्तर में गंगा नदी तक के बीच का संकुचित भूभाग ही इन संथालों की आवासभूमि है। वे रेवा, पालामऊ, हज़ारीबाग़, छोटा नागपुर, मानभूमि और कटक तथा पश्चिमी बंगाल के सघन जंगलों में फिरते हुए पाए जाते हैं। राजमहल की पहाड़ियों की तरेटी का जो भाग विशेषतया उनकी क्रीड़ाभूमि बना हुआ है 'संथाल-परगना' कहलाता है। यह संथाल-उपनिवेशों में सबसे अधिक महत्व का स्थान है, यद्यपि यहाँ पर इन लोगों ने बाद में अपनी बस्तियाँ स्थापित की हैं। संथालों का पूर्व इतिहास अज्ञात होने के कारण केवल इतना ही पता चलता है कि उनको कोल-जाति से पृथक् हुए सौ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ और उनके उपनिवेश भी इतने ही पुराने समझना चाहिए। उनकी प्रगति अब उत्तरी बंगाल की ओर अधिक है। सारे भारतवर्ष में संथालों की आबादी तेईस लाख से अधिक नहीं है। उनकी बोली कोल तथा मुण्डा जातियों की बोली से मिलती-जुलती है।

संथाल जाति आरम्भ मे ही एक भ्रमणशील जाति रही है। उसे स्थायी रूप से घर बनाकर किसी जगह बस जाना अच्छा नहीं लगता। किन्तु घुमक्कड़ होने पर भी यह जाति एक प्रगतिशील जाति है। संथाल लोग समतल भूमि में खेती-पाती करते हैं और जंगलों व पहाड़ों में शिकार करके या स्थानीय जंगली पैदावार इकट्ठा करके पड़ोसी जातियों से खाद्य पदार्थ तथा अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ परिवर्त्तन में लेकर अपना गुज़र-बसर करते हैं। वे बड़े कुशल शिकारी होते हैं और धनुष-बाण से सदैव सुसज्जित रहते हैं। पठारों के रहनेवालों का मुख्य उद्यम पशु-पालन ही है। उनका परिश्रम, अध्यवसाय, चेष्टा, उद्योग सब-कुछ अपने तथा अपने परिवार की जीविका के हेतु होता है। दूसरों की नौकरी करना या परतन्त्र रहना उनके स्वभाव के विपरीत है। यदि उन पर दबाव डाला जाता है तो वे विरोध नहीं करते वरन् चुपचाप सघन जंगलों में भाग जाते हैं, जहाँ उनका पीछा करना असम्भव होता है। जंगलों में पहुँचकर वे थोड़ी जगह साफ़ करके कहीं भी अपने रहने का स्थान बना लेते हैं।

सच पूछा जाय तो भारतवर्ष की जंगली जातियों का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि संथाल ही है। उसका नाटा और गठा हुआ शरीर, भरा हुआ गोल चेहरा, मोटे होंठ, चौड़ी नाक, बेहद फ़ुर्तीलापन, दाढ़ी-मूँछों का अभाव, काले और रूखे खड़े केश उसकी विशेष पहचान है। वह दूसरों से मिलने-जुलने में लजाता है, परन्तु कायरता से वह कोसों दूर रहता है। वह आखेट में अतीव कुशल, पशुपालन और खेती-बारी में भी होशियार, आलस्यरहित, कर्मशील और आपत्ति के समय तथा प्रत्येक कार्य्य में आत्म-निर्भर रहनेवाला होता है। स्वयं ही वह अपने काम के हथियार व औज़ार बना लेता है और अपने निराले ढंग से खेती करने में भी सफलता प्राप्त करता है। जिस जंगल में वह रहने के लिए जाता है, उसे ही साफ़ करके रहने योग्य बनाकर, वहाँ शहद, मोम, लाख, कत्था, गोंद, कन्दमूल आदि पैदावार इकट्ठा करके उनके बदले में अन्य वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। कोल लोगों की भाँति वह जुलाहे का काम नहीं जानता, परन्तु पुराने ज़माने से ही जुलाहों से उसका सम्पर्क रहा है और प्रायः उसका पहनावा कोल लोगों के पहनावे से अच्छा होता है। खेतों में काम करते समय वह साधुओं की भाँति एक कफ़नी पहने रहता है। उसकी स्त्री अपेक्षाकृत अच्छे वस्त्र धारण करती है। अपने पति की भाँति वह भी नाटी, मोटी और हँसमुख आकृतिवाली होती है। पिछले अनेक वर्षों से वह धोती भी पहनने लगी है, जिसके बाँधने का ढंग कुछ-कुछ बंगाली स्त्रियों जैसा होता है। वह मुँह नहीं ढँकती। स्त्री-पुरुष दोनों ही फूलों और परों के अलंकार तथा गाय की पूँछ के बालों से बनाए हुए बड़े सुन्दर हार पहनते हैं। पीतल और काँसे के कड़े, छड़े, बाज़ूबन्द और हँसलियाँ भी स्त्रियाँ बड़े चाव से पहनती हैं, जो बड़े वज़नी होते हैं। उनका भोजन ज्वार, मक्का, अंडे, मुर्ग़ी, तथा बकरे व सुअर का मांस होता है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी जो कुछ मिले उसे वे बड़े प्रेम से खा लेते हैं। वे हिन्दू जातिवालों को छोड़कर सबका छुआ खाते हैं। संथालों का सर्वप्रिय पेय "पचवाई" नाम की शराब है, जिसे वे अनाज को सड़ाकर बनाते हैं। परन्तु वे कोल लोगों की भाँति भयंकर शराबी नहीं होते और न उनका नैतिक चरित्र ही कोलों की भाँति उतना गिरा हुआ होता है।

मुण्डा-भाषाभाषी वर्ग की ओराँव नामक एक उपजाति का पुरुष

संथाल स्वभाव से पर्यटनशील होने पर भी अपनी

झोपड़ी बड़ी सुन्दर बनाता है। उसकी झोपड़ी की दीवालें चटाई, बाँस और पेड़ की टहनियों को जोड़कर बनती हैं, जिनके ऊपर कीचड़ या मिट्टी छोप दी जाती है। रंगों का उसे बड़ा चाव होता है, इसलिए वह अपनी झोपड़ी की दीवारें लाल, सफ़ेद या काली पोत देता है, जैसी उसकी रुचि के अनुकूल हो। झोपड़ी की छत फूस, काँस और पतावर से छाई रहती है। उसके भीतर काफ़ी जगह होती है, जिसमें परिवार के बहुत-से व्यक्ति सुविधापूर्वक रह सकें। प्रत्येक परिवार में आठ-दस बच्चे होते हैं, जिससे काफ़ी चहलपहल रहती है। संथाल घरों की सफ़ाई का बड़ा ख़याल रखते हैं। उनके व्यवहार की आवश्यक वस्तुएँ यथास्थान रखी रहती हैं। गाँवों में झोपड़ियों की लम्बी पंक्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनके बीच में आम रास्ता रखा जाता है। प्रत्येक झोपड़ी से मिला हुआ सुअर और जानवरों का एक बाड़ा रहता है। इनके गाँव विशेषतया जंगलों के भीतर बसे होते हैं, परन्तु उनको ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं होता। गाँव के चारों ओर थोड़ी दूर तक साफ़ मैदान रखा जाता है और आसपास की घनी झाड़ियाँ तथा अनावश्यक जंगली पेड काट डाले जाते हैं।

हो जाति का पुरुष

संथाल प्रकृतिप्रेमी होता है और किसी भी आवश्यक सायेदार दरख़्त को वह नहीं काटता। उसके गाँव के बाहर का वृक्षों से घिरा हुआ मैदान बड़ा हरा-भरा और रमणीक दिखाई देता है। उसके जीवन में सरसता की मात्रा अधिक रहती है और औरों की अपेक्षा वह कहीं अधिक उचित रूप से उसके आनन्द का अनुभव करना जानता है। संगीत और नृत्य का उसके जीवन में एक मुख्य स्थान है। वह बाँस को काटकर बड़ी सुन्दर बाँसुरी बना लेता है, जिसका मधुर स्वर उसके आवास-स्थान को सदैव संगीतमय बनाए रखता है। प्रत्येक गाँव में एक खुली जगह होती है, जिसे हम नृत्यशाला कह सकते हैं। प्रतिदिन संध्या के समय गाँव के युवक और युवतियाँ वहाँ एकत्रित होकर नाचते-गाते हैं। यह उनकी एक जातीय रस्म है, जिसे उन लोगों में बुरा नहीं समझा जाता। फूल और परों के अलंकारों से अपना शृंगार किए हुए अल्हड़ नववयस्क बालिकाएँ और युवतियाँ गाँव के युवकों के साथ जोड़े बनाकर गोलाकार घेरे में नाचती हैं, जिसके बीच में बैठे हुए बाजेवालों के संगीत के साथ-साथ ताल-स्वर का अनुसरण करते हुए उनके पैर गतिमय होते हैं। क्रमशः सारा वन्यप्रदेश संगीतमय हो उठता है। इस सामाजिक स्वच्छंदता का दुरुपयोग करनेवालों के नियंत्रण के लिए प्रत्येक गाँव में एक "जागमाँझी" या व्यवस्थापक रहता है, जो वयस्क लड़कों और लड़कियों के आचरण की कड़ी देखरेख रखता है। एक अन्य अधिकारी गाँववालों की पारिवारिक व्यवस्था का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किया जाता है, जो पुरोहित की सहायता से छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा करता रहता है। इस प्रकार इनके सामाजिक जीवन में व्याघात नहीं हो पाता। प्रत्येक गाँव के बाहर छप्पर से छाया हुआ एक चबूतरा होता है, जहाँ परिवार के बड़े-बूढ़े गाँव के मुखिया के साथ एकत्रित होकर गाँव के व्यवस्था-सम्बन्धी मामले तय करते तथा आवश्यकतानुसार अपराधियों के लिए दण्ड-विधान करते हैं। प्रत्येक गाँव में एक चौकीदार भी रखा जाता है तथा हरएक गाँव का अलग-अलग अपना एक पुरोहित भी होता है, जिसे कुछ भूमि माफ़ी

के तौर पर मिली रहती है। उस भूमि की आमदनी से साल में दो बार उस गाँववालों को भोज देना पड़ता है।

संथालों में युवक-युवतियों का परस्पर प्रेम-सम्बन्ध होने के बाद ही विवाह होता है। प्रायः वर और कन्या के माता-पिता सब-कुछ जानते हुए भी अनजान बने हुए आपस में प्रारम्भिक बातचीत तय करते हैं। प्रति वर्ष इन लोगों में एक विराट् जातीय भोज देने की रस्म अदा की जाती है, जिसे "बनदान" कहते हैं। यह भोज छः दिन तक जारी रहता है। इस अवसर पर सभी विवाह योग्य युवक और युवतियाँ एकत्रित होते हैं तथा उनको पारस्परिक सम्पर्क में आने का काफी अवसर दिया जाता है। भोज की समाप्ति तक प्रत्येक विवाहेच्छुक युवक अपने लिए लड़की पसंद कर लेता है। संथालों में बहुविवाह का निषेध नहीं है, फिर भी लोग एक से अधिक विवाह नहीं करते। उनमें तलाक़ देने का भी रिवाज है। पति-पत्नी कुछ दिनों तक साथ रहने के बाद यदि यह समझते हैं कि वे एक दूसरे के उपयुक्त नहीं हैं तो पञ्चायत उनको तलाक़ की अनुमति दे देती है। संथालों की मुख्य उपजातियाँ सारन, मुरमू, मार्ली, किस्कू, बेसारा, हाँसदा, टूडी, बास्की, हेमरू, और चोराई आदि हैं, परन्तु उनमें परस्पर विशेष भिन्नता नहीं पाई जाती। एक ही जाति के लोग आपस में विवाह-सम्बन्ध प्रायः नहीं करते। इन लोगों में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं है। मालूम होता है, किसी ज़माने में ये उन्नत अवस्था में रहे होंगे, किन्तु अन्य जातियों से सताये जाने पर अपनी जन्मभूमि छोड़कर प्रवासी बन गए और फलतः उनका सामाजिक या नैतिक विकास न हो सका।

संथाल अपने इष्ट देवता को—कोलों की भाँति—"सिंगबोंगा" कहते हैं और उसे सूर्य देवता मानकर पूजते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे-बड़े देवी-देवता और भूत-प्रेतों की भी उनमें पूजा होती है। "बोरामाझी" नामक एक मृत सर्दार की आत्मा को भी पूजा जाता है और दीक्षा पाए हुए लोग व्रत और बलिदान से उसे संतुष्ट करके अपने गाँव के मामलों में उसका निर्णय प्राप्त करते हैं। 'बाघ-भूत' या बाघ की आत्मा को भी पवित्र समझा जाता है और कुछ जातियाँ सजीव बाघ तथा उसके भूत दोनों की उपासना करती हैं। इसी तरह स्त्रियाँ हाथी की पूजा करती हैं और उसके पैरों के पास भूमि पर माथा टेकती तथा उसकी चरण-रज मस्तक पर लगाती हैं। बच्चों को हाथी के पैरों के आगे डालकर वे उनको कुशल-कामना का वरदान माँगती हैं और आश्चर्य की बात तो यह है कि हाथी उनको कभी नहीं सताता!

संथालों के उत्सव और त्योहार अनेक होते हैं, जिनमें शिकार का त्योहार प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर गाँव के सभी पुरुष और स्त्रियाँ अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने पहनकर, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर, समारोह में भाग लेते हैं। कुछ गाँवों में संथाल लोग हिन्दुओं के साथ मिलकर दुर्गापूजा का त्योहार भी मनाते हैं। संथालों में "बाघ की शपथ" लेने का बड़ा महत्व समझा जाता है और जिस बात पर वे ऐसी शपथ लेते हैं, उसे प्राण देकर भी पूरा करते हैं। गोंड, भील और कोल जातियों की भाँति संथाल भी धनुष-बाण और कुल्हाड़ी अपने मुख्य शस्त्र मानते हैं, जिनसे सुसज्जित होकर उनके दल-के-दल शिकार की खोज में निकलते हैं। वे बाघ और रीछ को छोड़कर अन्य सब जंगली जन्तुओं का शिकार करते हैं, किन्तु बाघ को सामने देखकर वे ज़रा भी नहीं डरते। शिकार की यात्रा प्रायः चार-पाँच दिन की होती है, जिसके उपरान्त वापस आने पर मारे हुए पशुओं का मांस पकाया जाता है और विराट् भोज की व्यवस्था की जाती है। विवाह और मृत्यु के अवसरों पर भी भोज के बिना काम नहीं चलता।

कोल लोगों की भाँति संथालों में भी मुर्दे जलाए जाते हैं। जलने के बाद मृतक की अस्थियाँ और राख उसके कुटुम्ब का प्रमुख व्यक्ति एक टोकरी में रखकर दामोदर नदी में प्रवाह करने के लिए ले जाता है। संथाल इस नदी को बड़ी पवित्र मानते हैं।

२. हो

कोल और मुण्डा जातियों के कुछ लोग अपनी आवास-भूमि को पारस्परिक झगड़ों के कारण छोड़कर सिंगभूम के ज़िले में आ बसे हैं। इन प्रवासियों ने नए प्रदेश में आकर अपना नया नाम "हो" रख लिया और उनकी एक अलग जाति बन गई। ये हो लोग प्राचीन द्रविड़ों के ही वंशज और कोल तथा मुण्डा जातिवालों की ही एक शाखा ज्ञात होते हैं। मुण्डा जाति के व्यक्तियों में हो सबसे प्राचीन, शक्तिशाली और सभ्य हैं। किसी हो जाति के पुरुष को

देखिए—उसका शारीरिक आकार, प्रभावशाली व्यक्तित्व, सुन्दर आकृति, सब-कुछ उसे पुरुषत्व का एक आदर्श नमूना प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। प्रान्त के सुदूर भीतरी भागों में घने जंगलों के बीच जो लोग रहते हैं, उनकी आकृति प्रायः इतनी आकर्षक नहीं होती, क्योंकि उनकी रहन-सहन उन्हें वनवासियों-जैसा बना देती है। वे देखने में कुरूप और भयंकर लगते हैं। अपनी आदिम अवस्था में रहने में ही उनको सन्तोष है और वे सभ्यता के स्पर्श से दूर भागते हैं। हो जातिवालों का कहना है कि वे किसी ज़माने में छोटा नागपुर के इलाक़ों से आए और आरंभ में वे पत्तियाँ ही पहनकर रहते थे, जैसा कि "जुआँग" जाति की स्त्रियों में चलन है। सन् १८७१ ई० तक, जंगलों में रहनेवाले और पहाड़ी हो लोग पत्तियों से ही अपना शरीर ढकते थे। बाद में उन्होंने वस्त्र पहनना शुरू किया। पर कुछ वर्षों बाद एक बार हो लोगों ने व्यापारियों को यह धमकी दी कि यदि कपड़ों के व्यापारी मूल्य न घटाएँगे तो हम पुनः पत्तियाँ पहनकर रहने लगेंगे! सीमान्त प्रदेशों के निवासी हो लोग उड़िया जातिवालों से बहुत मिल-जुल गए हैं। ये लोग कृषि-कार्य्य करते हैं, परन्तु उसका ढंग बहुत प्राचीन है। धरती को कुदाल से गोड़कर ये बीज बो देते हैं, परन्तु धरती में खाद देना नहीं जानते। अतएव जिन स्थानों में वे खेती-पाती करते हैं, वहाँ की धरती थोड़े ही दिनों में बेकार हो जाती है। तब वे नई भूमि की खोज में अन्यत्र चल देते हैं। स्थायी रूप से किसी जगह रहते हुए वे कम दिखाई देते हैं।

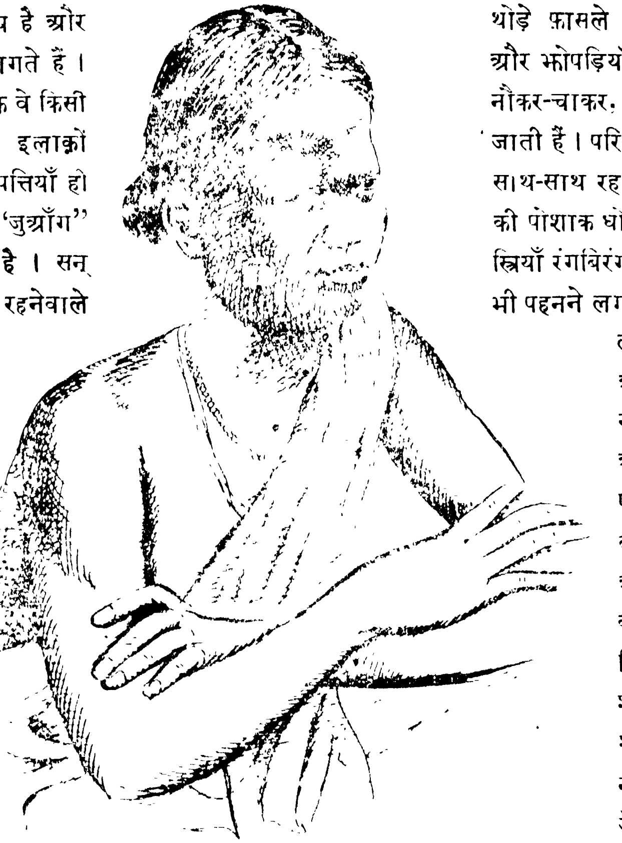

हो महिला

इनके गाँव छोटे-छोटे होते हैं, जिनमें वे बड़े मज़बूत और सुन्दर घर बनाते हैं। उनके घरों की दीवालें काली मिट्टी की बनती हैं, और वे बड़ी मोटी और ठोस रहती हैं। उनके ऊपर घास-फूस और पतावर का छप्पर डाल दिया जाता है। मकान के आगे लकड़ी के मोटे-मोटे खम्भे खड़े करके, जिन पर चित्र-विचित्र आकृतियाँ खुदी रहती हैं, उन पर एक सायबान बनाया जाता है। प्रत्येक घर में तीन भाग किए जाते हैं। एक में परिवार के लोग भोजन बनाते-खाते हैं, दूसरे में सोते हैं और तीसरे में उनका भंडारगृह रहता है। थोड़े फ़ासले पर छप्पर डालकर कुछ और झोपड़ियाँ बना दी जाती हैं, जहाँ नौकर-चाकर, मवेशी और मुर्ग़ियाँ रखी जाती हैं। परिवार के सभी व्यक्ति घर में साथ-साथ रहते हैं। इनमें धनी लोगों की पोशाक धोती और दुपट्टा है। उनकी स्त्रियाँ रंगबिरंगी धोतियाँ और साड़ियाँ भी पहनने लगी हैं। ग़रीब लोग लँगोटी लगाते हैं या छोटा अँगौछा कमर में लपेटे रहते हैं। उनमें स्त्रियों और पुरुषों का पहनावा एक-सा होता है। कभी-कभी स्त्रियाँ बिल्कुल नग्न अवस्था में भी गृहस्थी का कामकाज करती हुई दिखाई देती हैं। अपने शरीर का प्राकृतिक प्रदर्शन करना उनमें बुरा नहीं समझा जाता। लाज-जैसी कोई वस्तु वे जानती ही नहीं। आरम्भ से ही हो जातिवाले वस्त्र बुनने की कला से अनभिज्ञ रहे हैं, किन्तु अन्य जाति के जुलाहे उनके गाँवों में अब धीरे-धीरे बसने लगे हैं, जिसके कारण उनका वस्त्राभाव दूर हो रहा है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही कानों में बालियाँ और गले में काँच की गुरियों तथा पोत की बनी हुई मालाएँ धारण करते हैं। पुरुष प्रायः बाघ, साँप तथा बीमारियों से बचने के लिए गले में गंडे-तावीज़ पहने रहते हैं। स्त्रियाँ ही खेतों का और घर का सारा कामकाज

सम्हालती हैं। पुरुष शिकार किया करते हैं। शिकार को ही ये लोग अपना मुख्य उद्यम मानते हैं। अपने बालकों को वे सबसे पहले शिकार करना ही सिखाते हैं। प्रतिवर्ष उनके यहाँ शिकार की प्रतियोगिता के उत्सव होते हैं, जिनमें लोग सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। धनुष-बाण को वे अपना मुख्य शस्त्र मानते हैं और एक कुदाली भी अपने साथ रखते हैं, जिसे "ताँगी" कहते हैं। युद्ध के समय यह ताँगी भी एक भयंकर शस्त्र का काम देती है। पर यों वे उसे खेत गोड़ने के ही काम में लाते हैं। गाँवों के बाहर छोटे-छोटे लड़के हाथों में तीर-कमान लिये हुए पक्षियों के घोंसले खोजते दिखाई देते हैं। इनके यहाँ मक्का, ज्वार, बाजरा, गेहूँ, दाल, सरसों, कपास, तम्बाकू और धान की खेती होती है। सभी घरों में भेड़ें, बकरियाँ, गाय आदि मवेशी पले रहते हैं, जिनका दूध और घी ये बड़ा सस्ता बेच डालते हैं। मुर्गियाँ और बत्तखें भी पाली जाती हैं। अनाज के अतिरिक्त ये लोग सब प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस भी खाते हैं। गाय और सुअर भी उनसे नहीं बचते। किन्तु बाघ, भालू, बंदर, खेतों के चूहे तथा साँप का मांस खाना इनमें वर्जित है। इनमें अन्तर्जातीय भेद नहीं होते। ये लोग सबका छुआ भात खा लेते हैं। हाँ, परम्परागत नियमों के अनुसार, यदि भोजन करते समय उनकी थाली पर किसी की छाया पड़ जाय तो वे खाना छोड़कर उठ जाते हैं। किसी अन्य जाति का व्यक्ति उनका मिट्टी का बर्त्तन छू ले तो वे उससे जल नहीं पीते। हो लोगों की बोली मुण्डा और भूमिज जातियों की बोली से मिलती है। संथाल लोग भी उनकी बोली समझ पाते हैं। व्याकरण की दृष्टि से यह कोल जातियों की बोली से भी बहुत मिलती है।

मुण्डा-भाषाभाषी वर्ग की 'जुआँग' नामक एक उपजाति का पुरुष

हो जाति में विवाह के पहले वर को कन्या का मूल्य देना पड़ता है, या दूसरे शब्दों में वर का पिता ही कन्या को खरीदता है। यह मूल्य मवेशी देकर चुकाया जाता है। कम से कम दस-बारह पशु कन्या के पिता को देने का नियम है। इसके बाद सगाई तय हो जाती है। इतने पर भी विवाह होने में बड़ी बाधाएँ पड़ती हैं। प्रायः बरसों विवाह की सायत टलती रहती है और कभी-कभी विवाह होता ही नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों पक्ष के लोग शकुन-अपशकुन का बहुत विचार करते हैं। विवाह तय करने के लिए आते-जाते समय राह में शकुन का बड़ा ध्यान रखा जाता है। यदि मार्ग में कोई अपशकुन हो जाता है तो वे लोग अपने इष्ट देवता "सिंगबोंगा" के नाम पर मुर्गे की बलि देते हैं, और उससे प्रार्थना करते हैं कि अगले बार मार्ग में कोई अपशकुन न होने पाए। किन्तु यह तभी होता है जब दोनों पक्ष में से एक पक्ष विवाह के लिए अत्यधिक उत्सुक हो। अन्यथा पहली बार का अपशकुन ही बहुत समझा जाता है और उसी पर तुरन्त सगाई छूट जाती है। यदि विवाह तय करने के लिए जाते हुए व्यक्ति के पीछे से कोई गिद्ध, कौआ, तीतर, हरियल, कठफोड़ा, गीदड़, खरगोश, शहद की मक्खी, या साँप निकल जाय तो यह समझा जाता है कि वर-कन्या में से एक की मृत्यु अवश्यम्भावी है। यदि एक विशेष पक्षी धरती पर किसी मकड़ी को खींचे लिये जाता हो और

जानेवाले व्यक्ति की उस पर नज़र पड़ जाय तो यह समझा जाता है कि विवाह के बाद जब कन्या लकड़ी लेने या पानी भरने बाहर निकलेगी तो उसे अवश्य बाघ उठा ले जायगा। यदि कोई बाज़ किसी पक्षी को पकड़कर ले जाता हुआ दिखाई दे तो भी बाघ द्वारा कन्या का अपहरण निश्चित माना जाता है। यदि एक विशेष जाति का गिद्ध अकेला या झुंड के आगे-आगे आकाश में उड़ता हुआ दिखाई पड़े तो वर या कन्या के माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु अवश्य हो जाती है। यदि उपरोक्त घटना कन्या के गाँव के पास हो तो कन्या के माता-पिता पर अनिष्ट आता है, और यदि वर के गाँव के पास हो तो वर के माता-पिता पर उसका दुष्प्रभाव पड़ता है। यदि कठफोड़ा पक्षी सिर के ऊपर मँडलाता रहे तो कन्या के सन्तान होते ही वर-कन्या दोनों की मृत्यु समझी जाती है। यदि मार्ग में किसी पेड़ की डाल टूटकर गिर पड़े तो यह समझा जाता है कि वर-कन्या को जीवन भर घोर परिश्रम करना पड़ेगा, जिसका फल उनको न्यूनतम मिलेगा। इसी प्रकार के अनेक अपशकुन हो जाति में माने जाते हैं, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि उनके विवाह-संस्कार फिर भी होते ही रहते हैं। विवाह के अवसर पर भोज अवश्य दिया जाता है। विवाह से पहले युवक-युवतियों के परस्पर प्रेम-सम्बन्ध और मिलने-जुलने को लोग बुरा नहीं समझते। यदि किसी युवक और युवती में अनुचित सम्बन्ध हो जाता है और जातिवाले उसे जान लेते हैं तो युवक के लिए ज़रूरी हो जाता है कि युवती का मूल्य उसके पिता को देकर उससे विवाह करले और इसके लिए युवक को मजबूर किया जाता है। विवाह-कृत्य बड़े सीधे-सादे ढँग का होता है। वधू को वर के यहाँ ले जाते हैं और धान के एक ऊँचे ढेर पर उसे बिठाकर सिर पर तेल छोड़ते हैं तथा पका हुआ मांस-भात उसे खाने को देते हैं। खाने के बाद वह अपने पति की जाति में सम्मिलित हो जाती है। इसके उपरान्त, पास के किसी बाग़ में नृत्य की योजना होती है, जिसमें दोनों पक्ष के पुरुष और स्त्रियाँ भाग लेते हैं। वर और कन्या को एक-एक कटोरी जौ की शराब दी जाती है। दोनों उस शराब को एक में मिलाकर पीते हैं। बस, विवाह की रस्म पूरी समझी जाती है। तीन दिन तक पति के साथ रहने के बाद पत्नी घर से भाग जाती है और अपनी हमजोली की स्त्रियों से कहती है कि वह अपने पति को नहीं चाहती। पति उसके चले जाने पर बड़ी चिन्ता प्रकट करता है और अपने मित्रों की सहायता से उसका पता लगाकर ज़बरदस्ती उसे घर उठा लाता है। इसके उपरान्त दोनों मिल-जुलकर शान्ति से रहने लगते हैं। यह भी उनमें एक रस्म मानी जाती है और प्रत्येक गाँव में इसका चलन है! पुरुष प्रायः आराम-तलब होते हैं और घर-बाहर का सारा काम स्त्रियों को ही करना पड़ता है, किन्तु उनको बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। स्त्रियों पर किसी प्रकार का दबाव या शासन नहीं रखा जाता और उनको घूमने-फिरने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। परन्तु वे दुराचारिणी बहुत कम होती हैं। पति अपनी पत्नी को अपनी वास्तविक सहचरी और आपत्ति के समय परामर्श देनेवाली समझता है। यदि पत्नी किसी जार पुरुष से व्यभिचार करती हो तो बात खुल जाने पर उस जार पुरुष को वह सारी रक़म स्त्री के पति को चुकाना पड़ती है, जो पति ने विवाह के अवसर पर पत्नी के पिता को "कन्या के मूल्य" के रूप में दी हो। पत्नी को ऐसी दशा में त्याग दिया जाता है। हो जाति के स्त्री-पुरुष स्वभाव से ही बड़े भावुक होते हैं। दिल पर ठेस लगने पर या किसी मानसिक आघात से संतप्त होकर वे प्रायः आत्मघात तक कर लेते हैं। छोटी-छोटी बातों पर मतभेद होने या झगड़ा होने पर किसी नदी या तालाब में डूबकर प्राण दे देना उनके लिए बड़ी साधारण बात होती है!

संथालों की तरह इन्हें भी नृत्य और संगीत का बड़ा चाव होता है। उन्हीं की भाँति ये भी स्त्री-पुरुष मिलकर नृत्य करते हैं। हर्ष तथा शोक के अवसरों पर होनेवाले नृत्य या संगीत-समारोह में किंचित भी भेद नहीं होता। युवक और युवतियाँ गोलाकार घेरे में खड़े होकर घूम-घूमकर नाचते हैं और एक-दूसरे के हाथ पकड़े रहते हैं। बाजे के ताल-स्वर से पैर मिलाते हुए वे ख़ूब नाचते गाते हैं। सिर हिलाकर और आँखें मटकाकर वे बराबर भाव-प्रदर्शन भी करते रहते हैं। ढोल उनका मुख्य बाजा होता है और कभी-कभी बाँसुरी भी बजाई जाती है। प्रायः सभी उत्सवों और धार्मिक रस्मों के मनाने में भोज के साथ-साथ नृत्य और संगीत का आयोजन किया जाता है

और गाँव के छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष उसमें भाग लेते हैं। उनके एकाकी जीवन में नृत्य और संगीत ही मनोविनोद का एकमात्र साधन है। बच्चों को छोटी अवस्था में ही नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जाती है और बड़े होने पर वे इस कला में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। नृत्य-कुशल व्यक्ति का ये लोग बड़ा सम्मान करते हैं और अपने समाज में उसे अच्छा स्थान देते है। इस कला का उनमें विशेष उत्साह पाया जाना उनके अच्छे स्वभाव तथा मिलनसारी का द्योतक है।

संथालों की तरह हो जातिवाले भी अपने इष्ट-देवता को "सिंगबोंगा" कहते हैं। उसे वे सर्वशक्तिमान तथा आदि पुरुष मानते हैं। "नागेएरा", "देसाउली", "मारँग बोंगा", तथा उसकी स्त्री "पाँगुरा" गाँव के देवी-देवता समझे जाते हैं। "चनाला देसुम बोंगा" और उसकी स्त्री "पाँगुरा" विवाहिता स्त्री के देवी-देवता हैं। "होरातेनको" मार्ग का देवता है। "माहलीबोंगा", "चंदू ओमोल", "देसाउली" की स्त्री "जायरबूरी" आदि की भी पूजा होती हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही भूत-प्रेत तथा दुष्टात्माओं का अस्तित्व हो जातिवाले मानते हैं, जिन्हें शान्त करने लिए मांस और मदिरा चढ़ाई जाती है। इन देवी-देवताओं और भूत-प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए प्रायः सुअर और मुर्गी की बलि दी जाती है। इन लोगों में देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ नहीं रखी जातीं। उनकी पूजा के अवसरों पर भोज और शराब की व्यवस्था के अतिरिक्त नृत्य और संगीत का भी आयोजन किया जाता है। बीमारी फैलने पर झाड़फूँक के लिए ओझे या स्याने बुलाये जाते हैं, जो बलि चढ़ाकर अनिष्टकारी प्रेतात्माओं को शान्त करते हैं। हो जातिवालों का विश्वास है कि प्रेतात्माएँ दिन भर बाहर घूमती हैं और रात के समय घरों में प्रवेश करती हैं। अतएव गाँव में किसी जगह एक चबूतरा बनाकर उनको नियमित रूप से भोजन और शराब चढ़ाई जाती है, जिससे वे उत्पात न करें। उस चबूतरे को प्रतिदिन झाड़-पोंछकर साफ़ रखा जाता है।

जुआँग जाति की एक स्त्री

हो लोग अपने मृतक को धरती में गढ़ा खोदकर गाड़ देते हैं और उस स्थान पर स्मृति-चिन्ह के रूप में कई पत्थर रख देते हैं। जिसकी सामर्थ्य होती है वह अपने परिवार के मृत व्यक्तियों की समाधियों पर स्तम्भ खड़े करवा देता है। इनकी धारणा है कि मरने के बाद सब लोग भूत हो जाते हैं, परन्तु इसके आगे वे स्वर्ग या नरक के विषय में कुछ भी नहीं जानते। पुण्य का पुरस्कार या पाप का दण्ड कैसे मिलता है, इसका भी उन्हें ज्ञान नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतवर्ष की मुण्डा-भाषाभाषी अनेक जातियाँ हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ उन सबका विस्तृत विवरण यहाँ देना संभव नहीं है। इनमें हो और संथालों की ही तरह जुआँग नामक एक जाति विशेष उल्लेखनीय है। यह जाति उड़ीसा की रियासतों के जंगलों में बसती है और आज भी पाषाणयुग की स्थिति में रहती है। जुआँग लोग पत्थरों के ही औज़ार काम में लेते हैं, वृक्षों पर घोंसलेनुमा झोपड़े बनाकर रहते हैं और उनमें से बहुतेरे केवल पत्तों से अपना तन ढके रहते हैं। इस लेख के साथ हम इस जाति के स्त्री-पुरुषों के भी चित्र पाठकों की जानकारी के लिए दे रहे हैं।

नागा, कूकी और गारो

भारत के पूर्वीय सीमान्त के चौकीदार

१. नागा

आसाम और मनीपुर रियासत की सीमाओं के बीच के तथा आसपास के सघन जंगलों से घिरे हुए पार्वतीय प्रदेश को नागा जाति की आवास-भूमि माना जाता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य पड़ोसी जातियों को भी नागा ही माना है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। नागा लोगों की कुछ जातियाँ दूसरी जातियों के सम्पर्क में आकर मिश्रित रक्त की अवश्य हो गई हैं, परन्तु असली नागा अभी भी आसाम की सीमा के पार्वतीय इलाक़ों में निवास करते हैं। संस्कृत के "नाग" शब्द से ही यह "नागा" शब्द बना मालूम होता है। भारतवर्ष के इतिहास-पुराणों में प्राचीन नाग जाति और नाग-वंश के राजाओं का प्रचुर उल्लेख मिलता है। ये नाग-वंशी लोग सम्भवतः सिदियन जाति के वंशज थे और अपने को क्षत्रिय कहते थे। नागा-जाति के लोगों के सिदियन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता और न नागों से ही उनकी उत्पत्ति होने के विषय में कोई प्राचीन कथाएँ मिलती हैं। हाँ, उनमें क्षत्रियोचित असामान्य वीरता और साहस अवश्य पाया जाता है। सम्भव है, अधिकांश जंगली जातियों की भाँति आदिम अवस्था में उनका नग्न रहना और उनके स्वभाव में कुटिलता तथा दुष्टता की प्रवृत्ति का पाया जाना ही ऐसे कारण रहे हों, जिनसे प्रेरित होकर लोगों ने उनको "नंगा" (नग्न रहनेवाला) या "नागा" कहना आरम्भ कर दिया हो।

नागा लोगों की छोटी-बड़ी अनेक उपजातियाँ हैं, जिनके रीति-व्यवहार, सामाजिक नियम, धार्मिक सिद्धान्त, रूप-रंग और भाषा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। पार्वतीय प्रदेशों के ऊपरी भागों के निवासी नागा साफ़ रंग के और सुन्दर होते हैं। उनकी स्त्रियों की आकृति भी बुरी नहीं होती, यद्यपि शारीरिक सौन्दर्य पार्वतीय जातियों में महत्त्व की वस्तु नहीं समझा जाता। तरेटियों और जंगलों के रहनेवाले लोग गहरे रंग के, मैले और भद्दे होते हैं। इन लोगों के स्वभाव में भी परस्पर बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। "रेंग्मा" नागा सीधे स्वभाव के, शान्तिप्रिय, सच्चे और ईमानदार, "लोटाह" नागा आत्माभिमानी, अविश्वासी और निर्दयी, और "अंगामी" नागा लड़ाकू, प्रतिशोध में पक्के और विश्वासघाती पाए जाते हैं। "अंगामी" जाति वाले ही नागा जाति के मूल-प्रतिनिधि हैं और उन्हीं को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। उनको अपने "अंगामी" नाम का बड़ा अभिमान है, जिसका अर्थ है "अजेय", और वे अपने को सचमुच ही अजेय समझते भी हैं। वे ऊँचे पहाड़ों पर रहते हैं और बड़े लड़ाकू, लूट-मार में कुशल तथा बदला चुकाने में अमानुषिक होते हैं। अपने इसी स्वभाव के कारण, पड़ोसी जातियों पर उन्होंने बड़ा आतंक जमा रक्खा है। इन लोगों में आपस का विरोध सहज ही में नहीं शान्त होता और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। आसपास के लोग उनसे सदा सशंकित और भयभीत रहते हैं। लड़ाकू स्वभाव के होने के कारण नागा लोग अपने शत्रुओं से सतर्क रहते हैं और अपने आवास-स्थान की रक्षा का समुचित प्रबन्ध रखते हैं। पहाड़ों के ऊपर बसे हुए उनके गाँव ख़ूब मोटे लट्ठों की मज़बूत चहारदीवारी से घिरे होते हैं और छोटे-मोटे दुर्ग जैसे दिखाई देते हैं। लूटमार करते समय उनको बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष, किसी का ध्यान नहीं रहता, और विवेक-शून्य होकर जिसे पाते हैं उसे ही वे मार डालते हैं। उनके अत्याचार की जब सीमा न रही तो ब्रिटिश सरकार ने उनके प्रदेश का सारा प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया और वहाँ एक विशेष अफ़सर की नियुक्ति करके थोड़ी सेना सहायता के लिए रख दी गई। परन्तु नागा लोग कब बिगड़ उठें, कुछ भी कहा नहीं जा सकता। उनके उत्पाती स्वभाव का दमन करना नितान्त असम्भव है।

नागा लोग शरीर से ख़ूब हट्टे-कट्टे, लम्बे और सुडौल आकृति के व्यक्ति होते हैं। उनकी आँखें छोटी, चेहरा अंडाकार और रंग गहरा होता है। दाढ़ी-मूँछ उनके नहीं होती तथा सिर के केश रूखे और खड़े होते हैं, जिनको

छाँटकर ये छोटा रखते हैं। ये सब बातें होते हुए भी उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली और भयोत्पादक होता है, जो उनकी अपनी विशेषता है। नागा स्त्रियाँ नाटी होती हैं और उनका कटि-प्रदेश स्थूल होता है। वे घर और बाहर का सारा काम-काज करती हैं, बोझा ढोती, युद्ध में लड़ती, शिकार करती और प्रत्येक कार्य में पुरुषों का हाथ बटाती हैं। इस परिश्रमी जीवन के कारण उनके शारीरिक सौंदर्य का विकास नहीं हो पाता। पहाड़ों के ऊपर रहनेवाले स्त्री-पुरुष नाममात्र के वस्त्र पहनते हैं और प्रायः नंगे ही रहते हैं। तरेटियों और समतल भूभागों के निवासी नील के रंग से रँगी हुई मिर्ज़ई, बिना आस्तीन की कुर्ती और चुस्त बंडी पहन लेते हैं, जिसके ऊपर आवश्यकतानुसार वे एक मोटी चादर ओढ़ लेते हैं। कमर में वे एक लँगोटी लपेटे रहते हैं। चाय के बगीचों में काम करनेवाले तथा आसपास के ग्रामनिवासी नागा वस्त्रों के विषय में अधिक सभ्य बन गए हैं। उनमें पुरुष रंग-बिरंगे मोटे कपड़े के घुटनों तक के ऊँचे घाँघरे पहनते हैं। स्त्रियाँ, बेलबूटेदार ऊँचे लहँगे पहनतीं और चादर ओढ़ती हैं, जिससे उनकी पीठ और वक्षःस्थल ढका रहता है। स्त्री-पुरुषों में गहनों का बड़ा चाव देखा जाता है। हार, हँसली, बाज़ूबन्द और तोड़े, जो काँच के हरे दानों और कौड़ियों को गूँथकर बनाए जाते हैं, ये लोग बड़े उत्साह से पहने रहते हैं। नागाओं को अपने अस्त्र-शस्त्रों से बड़ा प्रेम होता है, जिन्हें वे सोते-जागते हर वक़्त अपने साथ रखते हैं। 'दाँव' या फरसा, भाला, बरछा और ढाल, इनके प्रमुख हथियार हैं, जो युद्ध तथा शिकार दोनों में काम आते हैं। ये धनुष-बाण का बहुत कम व्यवहार करते हैं। "अंगामी" नागा बहुत पहले से बन्दूकों के व्यवहार से परिचित हैं, जो उनके पास क़सरत से पाई जाती हैं। युद्ध और शिकार, यही दोनों उद्यम आरम्भ से आज तक उनमें पाए जाते हैं। अब वे व्यापार के भी फ़ायदे समझने लगे हैं और प्रायः आसाम और कछार के बाज़ारों में हाथीदाँत, मोम और बारीक सन के बने हुए कपड़े बेचते दिखाई देते हैं, जिनके बदले में ये लोग नमक, पीतल के बर्तन, शंख और विशेषतया तोड़ेदार बन्दूकें तथा बारूद ख़रीद ले जाते हैं। नाचने और शराब पीने का उनको बड़ा चस्का रहता है, जिसमें सदैव नहीं तो कभी-कभी स्त्रियाँ भी अवश्य सम्मिलित होती हैं। पुरुष विशेषतया एक प्रकार का 'युद्ध का नाच' नाचते हैं। इस नृत्य में

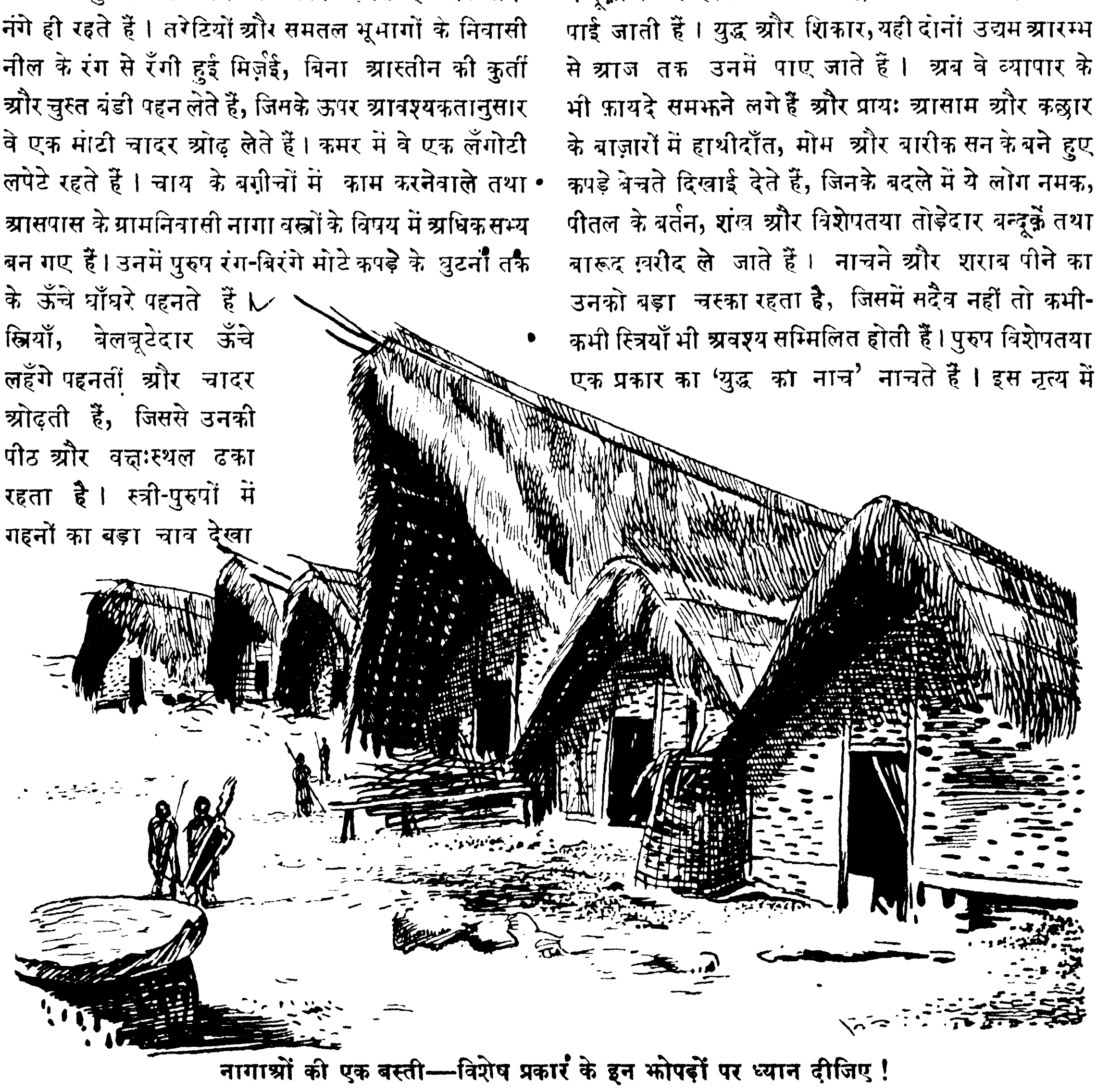

नागाओं की एक बस्ती—विशेष प्रकार के इन झोपड़ों पर ध्यान दीजिए !

हाथों में अपने फरसे और बरछे लेकर वे बाजों की ध्वनि के साथ-साथ उछलते-कूदते, रणनाद करते तथा आक्रमण, प्रत्याक्रमण, बचाव, ढाल से रक्षा और शस्त्रलाघवता आदि का प्रदर्शन करते हैं।

अपने पड़ोस की अन्य पहाड़ी जातियों की भाँति नागा घुमक्कड़ नहीं होते और जहाँ एक बार घर बना लेते हैं, वहीं पर वे टिककर रहने लगते हैं—स्थानपरिवर्त्तन की आदत उनमें नहीं है। उनके गाँवों में पचास से लेकर पाँच सौ तक घर बसे होते हैं। ये लोग विचित्र प्रकार के घर बनाते हैं, जिनकी परछती ज़मीन को छूती रहती है। इन घरों के एक सिरे पर छोटा-सा द्वार होता है। प्रत्येक परिवार का अपना-अपना पृथक् घर होता है, जिसमें दो कमरे होते हैं। एक में परिवार के लोग सोते हैं, दूसरे में खाना पकाया जाता है तथा आवश्यक वस्तुएँ रखी जाती हैं। घर के भीतर ही सुअर और मुर्गियाँ भी रखी जाती हैं। इससे भीतर स्थान की बड़ी तंगी रहती है और परिवार के अविवाहित पुरुष बाहर दूसरे मकान में जाकर सोते हैं। घरों के पास ही इनके खेत होते हैं। फ़सल काटने के बाद ये लोग खेतों को वैसा ही छोड़ देते हैं। ये अपने परिवार के मृतक को घर के द्वार पर ही गढ़ा खोदकर गाड़ देते हैं। इनके देवताओं में "सेमिओ" धनसम्पत्ति का देवता माना जाता है। "रुपिआबा"—जिसके माथे में एक आँख होती है और "कनंगआबा" जो अन्धा होता है, दुष्ट-प्रकृति के देवता माने जाते हैं। अंगामी नागा मूर्त्तिपूजक होते हैं और उनकी अपनी विशेष बोली होती है।

"रेंग्मा" नागा आकृति में कछार के निवासियों से बहुत मिलते हैं और उनमें से बहुतों ने आसामी तथा कछारी स्त्रियों से विवाह कर लिया है। उनके गाँव छोटे होते हैं और वे मवेशी पालते हैं। अन्य पहाड़ी जातियों की भाँति वे भी बहुत-से देवताओं को पूजते हैं, जिन्हें वे गाय की बलि चढ़ाते हैं। वे अपने मुर्दों को गाड़ते और उनकी ढालें तथा बरछे भी उनके साथ में दफ़ना देते हैं। दफ़नाने के बाद वे समाधि के ऊपर कुछ लकड़ियाँ, अंडे और थोड़ा अनाज छितरा देते हैं। अंत्येष्टि क्रिया के बाद उनके यहाँ एक विराट् भोज होता है।

साधारणतया नागा लोग दूध का व्यवहार नहीं करते। वे मवेशियों से खेती का काम लेना भी नहीं जानते। वे पालतू पशु-पक्षियों को या तो खाते या देवताओं के आगे उनकी बलि ही देते हैं। उनके द्वारा सुअर और मुर्गियाँ अधिक पाली जाती हैं, जिनको छोड़कर वे सब जीव-जंतुओं का मांस खाते हैं। हाथी का मांस उनमें विशेष रूप से सुस्वादु समझा जाता है और शिकार में मारा हुआ हाथी सारे गाँव का एक प्रिय आहार माना जाता है। सुना जाता है कि वे बाघ के मांस से भी परहेज़ नहीं करते। प्रायः घरों में एक कोने में चावल को सड़ाकर बनाई हुई दूधिया रंग की एक बदबूदार शराब का कूँड़ा रखा रहता है। इसी कूँड़े में वे तूँबियों और प्यालों को डुबोकर इच्छानुसार शराब ले लेते हैं और सबेरे घर के बाहर सहन में या ऊँचे पहाड़ी टीलों पर, जहाँ से दूर तक का दृश्य दिखाई देता है, बैठे-बैठे धूप का सेवन करते हुए प्रेम से एक-एक घूँट शराब पीते रहते हैं।

"मोज़ोमा" के नागा लोग एक प्रकार का मोटा और मज़बूत कपड़ा बुनते हैं, जो उनके देश की अस्थिर और ठण्ढी जलवायु में पहनने पर बड़ा आराम देता है। उनके इलाक़े में सन-जैसा एक रेशेदार पौधा होता है, जिसके डंठलों की छाल से यह कपड़ा तैयार किया जाता है। यह कपड़ा भूरे रंग का होता है, जिस पर काली और लाल धारियाँ पड़ी रहती हैं अथवा कभी-कभी बिल्कुल सादा भी होता है। नागा लोग इसकी चादर बनाकर बदन पर ओढ़े रहते हैं।

नागाओं के प्रत्येक गाँव में एक बहुत बड़ा सार्वजनिक घर होता है, जिसमें बहुत-सी लम्बी तिपाइयाँ पड़ी रहती हैं। उन तिपाइयों पर पतली चटाइयाँ बिछी रहती हैं। वहीं शिकार में मारे हुए पशुओं के मुंड तथा युद्ध के शस्त्रास्त्र भी रखे रहते हैं। यहाँ गाँव के सारे अविवाहित युवक और लड़के सोते हैं। ऐसे घर को नागा लोग "रंगकी" या "दकछुंग" कहते हैं। ऐसा प्रत्येक "दकछुंग" भीतर से प्रायः ६० फ़ीट लम्बा और २० फ़ीट ऊँचा बनाया जाता है। उसके बीचोबीच में अलाव में आग सुलगती रहती है। सोने के लिये तिपाइयाँ पंक्तियों में सुव्यवस्थित रूप से सजी रहती हैं। किनारे पर एक ओर एक छोटी-सी कोठरी रहती है, जिसमें उस "दकछुंग" का बड़ा-बूढ़ा निरीक्षक या प्रबंधक रहता है। वह सब युवकों और लड़कों के आचरण पर कड़ी नज़र रखता है। वैसा ही एक घर, जिसे "हिलोकी" कहते हैं, गाँव की लड़कियों

के लिए बना दिया जाता है, जो विवाह न होने तक वहीं सोती हैं। अविवाहिता नागा लड़कियों और युवतियों की वेशभूषा बड़ी सुन्दर और आकर्षक होती है। वे रंगबिरंगी बेलबूटेदार धोती, जो घुटनों तक आती है, बदन में लपेटे रहती हैं। नीले रंग का एक वस्त्र-खण्ड चोली की तरह बग़ल के नीचे से उनके वक्षःस्थल को ढकने के लिए पहना जाता है। काँच के रंगबिरंगे दानों की माला उनके गले की शोभा बढ़ाती रहती है। कानों में पीतल की अनेक छोटी-बड़ी बालियाँ पड़ी रहती हैं। उनकी देख-भाल के लिए एक वृद्धा स्त्री नियुक्त रहती है। "रंगकी" और "हिलोकी" दोनों संस्थाओं में कठिन अनुशासन रखा जाता है। लड़के-लड़की अपने घरों में जाकर माता-पिता के साथ भोजन करते हैं। दिन भर उनके साथ घर और बाहर का कामकाज देखते हैं और रात होते ही इन सार्वजनिक घरों में अपने-अपने ठिकानों पर सोने चले जाते हैं। दिन के समय लड़के-लड़कियों के मिलने-जुलने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वे कालांतर में आपस में उपयुक्त जीवन-साथी खोज लेते हैं और माता-पिता की अनुमति लेकर उससे विवाह कर लेते हैं। नागा स्त्रियाँ क़द में नाटी किन्तु हृष्टपुष्ट होती हैं। चिपटी नाक, छोटी आँखें, कुछ निकले हुए आगे के ऊपरी दाँत और रूखे कटे हुए केश उनकी विशेषता है। विवाहिता स्त्रियाँ लम्बे बाल रखाती हैं। वे सीधी-सादी और और असभ्य दीखती हैं। वे खेतों में काम करतीं, कपड़े बुनतीं, ईंधन लातीं, पानी भरतीं तथा गृहस्थी की देख-भाल रखती हैं।

एक नागा योद्धा

पड़ोस में रहनेवाले कूकी लोगों से नागा लोग बहुत डरते हैं और उनकी बस्तियों पर कभी आक्रमण नहीं करते। यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर चली जाय या किसी अन्य पुरुष से व्यभिचार करे तो पति अपने गाँव की पंचायत के लोगों को अपने घर बुलाकर उनको शराब पिलाता है और तब अपना अभियोग उपस्थित करता है। दुश्चरित्रा स्त्री घर में नहीं रखी जाती और उसे अपने जार पुरुष के साथ रहने की स्वतंत्रता दे दी जाती है, अंगामी नागाओं में सूरमा और सैनिक लोग लाल रँगे हुए बकरे के बालों का एक ख़ूब लम्बा-चौड़ा पट्टा, जिसमें कौड़ियाँ टँकी रहती है, गले में पहनते हैं। यह कमर तक आता है और इसे वे वीरता का चिह्न मानते हैं। वही व्यक्ति इसे पहनने का अधिकारी समझा जाता है जिसने अपने बहुत-से शत्रुओं को युद्ध में मारा हो तथा उनके मुंड काटकर घर ले आया हो। अंगामी जातिवालों के प्रत्येक गाँव की व्यवस्था स्वतंत्र है। उनकी शासन-प्रणाली जन-तंत्रात्मक होती है। हत्या का अपराध उनमें अक्षम्य माना जाता है। मृतक के सम्बन्धी यथासम्भव शीघ्र ही हत्यारे को ढूँढ़कर उसे बरछे से मार देते हैं और इस विषय में वे गाँव के पंचों से भी नहीं पूछते। यदि हत्याकारी व्यक्ति किसी दूसरे गाँव में जाकर शरण लेता है तो वह वर्षों बचा रहता है, परन्तु उसे सदा सशंकित रहना पड़ता है। उसे कभी भी अभयदान नहीं मिलता और वर्षों के बाद भी अवसर मिलने पर लोग उसे चुपचाप घेरकर मार डालते हैं। नागाओं में प्रतिशोध लेना एक पवित्र कर्त्तव्य माना जाता है।

अंगामी नागाओं का विश्वास है कि पास के पर्वतों और वनों में अनेक दुष्ट प्रकृति के भूत-प्रेत निवास करते हैं। अपनी सामाजिक और धार्मिक रस्में मनाते समय उन भूत-प्रेतों को सन्तुष्ट करने के लिए वे बलि चढ़ाते रहते हैं। सोलह वर्ष की अवस्था होने पर नागा युवक हाथीदाँत के बने हुए बाज़ूबन्द या कड़े भुजाओं पर धारण करता है या लकड़ी और बेंत की बनी हुई हँसली गले में पहनता है, जो लाल रँगी रहती है। काले तागे से बँधी हुई शंख की अनेक गुच्छियाँ या पीतल की बालियाँ वह कानों में पहने रहता है। उसका घाँघरानुमा वस्त्र काले रंग का होता है। यदि उसने युद्ध में कुछ शत्रुओं के प्राण हरण किये हैं, तो वह अपने घाँघरे में कौड़ियों की तीन-चार लड़ियाँ झालर की तरह सीकर पहने रहता है और अपने केशों को समेटकर कपड़े की पट्टी से बाँधता है। उसे अपने केशों के जूड़े में "धुन" पक्षी का एक लम्बा पर खोंसने का अधिकार रहता है। जितने ही व्यक्तियों को उसने युद्ध में मारा हो, उतने ही ऐसे पर वह जूड़े में या ढाल में खोंसने का अधिकारी समझा जाता है। टाँगों में भी प्रायः बेंत के बुने हुए बहुत-से छल्ले नागाओं द्वारा पहने जाते हैं। ये लोग अपनी ढाल पर पशुओं के तथा मनुष्यों के केशों के गुच्छे भी लटकाते हैं तथा भैंसों के सींगों की भाँति उसे लकड़ी के सींगों से सजाते हैं। रणयात्रा के समय जब सब लोग एकत्रित होते हैं तो उनका सरदार शकुन-विचार करता है। यदि शकुन अच्छा होता है तो वे एक मुर्गे की बलि देकर उसे खा जाते हैं, और तुरंत ही अपने अस्त्र-शस्त्र तथा दो दिन के लिए भोजन लेकर काम पर रवाना हो जाते हैं।

आज से ६०-७० वर्ष पूर्व, नागा लोग नरमुंडों के भयंकर शिकारी के रूप में विख्यात थे। युद्ध में मारे हुए शत्रुओं के मुंड और हाथ-पैर काटकर वे घर ले आते तथा उनको विजय-चिह्न के रूप में सँभालकर रखते थे। इन नरमुंडों को सामने रखकर तथा उनके ऊपर भात और शराब डालकर वे उनसे कहा करते थे कि 'अपने-अपने सम्बन्धियों को शीघ्र ही बुलाओ'। प्रत्येक नागा अपने लाये हुए नरमुंडों को पाँच दिन तक सिरहाने रखकर सोता था। उन दिनों में उसके लिए स्त्रियों का पकाया भोजन वर्जित रहता था और घर की बटलोई में वह खाना नहीं पका सकता था। पाँचवें दिन वे नरमुंड किसी जगह गाड़ दिए जाते थे। इसके उपरान्त गायों और सुअरियों का मांस पकाकर एक विराट् भोज दिया जाता था। भोज की समाप्ति पर लोग नदियों और तालाबों में जाकर नहाते थे। फिर अपने-अपने काम-काज में लग जाते थे।

अवकाश के समय अंगामी नागा अपने परिवार के मृत व्यक्तियों की समाधियों के पास बैठकर हँसी-दिल्लगी करते और शराब पीते रहते हैं। वहाँ पर बैठकर वे लूट-मार और आक्रमण करने का षड्यंत्र भी रचते हैं। जंगलों में प्रायः वे ६–७ फ़ीट गहरे गढ़े खोदकर उनमें नुकीले बाँस या तीर मज़बूती से खड़े गाड़ देते हैं। उन गढ़ों के ऊपर पेड़ों की पतली टहनियाँ या घास-फूस रखकर उनका मुँह बन्द कर देते हैं। कोई भी जानवर जब धोखे से वहाँ आकर गढ़े पर पैर रखता है तो तुरंत ही उसमें गिर जाता है और गिरते ही नीचे लगे हुए बरछे या तीर उसके शरीर में घुसकर उसका काम तमाम कर देते हैं। हिंस्र पशुओं या हाथियों को मारने में नागाओं द्वारा इस युक्ति का विशेष प्रयोग किया जाता है।

इन लोगों में शपथ लेने का बड़ा विचित्र ढंग पाया जाता है। जब वे किसी बात का प्रण करते हैं या शान्ति से रहने का वचन देते हैं तो मुँह में बरछा दाब लेते हैं, जिसका अर्थ यह समझा जाता है कि शपथ तोड़ने पर वे बरछे से छिदकर मरना स्वीकार करेंगे! जब दो व्यक्ति आपस में शपथ लेते हैं तो वे लोहे के भाले को दोनों सिरों पर पकड़ते हैं और बीच से काट देते हैं। सबसे पवित्र शपथ वह समझी जाती है जिसे लेनेवाले दो व्यक्ति एक मुर्गे को दोनों ओर से पकड़कर नोच डालते हैं। शपथ के स्मरणार्थ वे पत्थर के स्तम्भ भी खड़े करते हैं। किसी समय नागाओं में अपने मृत व्यक्तियों के मुंड शत्रुओं से छीन लाने या मूल्य देकर ख़रीद लाने की भी प्रथा थी और इसे वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

नागा-प्रदेश पर ब्रिटिश शासन की प्रस्थापना के बाद से इनमें नर-मुंडों के शिकार की प्रथा उठ गई है। इस जघन्य कृत्य के अपराधियों को अनेक बार घोर दण्ड भी दिया गया है। हत्या और लूटमार की प्रवृत्ति भी उनमें कम हो गई है। पर ये लोग स्वभाव से ही बड़े उद्दण्ड होते हैं। वे अपने पर किसी का शासन होना स्वीकार नहीं

करते। यदि इस विषय में उनसे पूछा जाय तो वे अपना बरछा ज़ोर से धरती में गाड़कर कहते हैं कि "हमारा राजा यही है।" गाँव के बड़े-बूढ़े का किसी अंश तक वे लिहाज़ करते हैं, किन्तु अवसर आने पर वे सब-कुछ भूल जाते हैं। उनके परिवारों में किसी प्रकार का शासनाधिकार प्रचलित नहीं और वे स्वतंत्रता का जीवन व्यतीत करते हैं। चोरी करने और शराब पीने का उन्हें दुर्व्यसन होता है, यद्यपि चोरी करते समय पकड़ जाना वे अपमान समझते हैं।

२. कूकी

गारो, जैंतिया, कछार (ज़िला सिलहट), टिपरा और चटगाँव के पहाड़ी प्रदेश को कूकी जाति की आवास-भूमि माना जाता है। लोगों का अनुमान है कि उनकी पुरानी बस्तियाँ हाइलाकाँदी के दुर्गम पहाड़ी इलाके में थीं, जहाँ से वे टिपरा की पहाड़ियों में उत्तर की ओर बढ़े और चटगाँव तक पहुँच गए। आसाम के नागा लोगों की भाँति कूकियों की भी संख्या बहुत अधिक है। वे नागा लोगों के निकट के पड़ोसी हैं और उनकी बस्तियाँ कलादिन की घाटी से कछार और मनीपुर तक ३०० मील के घेरे में सभी जगह पाई जाती हैं।

कछार के रहनेवाले पुराने कूकी तीन उपजातियों में बँटे हुए हैं, जिनको 'रंधकुल', 'खेल्मा' और 'बेछु' कहा जाता है। रंधकुल कूकियों की संख्या सबसे अधिक है। वे शरीर से भी हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी होते हैं। उनकी वेशभूषा भी औरों की अपेक्षा अधिक सभ्य होती है और उनमें आभूषण पहनने का बड़ा चलन है। अपने अन्य भाइयों की भाँति वे भी कभी स्नान नहीं करते और न अपने कपड़े ही धोते हैं। इससे उनमें बहुतेरे व्यक्ति चर्म रोग से पीड़ित मिलते हैं। उनका कोई सरदार या नेता नहीं हुआ करता, वरन् उनके गाँव के मुखिया को ही सामाजिक व्यवस्था-सम्बन्धी कुछ अधिकार रहते हैं। उनका धर्म आसाम के आदि निवासियों के धर्म का ही एक विकृत रूप है, किन्तु विवाह को वे एक धार्मिक रस्म मानते हैं। उनमें विवाह-कार्य बिना पुरोहित के सम्पन्न नहीं होता, जिसे उनकी भाषा में "ग़लीम" या पुजारी कहा जाता है। कूकियों में बहुपत्नी प्रथा नहीं है। उनमें विधवाओं को पुनर्विवाह करने की उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी कि विधुर लोगों को। इन लोगों की एक जाति "लंगक्ता" भी कहलाती है, जिसके व्यक्ति प्रायः नंगे रहते हैं और अधिक जंगली होते हैं।

नए कूकी टिपरा और चटगाँव के जंगली भागों से आए हैं। उनको लंगक्ता जातिवालों ने वहाँ से खदेड़ा है। उनकी बोली पुराने कूकियों की बोली से सर्वथा भिन्न है, परन्तु मनीपुरवालों की बोली से मिलती-जुलती है। सन् १८४८-४९ में नए कूकियों की चार जातियाँ—थाइन, शिग्शिऑन, चंगसेन और लुम्गम—उत्तरी और दक्षिणी कछार तथा मनीपुर में आकर बस गईं, क्योंकि "लुशाई" जातिवालों ने, जिनकी बोली कूकियों की बोली से मिलती है और जो धुर दक्षिण में रहते हैं, उनको पुरानी बस्तियों से मार भगाया था। "पोई" नाम की एक दूसरी जाति ने लुशाई लोगों को उत्तर की ओर खदेड़ दिया था। नए कूकियों की इन चारों जातियों में प्रत्येक जाति का एक राजा होता है, जिसे वे अपना नेता और सरदार मानकर उसके शासन में रहते हैं। राजा को प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति से प्रति नस्ल का एक सुअर या मुर्ग़ा, शिकार में मारे हुए जानवरों का चौथाई भाग, तथा हाथी का एक दाँत और एक डलिया चावल मिलता है। साल में चार दिन वह प्रत्येक जातिवाले से बेगार भी ले सकता है। जाति के बड़े-बूढ़ों के परामर्श से वह जाति के विचित्र नियमानुसार झगड़े-बखेड़े तय करता है और उसका निर्णय अन्तिम और सर्वमान्य समझा जाता है।

अंगामी जाति की एक नागा स्त्री

टिपरा के रहनेवाले कूकी वहाँ के राजा के अधीन हैं

और उसे प्रतिवर्ष नज़रें देते हैं। विवाह आदि के अवसरों पर भी राजा को भेंट देना आवश्यक होता है, जिसे "ओब वॉब" कहते हैं। टिपरा के कूकी लोगों का वर्ण अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक गोरा और साफ़ होता है, किन्तु अपनी जातिवालों से वे अन्य बातों में भिन्नता नहीं रखते। वे अपने को हिन्दू कहते हैं, किन्तु वर्ण-भेद को वे नहीं मानते और हरएक का छुआ खा लेते हैं। उनके यहाँ सुअर, मुर्गियाँ और कबूतर पाले जाते हैं, परन्तु वे बैल नहीं रखते और न उनका मांस ही खाते हैं। बैलों से काम लेना भी वे नहीं जानते, इसीलिए उनकी ओर ये लोग ध्यान नहीं देते।

✓ ये लोग "पुतियाँग" नामक एक सर्वशक्तिमान देवता की पूजा करते हैं, जिसके स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू आदि भी पूज्य माने जाते हैं। वे और भी छोटे-मोटे देवताओं को मानते हैं, जिन्हें समय-समय पर बलिदान द्वारा संतुष्ट किया जाता है। कुछ जातियों में चन्द्रमा की पूजा होती है। इनमें पुरोहिती का पेशा करनेवाले लोग नहीं होते, परन्तु जाति के किसी व्यक्ति को "थेम्पू" या पुजारी मान लिया जाता है। पुजारी का पद मौरूसी नहीं हुआ करता और प्रायः लोग उसकी दीक्षा-सम्बन्धी रस्मों से घबराकर पुजारी बनना नहीं पसंद करते। "पुतियाँग" को ही ये अपना प्रधान इष्टदेव मानते हैं, जो उनका भला करता रहता है। "घुमविस्वा" या "शेमसाक्र" नाम का एक अनिष्टकारी देवता भी इनमें पूजा जाता है, जिसे बकरे की बलि चढ़ाकर प्रसन्न करते हैं। प्रत्येक गाँव में लकड़ी का एक भद्दा-सा कुन्दा पड़ा रहता है, जिसे "शकीसूर" कहते हैं। उसके आगे युद्ध में मारे हुए शत्रुओं तथा जानवरों के मुंड रखे जाते हैं।

कूकी लोग आकृति में मनीपुर के निवासियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु खसिया जातिवालों में और उनमें अधिक समानता पाई जाती है। ये प्रायः काल्मुक या मंगोलियन आकृति के होते हैं। चिपटी नाक, मोटे होठ, बंगालियों का जैसा क़द, हृष्ट-पुष्ट शरीर, गेहुँआ रंग—ये कूकी लोगों की विशेषताएँ हैं। वे कुछ-कुछ सभ्य कहे जा सकते हैं। अपनी उत्पत्ति के विषय में उनका परम्परागत विश्वास है कि वे तथा "मग" जातिवाले एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे बतलाते हैं कि उनके आदि पूर्वज के दो स्त्रियों से दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र की सन्तान "मग" कहलाने लगी तथा छोटे की "कूकी"। छोटे पुत्र की माता उसके बाल्यकाल में ही मर गई तब विमाता ने उसकी पूर्ण अवहेलना करते हुए उसके साथ दुर्व्यवहार करना शुरू किया। अपने पुत्र को वह अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाती थी, किन्तु सौतेले को नंगा फिरने देती थी। उसी की संतान होने के कारण "कूकी" लोग पहले नंगे रहा करते थे और उनकी एक जाति का नाम ही "लंगक्का" (या नंगा) पड़ गया!

सभी कूकी बड़े कुशल शिकारी और रण-विज्ञ शूर होते हैं। इनके राजाओं का अधिकार पैतृक समझा जाता है और ये राजा लोग अपने जातीय चिह्न के रूप में पेड़ों की पतली छाल की मेखला पहने रहते हैं, जो इन लोगों में उच्च पदवी की द्योतक समझी जाती है। राजा अपने केशों का जूड़ा सामने की ओर बाँधते हैं और प्रजा लोग उन्हें खुला रखते हैं, जिससे वे कंधों पर लहराते रहते हैं। कूकी लोग धनुष-बाण, बरछे, कुल्हाड़ियाँ, गदा और दॉव नामक शस्त्र धारण करते हैं। उनके प्रदेश में एक विशेष प्रकार का शंख पाया जाता है, जिसकी मालाएँ बनाकर वे अपने गले, कमर और घुटनों के ऊपर जाँघों में पहनते हैं। अपनी भुजाओं पर ये लोग बकरे के बालों के लाल रँगे हुए गुच्छे बाँधे रहते हैं, जिसमें वे अपने शत्रुओं को अधिक से अधिक भयानक दिखाई दें। प्रतिशोध लेने की भावना कूकियों में बड़ी तीव्र होती है और "ख़ून का बदला ख़ून" से चुकाना वे ख़ूब जानते हैं। मनुष्यों की बात जाने दीजिए—यदि कोई बाघ उनके किसी जातिवाले को मार डाले तो वे जब तक उस बाघ को मारकर और भूनकर खा नहीं डालते तब तक चैन नहीं लेते! इतना ही नहीं—यदि कोई किसी पेड़ से गिरकर मर जाय तो मृतक के इष्ट-मित्र उस पेड़ के भी टुकड़े-टुकड़े काट डालते हैं या उसे जलाकर राख कर देते हैं, तभी उनकी प्रतिहिंसा शान्त होती है! कूकी लोगों में बहुपत्नी-प्रथा नहीं है और साधारणतया उनमें एक ही विवाहिता पत्नी रखी जाती है। हाँ, यदि कोई चाहे तो अन्य रखेलियाँ रख सकता है। किसी अविवाहिता लड़की को भगा ले जाने या व्यभिचार करने पर इनमें अपराधी को मृत्युदण्ड तक दिया जाता है। लड़की का पिता या पति अपराधी को इच्छा-

नुसार दण्ड देने का अधिकारी समझा जाता है। नागा लोगों की भाँति कूकियों में भी परिश्रमी होने के कारण स्त्रियाँ सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। पत्नी प्राप्त करने के लिए विवाहेच्छुक पुरुष या तो उसका मूल्य चुका देते हैं या उस मूल्य के बजाय पत्नी के परिवार में कुछ वर्षों के लिए सेवा-कार्य करते हैं। सरदार या राजा गाँव की अवि-वाहिता या विवाहिता स्त्रियों में से चाहे जिसे जब चाहे तब अपने पास रख सकता है और परिवारवाले इसे बुरा नहीं समझते, न इस पर आपत्ति ही करते हैं। कन्या का पिता ही विवाह की तैयारी करता है। वर के विषय में जाँच-पड़ताल करने पर यदि यह ज्ञात हो जाता है कि वह बड़ा वीर, कुशल शिकारी और परले सिरे का चोर है, तो उसे बहुत योग्य समझ लिया जाता है! उसकी कार्यकुशलता के प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनमें मारे हुए शत्रुओं के मुंड, शिकार किये हुए जान-वरों के सिर और घर में रखा हुआ चोरी का माल विशेष रूप से देखा जाता है! इसके बाद तुरन्त विवाह तय हो जाता है।

कूकी लोगों में भूत-प्रेत और मृतात्माओं की पूजा होती है, और आज से कुछ वर्ष पहले उनके आगे शत्रुओं के सिर चढ़ाना इन लोगों में बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता था। स्वर्ग के विषय में उनकी यह धारणा थी कि वह भी एक नई दुनिया है, जहाँ पशुओं से भरे-पूरे शिकार के जंगल हैं; जहाँ चावल की पैदावार ख़ूब होती है और अपने जीवनकाल में जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक शत्रुओं के प्राण हरण किये हों, उसे बहुतायत से शिकार मिलता है तथा जहाँ मारे हुए शत्रु लोग उसके दास बनकर उसकी सेवा करते हैं! पहले इन लोगों में बीमारियों का कारण किसी-न-किसी अनिष्टकारी देवता का कोप ही समझा जाता था, जिसका पूजा, उपासना, बलिदान तथा नरमुंडों के उपहार के अतिरिक्त कोई इलाज नहीं होता था। इसीलिए नरमुंड का शिकार करना इनका नित्य का कार्य्य बन गया था।

एक कूकी स्त्री धान कूट रही है

कूकी लोगों को भ्रमणशील न कहकर परिवर्तनशील स्वभाव का कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि वे अपना आवासस्थान प्रायः बदलते ही रहते हैं। इनके उपनिवेश चार-पाँच वर्षों के अन्तर से बदले जाते हैं। इनके गाँव "खूओं" कहलाते हैं और बड़े क़ायदे से बसे होते हैं। साधारणतया कूकियों की बस्तियाँ पहाड़ियों के ऊँचे शिखरों तथा सीधी खड़ी चट्टानों के ऊपर बाँसों की चहारदीवारी से घिरी हुई पाई जाती हैं, जिनके प्रवेश-मार्ग पर युद्ध और शान्ति दोनों की अवस्था में दिन-रात कड़ा पहरा रखा जाता है। इस सावधानी का मुख्य कारण कूकियों की उत्पाती प्रकृति ही है। पास-पड़ोस की जिन जातियों को ये लोग आक्रमण करके सताते रहते हैं, वे भी सदैव बदला लेने का अवसर ढूँढ़ा करती हैं, अतएव कूकियों का सतर्क रहना स्वाभाविक ही है। इनके मकान धरती पर ६ फ़ीट ऊँचा मचान बाँधकर उस पर बनाये जाते हैं और ये मकान मार्ग के दोनों ओर दो पंक्तियों में बने रहते हैं। समीप ही इनके खेत होते हैं, जिनमें बड़ी सुन्दर क्यारियाँ होती हैं। सभी पुरुष प्रायः शिकारी और लड़ाके होते हैं और इनमें स्त्रियाँ ही कृषिकार्य की देखभाल करती हैं। इनमें मानमर्यादा का कोई प्रश्न नहीं होता और राजा की रानी तथा एक साधारण दासी कंधे से कंधा मिलाकर खेतों में काम करती हैं! खेतों में चावल, मोटा अनाज, कपास, तम्बाकू, शाक-भाजी आदि पैदा होते हैं। अनाज और शाक-भाजी इन लोगों का मुख्य आहार है। इसके अतिरिक्त पशु-पक्षियों का मांस भी खाया जाता है और मुर्ग़े-मुर्ग़ियाँ

तथा सुअर पाले जाते हैं। ये लोग देशी शराब भी बना लेते हैं, परन्तु अधिक मद्यपान नहीं करते। तम्बाकू के ये बड़े शौक़ीन होते हैं। औरतें, मर्द, बच्चे सभी तम्बाकू पीते हैं और नागा लोगों की तरह तम्बाकू के तेल में पानी मिलाकर उसका व्यवहार करते हैं। उनके यहाँ जितनी कपास पैदा होती है वह सब बंगाल के व्यापारियों के हाथ बदले में मुर्ग़ियाँ लेकर बेच दी जाती है। प्रत्येक मुर्ग़ी के बदले में उसी के वज़न के बराबर कपास देनी पड़ती है। इनके जंगलों में शहद बहुतायत से पाया जाता है, परन्तु ये लोग मोम से शहद अलग करना नहीं जानते। कुछ इलाक़ों के रहनेवाले इतने जंगली हैं कि वे लकड़ी के दो टुकड़ों को रगड़कर ही आग बना पाते हैं तथा नमक के बजाय बाँस की राख को काम में लाते हैं। कूकी लोगों में दो जातीय विशेषताएँ पाई जाती हैं। एक तो वे परले सिरे के बहादुर होते हैं और उनकी युद्ध-प्रणाली बड़ी अद्‌भुत होती है! दूसरे वे चोरी के फ़न में पक्के उस्ताद होते हैं, जैसे कि नागा लोग भी होते हैं। जो चोर चोरी करते समय पकड़ जाता है उसे ये लोग तुच्छ तथा घृणा का पात्र समझते हैं। कूकी लोग अपनी शपथ के पक्के होते हैं, परन्तु जब तक कोई विशेष दबाव न पड़े, या भयंकर संकट न आ पड़े, तब तक वे शपथ लेते ही नहीं। हाँ, यदि वे शपथ लेते हैं तो उसे अवश्य निभाते हैं।

कूकियों के किसी राजा या सरदार का देहान्त होने पर उसका शव आग से सुखाकर दो महीनों तक घर में ही रखा जाता है! पहले यदि उनका राजा युद्ध में मारा जाता था तो वे एकत्र होकर तुरन्त ही नर-मुंडों का शिकार करने निकल पड़ते थे और जब काफ़ी सिर काटकर घर ले आते थे, तब नृत्य और भोज का आयोजन होता था। उसी अवसर उन नर-मुंडों के टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा प्रत्येक गाँव में बाँट दिया जाता था। इसे वे मृतक के नाम पर बलि चढ़ाना कहते थे। सन् १८७१ में, एक सरदार की कन्या की मृत्यु होने पर नरमुंडों के शिकार के प्रयोजन से कूकियों ने आसाम पर कई बार आक्रमण किया, किन्तु अन्त में वे पराजित हुए और तभी उन पर दबाव डालकर इस प्रथा को बन्द करवाया गया।

प्रत्येक कूकी अपने परिवार के साथ एक पृथक् घर में रहता है। विधवाओं के लिए प्रायः इनके गाँव में अलग मकान बनवा दिए जाते हैं। कूकी पुरुष प्रायः ऊँचा, धारीदार घाँघरा-जैसा एक वस्त्र पहनते हैं, जो शरीर के ऊपरी भाग से लेकर घुटनों तक पहुँचता है। जो कूकी अधिक सभ्य हो गए हैं, वे धोती, मिर्ज़ई और पगड़ी भी पहनते हैं और उनकी स्त्रियाँ बंगालियों जैसी धोती या साड़ी बाँधती हैं। ये अन्य प्रान्तों में भी पहुँच गए हैं तथा कल-कारख़ानों में काम करते हुए मज़दूरी करते हैं। विवाहिता स्त्रियाँ अपनी छातियाँ खुली रखती हैं, किन्तु अविवाहिता वयस्क लड़कियाँ दोनों भुजाओं के नीचे से एक वस्त्र लपेटकर उनको ढाँके रहती हैं। स्त्रियाँ अपने बालों की वेणियाँ गूँथकर सामने की ओर सिर पर जूड़ा बाँधती हैं, जो फूलों से सजाया जाता है। बारह या तेरह साल का होते ही लड़का रात के समय घर में रहने नहीं पाता; या तो वह अन्य लोगों के साथ गाँव का पहरा देने चला जाता है या अविवाहित युवकों के साथ दूसरे घर में जाकर सोता है। अन्य पहाड़ी जातियों की भाँति कूकी भी बड़े गन्दे रहते हैं और उनमें शायद ही कोई कभी स्नान करता हो।

जब कोई विवाहित पुरुष मर जाता है तो उसके सारे इष्ट-मित्र, सम्बन्धी और कुटुम्बवाले एकत्र होकर उसके लिए शोक मनाते हैं। कुछ शाक-भाजी तथा चावल पकाकर शव के बाईं ओर रखे जाते हैं और वहीं शराब की बोतल या तूँबी भी रख दी जाती है। यदि उसकी मृत्यु रात के समय हुई हो तो सबेरा होते ही उसे जला देते हैं। जहाँ दाह-संस्कार हुआ हो उस स्थान पर कुछ शाक-भाजी और चावल रखकर मृतक के स्वजन-सम्बन्धी उसकी राख को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—"आज हम तुमसे विदा माँग रहे हैं। जो कुछ चावल या सम्पत्ति तुमने इकट्ठा की है, हमारे लिए छोड़ दो।" अगले दिन वे लोग मृतक के घर पहुँचकर "तेवाई" और "संग्रोन" नामक देवताओं के नाम पर एक मुर्ग़ी की बलि देते हैं। इसके बाद ख़ूब शराब पी जाती है और मृतक के गुणों का बखान करते हुए लोग शोक मनाते हैं। कूकियों की "बेली" नामक जाति में, किसी की मृत्यु होने पर तुरन्त ही मृतक के शव को गर्म पानी से नहलाकर एक वस्त्र से ढँक देते हैं। फिर मुख्य-मुख्य देवताओं ("तेवाई" और "संग्रोन") की पूजा होती है, जिसमें सभी त्योहारों की भाँति मुर्ग़ी या

सुअर की बलि दी जाती है। देवताओं को शराब भी चढ़ाई जाती है। बीमारी, दुर्भिक्ष या आँधी-तूफ़ान आने पर भी इसी प्रकार देवताओं को मांस-मदिरा से सन्तुष्ट किया जाता है। कूकी लोगों पर नरमांसभक्षी होने का भी अपवाद लगाया जाता है, परन्तु वे ऐसे कृत्य को घृणास्पद और अवांछनीय कहते हुए स्वयं इसका निषेध करते हैं। यों कूकी सब-कुछ खा सकता है—हाथी, गैंडा, गाय, बैल, किसी भी पशु या पक्षी के मांस से उसे परहेज़ नहीं होता।

३. गारो

आसाम की घाटी के धुर दक्षिण में पहाड़ों की अनेक श्रेणियाँ दूर तक चली गई हैं। इन्हीं पहाड़ों में गोलपाड़ा से ४० मील दक्षिण और मैमनसिंह के इलाक़े से ठीक उत्तर में गारो नामक जाति के लोग रहते हैं। बंगाल प्रान्त की उत्तर-पूर्वी सीमा पर गारो-पहाड़ियों के निवासी होने के कारण ही उनको 'गारो' कहा जाता है। ये लोग अन्य पहाड़ी जातियों से सर्वथा भिन्न हैं। उनका नाटा क़द, बलवान् शरीर और विचित्र आकृति उनकी अपनी विशेषता है। पास-पड़ोस के गाँव वाले तथा पहाड़ी लोग उनको 'कूँच-गारो' कहते हैं, परन्तु वे स्वयं अपने को गारो ही कहते हैं। उनकी अनेक उपजातियाँ हैं, परन्तु उस विभिन्नता को वे प्रकट नहीं करते।

किसी गारो को आप देखिए—वह पुरुषत्व की साँचे में ढली मूर्ति-जैसा दिखाई देगा। उसका गोल भावहीन चेहरा, चिपटी गोल नाक, छोटी-छोटी नीली या भूरी आँखें, माथे पर शिकन पड़ी हुई बड़ी-बड़ी भौंहें, चौड़ा मुँह, मोटे होंठ, गेहुँआँ रँग, उसके व्यक्तित्व को सबसे पृथक् बतलाते हैं। वह परिश्रम से नहीं घबराता और काफ़ी उद्यमशील होता है। इन लोगों में स्त्रियों और पुरुषों की आकृति में विशेष अन्तर नहीं होता। स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति हृष्ट-पुष्ट, परिश्रमी, बली और साहसी होती हैं। जितना बोझा लेकर बंगाल का मज़बूत कुली समतल भूमि पर चलने में हाँपने लगता है, उतना बोझा लेकर एक गारो स्त्री बड़ी सरलता से पहाड़ियों के ऊपर उछलती-कूदती बात-की-बात में चढ़ जाती है! दक्षिणी इलाक़ों के रहनेवाले उत्तरी निवासियों की अपेक्षा अधिक बलवान् और परिश्रमी होते हैं, किंतु वे सबके सब भद्दे और कुरूप दिखाई देते हैं। उनकी स्त्रियों में सौन्दर्य्य नाम को भी नहीं होता, परन्तु युवतियाँ बड़ी प्रसन्नचित्त और मधुर-भाषिणी होती हैं। गारो साधारणतया हँसमुख, उदार, आतिथ्यप्रेमी, स्पष्टवादी, सच्चे और ईमानदार होते हैं। वे अपनी स्त्रियों का बहुत आदर करते हैं, जिसका प्रमाण यह है कि उनके यहाँ स्त्रियाँ ही सम्पत्ति की अधिकारिणी होती हैं।

गारो जाति की एक स्त्री

किसी ज़माने में गारो लोग अपने परिवार के मृत व्यक्तियों की आत्माओं की शान्ति के लिए नर-बलि दिया करते थे, जिसके लिए वे अधिकतर पड़ोस के इलाक़ों से बंगालियों को पकड़ लाते थे। किन्तु अब इस जघन्य प्रथा का अन्त हो चुका है। उनका दूसरा कलंक, जो अभी तक प्रचलित प्रथा के रूप में है, अधिक संख्या में दासों का

रखना है। उनके प्रदेश में लगभग आधी से कुछ कम संख्या दासों की ही है, जो शेष लोगों के अधीन है! दासों को वे "नोकील" कहते हैं और अन्य लोगों को "नकोबों"। पर वे लोग अपने दासों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करते, उन्हें अच्छी तरह खिलाते-पहनाते और आराम से रखते हैं। इनके दास भी बड़े स्वामिभक्त और ईमानदार होते हैं।

गारो लोग बहुत कम कपड़े पहनते हैं। पुरुष कमर में एक रस्सी बाँधकर उसमें लँगोटी लगाये रहते हैं, जो सामने लटकती रहती है। स्त्रियाँ भी कमर में लगभग हाथ भर चौड़ा एक कपड़े का टुकड़ा लपेटे रहती हैं और शेष सारा शरीर प्रायः खुला रखती हैं। वे पीतल और काँसे की बहुत भारी बालियाँ तथा मूँगे और रंगीन पत्थर के टुकड़ों के बने हार पहने रहती हैं, किन्तु ये आभूषण सबको नसीब नहीं होते। ये लोग सब कुछ खाते हैं। बिल्ली, कुत्ता, मेंढक, साँप, कीड़े-मकोड़े, कुछ भी उनसे नहीं बचते। उनके पालतू पशु गाय, बकरी, सुअर, मुर्ग़ी और बत्तख़ होते हैं। पशुओं का रक्त भी उनका मुख्य खाद्य पदार्थ होता है, जिसे वे बाँस के खोखले चोंगों में भरकर धीमी आँच पर पकाते हैं। नागा, खसिया तथा अन्य पड़ोसी जातियों की भाँति वे दूध का व्यवहार नहीं करते और उसे जीवहीन पदार्थ मानते हैं। इनमें शराब पीने की बुरी लत होती है, यहाँ तक कि नवजात शिशुओं को भी जन्म-घूँटी में शराब के दो-चार बूँद दिये जाते हैं। नशे की हालत में गारो लोगों में बात-की-बात में ख़ूनख़राबे की नौबत आ जाती है। उत्तरी भागों के रहनेवाले गारो नशे की उन्मत्त दशा में ख़ूब नाचते-गाते भी हैं।

गारो लोगों के घर "चाँग" कहलाते हैं और तीस से एक सौ पचास फ़ीट तक लम्बे तथा दस से चालीस फ़ीट तक चौड़े बनते हैं। प्रायः ज़मीन पर लट्ठे गाड़कर मचान बाँधा जाता है, जिस पर बाँसों की फ़र्श डालकर ये मकान बनाये जाते हैं। उनकी दीवालें साल के पतले लट्ठों की बनती हैं और वैसे ही लट्ठों के ढाँचे पर घास की चटाइयाँ, पतावर और फूस आदि ढककर छत डाली जाती है। कहीं-कहीं दीवालों की जगह पर बाँसों के टट्टर लगा दिए जाते हैं, जो चटाइयों की भाँति बुने रहते हैं। प्रायः इनका घर दोमंज़िला बनाया जाता है। निचले हिस्से में पालतू जानवर और मुर्ग़ियाँ, बत्तख़ें आदि रहती हैं। ऊपर का भाग कई अलग-अलग हिस्सों में बँटा रहता है जिनमें घरवाला, उसकी स्त्री, बच्चे और अविवाहिता लड़कियाँ रहती हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग अपने खेतों पर भी एक मकान बनाते हैं, जो 'बोरांग' कहलाता है। यह मकान किसी वृक्ष के सिरे पर बनाया जाता है, जिस पर सीढ़ी लगाकर चढ़ना पड़ता है। प्रत्येक गाँव में एक "डेकाचाँग" या "कुँवारों का घर" भी होता है, जहाँ गाँव के अविवाहित लड़के रखे जाते हैं। उनके गाँवों की विशेषता यह है कि वे कई "माहारियों" में बँटे होते हैं। "माहारी" का अर्थ होता है "मातृवर्ग"। विशेष "माहारियाँ" परस्पर विवाह-सम्बन्ध द्वारा एक दूसरे से मिली रहती हैं। गारो अपनी बहिन को अपने श्वसुर-परिवार में ही ब्याह देता है। उसका पुत्र अपनी बुआ की पुत्री से विवाह कर लेता है। सम्पत्ति पाने का अधिकार इनमें पितृकुल में न रहकर मातृकुल का ही होता है। जामाता अपने श्वसुर की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी तो बनता ही है, मगर साथ-ही-साथ उसे अपनी बुआ अर्थात् सास को भी पत्नी रूप में स्वीकार करना पड़ता है! गारो लोगों में विवाह-सम्बन्ध के नियम भी बड़े विचित्र हैं। कन्या स्वयं अपने पति का चुनाव करती है और बिना कन्या की इच्छा जाने हुए विवाहेच्छुक व्यक्ति उससे प्रेमप्रदर्शन नहीं कर सकता। विवाह के लिए माता-पिता की सम्मति लेनी आवश्यक होती है, किन्तु यदि वे निषेध करते हैं तो उन पर दबाव डालकर उनको सहमत किया जाता है। प्रारम्भिक बातें तय हो जाने पर कन्या और उसके कुटुम्बवाले वर को लेने के लिए उसके घर जाते हैं। उनको आते देखकर वर भाग जाता है! उसके विरोध करने पर भी उसे ज़बरदस्ती पकड़कर विवाह की रस्म पूरी की जाती है, यद्यपि वह तथा उसके माता-पिता बराबर विरोध करते रहते और चीख़-पुकार मचाते रहते हैं! विवाह की रस्म पूरी होने पर एक मुर्ग़ा और एक मुर्ग़ी का बलिदान दिया जाता है। इसके बाद भोज की व्यवस्था होने लगती है, जिसके कोलाहलपूर्ण वातावरण में वर और उसके माता-पिता की चीख़-पुकार दब जाती है और वे शान्त होकर भोज में सम्मिलित होते हैं। पति को इस प्रकार ज़बरदस्ती प्राप्त करने के बाद पत्नी उसकी सच्ची सहायिका बनकर रहने लगती है। वह कृषि-कार्य्य में उसका हाथ बँटाने के अतिरिक्त गृहस्थी का

भी सञ्चालन करती है और कठिन-से-कठिन परिश्रम करने पर भी सदा प्रसन्नचित्त दिखाई देती है।

प्रत्येक दम्पति साधारणतया साल में तीन-चार बीघा ज़मीन जोतते-बोते हैं और तीन फ़सलें तैयार करते हैं। गारो प्रदेश की मुख्य उपज रुई, "ऑउस धान", मक्का, बाजरा, मिर्च और ज्वार है। लोहे और काँसे का काम बनाने में भी वे बड़े कुशल कारीगर होते हैं। इनके बनाए हुए कूँड़े और थालियाँ बंगाल प्रान्त में बहुत पसंद की जाती हैं। खेती करने में वे एक विचित्र प्रकार की खुरपी, दॉव और कुल्हाड़ी का व्यवहार करते हैं, जिनसे और भी अनेकों काम लिये जाते हैं। कोई भी गारो बिना कुल्हाड़ी या बरछा हाथ में लिए घर से बाहर नहीं निकलता। जंगलों के निवासी गारो लोग युद्ध के समय अपने गाँवों के चारों ओर मोटे-मोटे लट्ठों की चहारदीवारी खड़ी कर लेते हैं और आने-जाने के सभी रास्तों में मोटे-मोटे पेड़ काटकर डाल लेते हैं या गढ़े खोदकर उनमें नुकीले बाँस गाड़कर उन गढ़ों को पत्तियों और टहनियों से ढक देते हैं। फलतः आक्रमणकारियों का गाँव तक पहुँचना कठिन हो जाता है। कुछ तो अनजान में उन गढ़ों में गिर जाते हैं और नुकीले बाँसों पर गिरने से तत्काल प्राण छोड़ देते हैं। दूसरों के लिए मार्ग साफ़ करना ही कठिन हो जाता है। इसी गड़बड़ी में गारो लोग उन पर छिपकर आक्रमण करके सहज ही उन्हें जीत लेते हैं।

गारो लोगों का वृक्ष पर बना 'बोरांग' नामक झोपड़ा

गारो लोगों का धर्म हिन्दूमत और "शमन" धर्म (भूत-प्रेतों की पूजा) का मिश्रण-सा है। किन्तु ये लोग मूर्त्तियाँ नहीं बनाते और न उनके कोई मन्दिर ही हैं। उनके प्रदेश में एक पहाड़ी दर्रा है, जिसे "बाँत-जौर" कहते हैं। वहाँ के निवासी सूर्य्य और चन्द्रमा की पूजा करते हैं। किसी विशेष अवसर पर इन दोनों में से किस का पूजन किया जाय, इस बात का निर्णय करने के लिए भी उनकी एक विचित्र विधि है। उनका पुरोहित एक प्याले में जल और कुछ गेहूँ के दाने लेकर खड़ा होता है। पहले सूर्य्य का नाम लेकर वह गेहूँ का एक दाना प्याले के जल में छोड़ता है। यदि वह गेहूँ का दाना जल में डूब जाता है तो सूर्य्य की पूजा की जाती है और यदि तैरता रहता है तो चन्द्रमा के नाम से दूसरा दाना जल में छोड़ा जाता है। इसी प्रकार क्रम चलता रहता है जब तक कोई दाना जल में डूबकर इन देवताओं के संबध में अंतिम निर्णय न बतला दे!

गारो जातिवालों में सभी धार्मिक रस्मों के मनाते समय देवता को बलि चढ़ाना अवश्यक समझा जाता है। बैल, बकरी, सुअर, मुर्ग़े, कुत्ते सभी का बलिदान दिया जाता है। ये लोग दासों की लड़कियों से विवाह नहीं करते और न उनको रखेलियाँ ही बनाकर रखते हैं। इनके घरों में काँसे की एक छोटी थाली, जिस पर कुछ आकृतियाँ बनी रहती हैं, किसी जगह लटकी रहती है, जिसे ये लोग "कोरॉदेव" मानकर पूजते हैं तथा उसे बलि चढ़ाकर प्रसन्न करते हैं। गारो लोगों का विश्वास है कि जब घरवाले सोते रहते हैं उस समय "कोरादेव" उस थाली से निकलकर आहार की खोज में बाहर जाता है और लौटकर फिर वहीं आ जाता है। वे भूत-प्रेत, पिशाच और जादूगरनी का अस्तित्व मानते हैं। उनकी धारणा है कि कुछ व्यक्तियों की आत्माएँ उनके शरीर से बाहर निकलकर अपनी इच्छानुसार बाघ तथा अन्य जानवरों का रूप धर लेती हैं।

गारो परिवार में किसी की मृत्यु होने पर उसका शव चार दिन तक घर में रखा जाता है, फिर उसका दाह करते हैं। अस्थियाँ और राख झोपड़ी के द्वार पर गढ़ा खोदकर गाड़ देने की इनमें प्रथा है। दाह-क्रिया के समय कुत्तों की बलि

दी जाती है, जिसमें वे मृतक की आत्मा को परलोक-यात्रा का मार्ग दिखा सकें। पहले इनमें नरबलि की भी प्रथा थी, जो भूत-प्रेतों तथा सर्दारों की आत्माओं के नाम पर चढ़ाई जाती थी। इस तरह बलि चढ़ाये हुए मनुष्यों की खोपड़ियाँ लाकर वे घर में टाँग देते थे। सन् १८४८ में ब्रिटिश सरकार से की गई सन्धि के अनुसार उनमें यह प्रथा सर्वथा बन्द हो गई है। फिर भी, सन् १८६० में, मई के महीने में उन्होंने मैमनसिंग ज़िले के उत्तरी मैदानों के निवासी १६ व्यक्तियों की हत्या कर डाली थी, जिनके कटे-पिटे मृत शरीर बाद में पाए गए। ब्रिटिश अधिकारियों ने हत्याकारियों को गिरफ़्तार कराकर उन पर मुक़दमा चलाया। उन हत्याकारियों ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उनमें से तीन व्यक्तियों को उन्हीं के गाँव में ले जाकर फाँसी दे दी गई। इस मुक़दमे में यह प्रमाणित हुआ कि इन हत्याओं को करने में उनका लक्ष्य लूट-पाट करना न था वरन् वे अपने पर्वत के देवताओं को चढ़ाने के लिए नर-मुंडों की खोज में ही ऐसा अमानुषिक कार्य्य कर बैठे थे। सौभाग्य की बात है कि दोबारा फिर ऐसा काण्ड न हुआ।

टोडा

दक्षिण भारत की एक लुप्तप्राय जाति

भारतवर्ष के दक्षिणी प्रदेश में, सुविस्तृत नीलगिरि पर्वत-श्रेणियों के बीच, उटकमण्ड से लगभग बीस मील की दूरी पर एक पठार है—जंगलों और झाड़ियों से हराभरा, पहाड़ी नालों और स्रोतों से भरपूर, तथा अत्यन्त चित्ताकर्षक। यही रमणीक स्थान 'टोडा', 'टोडर' या 'टोडवॉर' लोगों की आवासभूमि है, जो यहाँ के आदिम निवासी माने जाते हैं। 'टोडा' शब्द तामिल भाषा के एक शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ होता है—गड़रिया। यह अर्थ ठीक ही है, क्योंकि टोडा लोग अधिकतर पशु-पालन-कार्य करते हैं। उनकी बोली कन्नड़ी और तामिल भाषाओं का मिश्रित रूप है, किन्तु उनका उच्चारण भिन्न होने के कारण वह सर्वथा पृथक् ज्ञात होती है। टोडा लोगों की मुख्य जातियाँ हैं पीकी, केउना, पेक्कन, कुत्तन या टोडी। इनका शरीर लम्बा और आकृति सुन्दर होती है। माथा चौड़ा, नाक और होंठ सुडौल, आँखें छोटी, भौंहें नीचे को झुकी और ठुड्डी कुछ निकली हुई होती है। उनके दाढ़ी-मूँछ होती है और चेहरा रोबीला मालूम होता है। टोडा लोगों का विश्वास है कि उनको नीलगिरि की हरी-भरी घाटियों में ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है। उनके मतानुसार ईश्वर ने एक पहाड़ी के शिखर पर मोती गिराया, जिससे उनके मुख्य देवता टीकिरजी की उत्पत्ति हुई। टीकिरजी ने एक बेंत से जब धरती को पीटा तो धूल उड़ी और उसी धूल से टोडा जाति का आदिपुरुष उत्पन्न हुआ। उसके साथ ही एक भैंस भी पैदा हुई, जिसके गले में घण्टी बँधी हुई थी। यह घण्टी वे आजकल भी दिखाते हैं। बिक्कापत नामक स्थान में उनका जो देवस्थान है, उसमें यह घण्टी सुरक्षित रखी हुई है! टोडा लोगों में जो वर्त्तमान रीति-रिवाज प्रचलित हैं, उनका आधार उन्हीं टीकिरजी का बतलाया हुआ मार्ग माना जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि टोडा समाज में भैंसों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

टोडों के गाँवों को 'माँद' कहा जाता है। हरएक गाँव में ३-४ से लगाकर ५-६ तक झोपड़ीनुमा घर होते हैं। लोगों के आने-जाने के आम रास्तों से प्रायः दो-चार मील हटकर ही वे लोग किसी नाले के पास हरे-भरे पेड़ों की आड़ में अपने घर बनाते हैं। प्रत्येक गाँव में एक मन्दिर अवश्य होता है और साथ ही कुछ दूर पर भैंसों के बाँधने का एक बाड़ा भी। झोपड़ियों का ढाँचा टोकरियों की तरह बाँसों का बनता है, जिनका ऊपरी भाग साधारणतः गोलाईदार होता है, परन्तु निर्धन टोडों की झोपड़ियाँ युक्तप्रान्त के देहातों की मड़इयों की तरह तिकोनी होती हैं। इस ढाँचे को वे घास-फूस से अच्छी तरह छाते हैं। उसमें आगे और पीछे लकड़ी के लट्ठे लगे रहते हैं। झोपड़ी में सामने ढाई फ़ीट ऊँचा और डेढ़ फ़ीट चौड़ा एक छोटा द्वार होता है। यह इतना छोटा होता है कि इसमें से आने-जाने

टोडा लोगों की बस्ती

वालों को बैठकर अपने शरीर को सिकोड़ना पड़ता है तब भी कहीं कठिनाई से वे उसमें से निकल पाते हैं। इस द्वार के दोनों ओर दो छोटे चबूतरे होते हैं। घर की स्त्रियाँ वहीं बैठकर या तो अपनी धोती पर क़सीदा काढ़तीं या अपने बाल घुँघराले करने के लिए सिर में मक्खन मलती रहती हैं। बालों को मक्खन से तर रखने का इन्हें बड़ा चाव होता है। झोपड़ी के भीतर बाईं ओर अच्छा ख़ासा चबूतरा बना होता है, जिस पर टोडा-परिवार के सभी व्यक्ति सोते हैं। इस चबूतरे के नीचे दाहिनी तरफ़ पाकशाला होती है। टोडा लोग अपना भोजन आग पर बनाते हैं, परन्तु झोपड़ी में धुआँ निकलने के लिए कहीं छेद तक नहीं रखते, जिसके कारण छत और दीवालें काली पड़ जाती हैं। खिड़कियों का इन झोपड़ों में नाम भी नहीं होता। उनके दैनिक व्यवहार के बर्त्तन प्रायः पीतल या मिट्टी के होते हैं, जो झोपड़ी के पिछले हिस्से में रखे जाते हैं। टोडों के मिट्टी के बर्त्तन को यदि कोई अन्य व्यक्ति छू लेता है तो उसे वे अपवित्र समझकर तोड़कर फेंक देते हैं।

टोडा लोगों का मन्दिर भी बिल्कुल झोपड़ी के आकार का बना होता है। अन्तर इतना ही होता है कि उसे वे अधिक सावधानी से और मज़बूत बनाते हैं और उसकी सजावट का भी उचित ध्यान रखते हैं। उसके आगे और पीछे लकड़ी न लगाकर वे उसे पत्थर का बनाते हैं। मन्दिर के द्वार के ऊपर शिला में एक भैंस का सिर, चन्द्रमा, पचकोना तारा और खजूर का पेड़ खुदा रहता है। मंदिर के चारों ओर एक अहाता होता है, जिसमें पुजारी के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति नहीं जाने पाता। मन्दिर में इन लोगों का पवित्र दूध रहता है, जिसे कितनी ही रस्मों के मनाने में ये लोग काम में लाते हैं।

टोडा लोगों की बस्तियों में सबसे प्रसिद्ध गाँव मुत्तानद माना जाता है। यह नाम उसी मोती पर रखा गया है जिसे टोडा-पुराण के अनुसार ईश्वर ने पहाड़ी के शिखर पर गिराया था। यही एक ऐसा गाँव है, जहाँ झोपड़ों के बिल्कुल पास ही भैंसों का बलिदान किया जाता है। रस्म-रिवाज पूरी करने के स्थान पर पहचान के लिए यहाँ अनेक शिलाएँ गड़ी हुई हैं। इनके पास ही एक बड़ा-सा गोल पत्थर पड़ा हुआ है। इसी तरह यहाँ पर छोटे-बड़े अन्य कितने ही पत्थर पड़े हैं। टोडा लोग जब अपनी कोई रस्म पूरी करने के लिए वहाँ एकत्र होते हैं, तब उस बड़े पत्थर को उठाने में अपनी शक्ति-परीक्षा करते हैं और छोटे-बड़े अन्य पत्थरों से खेल खेलते हैं। पहाड़ी के ऊपर पिरामिड के आकार का एक कोणाकार मन्दिर बना हुआ है। ऐसे मन्दिरों को टोडा-भाषा में "पोह" कहा जाता है। इनके सारे इलाके में कुल तीन या चार ही ऐसे "पोह" हैं। ऐसे 'पोह' के चारों तरफ़ पत्थरों को एक दूसरे के ऊपर रखकर एक घेरा-जैसा बना देते हैं, जिसमें एक ओर दो ऊँची शिलाएँ खड़ी करके आने-जाने के लिए थोड़ी जगह छोड़ देते हैं।

शिशु-हत्या तथा एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा आदिकाल से टोडा जातियों में प्रचलित रही है। उनकी स्त्रियाँ खुले तौर से वेश्यावृत्ति करती हैं तथा अन्य जाति के पुरुषों से सम्बन्ध रखना वे अनुचित नहीं समझतीं। शुरू में टोडा लोग अपने परिवार में एक से अधिक लड़की रखना पाप समझते थे और पैदा होते ही लड़कियों का गला घोंटकर मार डालते थे, किन्तु अब इस प्रकार की प्रथा पर सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लग गया है। टोडा स्त्रियाँ अधिक सुन्दर नहीं होतीं, परन्तु युवावस्था में भली दीखती हैं। वे भुजाओं, छातियों तथा टाँगों पर गोदना गोदाती हैं। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों एक प्रकार का चोगा या शॉल ओढ़े रहते हैं, जो उनकी दिन-रात की पोशाक होती है। वह बड़े मोटे कपड़े का बनता है और वज़न में ढाई सेर से कम नहीं होता। उसे दाहिने कन्धे के ऊपर से डालकर बाएँ हाथ पर पुनः दोहरा करके वे ओढ़ते हैं, जिससे ऊपर का सारा बदन और नीचे घुटनों तक का भाग पूरा ढका रहता है। स्त्रियाँ पीतल और लोहे के आभूषण धारण करती हैं। पोत, कौड़ियों और शंख की मालाएँ भी उनमें पहनी जाती हैं। टोडा लोग कुल्हाड़ी और डंडे के अतिरिक्त किसी शस्त्र का व्यवहार नहीं करते। डंडा तो प्रायः वे हर समय बाहर जाते वक्त साथ रखते हैं। उनके समाज में स्त्रियों का आदर किया जाता है। स्त्रियाँ केवल गृहस्थी का ही काम करती, घर में रहती और अवकाश के समय सीना-पिरोना और काढ़ने का काम करती हैं। युवक और युवतियों को विवाह से पहले भी मिलने-जुलने की पूरी स्वच्छन्दता रहती है। विवाह के बाद स्त्री अपने पति की ही नहीं वरन् उसके सब भाइयों की पत्नी समझी जाती है और उसकी सन्तान क्रमशः बड़े, मँझले और छोटे भाइयों की मानी जाती है। जब टोडा वधू ससुराल में आती है तो उसे अपने पति के प्रत्येक भाई के सामने जाना पड़ता है और उनके पैरों पर अपना सिर रखना पड़ता है। इसके बाद उसे जल भर लाने के लिए बाहर भेजा जाता है। स्त्री पति के परिवार के सभी भाइयों की सम्पत्ति समझी जाती है और प्रत्येक भाई उसके साथ पत्नी का सम्बन्ध रखता है। भाइयों में पहले सबसे बड़ा भाई स्त्री को 'तीर-कमान' देता है और इसके बाद जो सन्तान होती है वह उसी की मानी जाती है। कालान्तर में उससे छोटा दूसरा भाई स्त्री को तीर-कमान देने की रस्म पूरी करता है और भावी सन्तान का वही पिता समझा जाता है। इसी भाँति बराबर क्रम चलता रहता है। इनमें बच्चे बहुत कम पैदा होते हैं, इसीलिए भय है कि यह जाति शीघ्र ही लुप्त हो जायगी।

टोडा लोगों में अतिथि-सत्कार की भावना बहुत पाई जाती है और वे अभ्यागत को अच्छे-से-अच्छा भोजन, जो उनके लिए सम्भव होता है, लाकर देते हैं तथा उसके आराम का पूरा ख्याल रखते हैं, चाहे इसके लिए स्वयं उन्हें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। उनका स्वर कोमल और आवाज़ में चढ़ाव-उतार होता है। टोडा लोगों के नाम प्रायः पहाड़ियों, नदियों या चट्टानों के नामों पर रखे जाते हैं। इस बात का बड़ा ध्यान रखा जाता है कि किसी मृत व्यक्ति का नाम फिर से न रखा जाय। उनका विश्वास है कि मृत व्यक्तियों के नाम नहीं लेना चाहिए। टोडा लोगों का मुख्य धन्धा है भैंस पालना। भैंस के दूध, मक्खन और घी का व्यवहार वे ख़ूब करते हैं। भैंसें ही उनकी सम्पत्ति होती हैं। जिस टोडा के पास जितनी अधिक भैंसे होती हैं, उसे उतना ही अधिक धनी माना जाता है। धनी लोग प्रायः पालकी पर बैठकर

यात्रा करते हैं। इनके पास अच्छी जाति की भैंसें देखने को मिलती हैं। इनकी भैंसों के सींग बहुत लम्बे होते हैं। इन लोगों द्वारा भूरे रंग की भैंस, जिसके सींग नीचे की ओर मुड़े हुए हों, सबसे अधिक पवित्र मानी जाती है और ऊपर उठे सींगोंवाली काले रंग की भैंस की सबसे कम क़द्र होती है। पोले बाँस को काटकर ये लोग उसे दूध दुहने के काम में लाते हैं। दूध और भैंसों की देखरेख का काम स्त्रियों को नहीं करना पड़ता, वह भार पुरुषों पर रहता है। पुरुष काफ़ी देर में जब दिन चढ़ आता है और हवा की ठण्ढक कम हो जाती है, तभी सोकर उठते हैं और झोपड़ी से बाहर निकलते हैं।

टोडा लोग घंटों के देवता अर्थात् "हिरिया-देव" की भी उपासना करते हैं, जो भैंस के गले में बाँधने की घण्टी के रूप में पूजे जाते हैं। अपने ढोरों में की सबसे अच्छी भैंस के गले में वे ऐसी घण्टी लटकाते हैं और उसे पवित्र मानते हैं। वे दूध और फूलों से उसकी पूजा-प्रार्थना करते हैं। वे "आखेट के देवता" की भी पूजा करते हैं, जो उन्हें शिकार में सफलता देता है। सूर्य्य की पूजा-उपासना का भी उनमें रिवाज है। वे आत्मा के आवागमन में विश्वास रखते हैं और उसे "हुमा-नार" कहते हैं। उनमें मृतक-संस्कार की प्रथा भी बड़ी विचित्र है। उसके सम्पन्न करने में काफ़ी ख़र्च बैठ जाता है। यह दो तरह का होता है—पहला वह कि जिसमें मृतक-संस्कार तुरन्त किया जाता है और दूसरा वह जिसमें कई दिन बाद करते हैं। मृतक-संस्कार के समय दो-तीन भैंसों का बलिदान किया जाता है, जिसमें परलोक में वे मृत व्यक्ति को सुलभ हो सकें। मृतक के सिर के कुछ बाल काट लिए जाते हैं और उन्हें बहुत सम्हालकर रखा जाता है। किसी की मृत्यु होने पर पास-पड़ोस के लोग बाहर इकट्ठा होते हैं। पुजारी भी बाहर उपस्थित रहता है। टोडों में यह रिवाज है कि बड़े-बड़े अवसरों पर उनके यहाँ नीलगिरि पर्वत की एक अन्य पड़ोसी जातिवाले कोटा लोग बाजा बजाने आते हैं। स्त्रियों या पुरुषों की मृत्यु होने पर जहाँ परिवारवाले, सम्बन्धी और इष्ट-मित्र विलाप करते हैं, वहाँ ये लोग बाजा बजाते हैं। ये बाजा बजानेवाले कोटा लोग इस अवसर पर कपड़ा लाते हैं, जिसके बदले में उन्हें अनाज और बलिदान किए हुए भैंसे भी मिल जाते हैं। शव को श्वेत वस्त्र से ढँककर पहले मंदिर के द्वार पर ले जाते हैं, जहाँ उसे बाहर बाईं ओर के चबूतरे पर रख दिया जाता है। अब पुजारी अपने स्थान से उठकर मृतक के मुँह में पत्ते से पवित्र दूध डालता है। वहाँ से शव को कौड़ियों, बटनों और गुरियों से सजी-सजायी बाँस की एक अर्थी पर रखकर मृतक की कितनी ही प्रिय और व्यावहारिक वस्तुओं के साथ ले जाते हैं, जिनमें खाने-पीने की वस्तुएँ भी शामिल रहती हैं। स्त्रियाँ भी श्मशान तक साथ जाती हैं। श्मशान में पहुँचकर सबसे पहले मृतक के निकट सम्बन्धी पुरुषों और स्त्रियों में से कोई वृद्ध और वृद्धा अपनी जगह से उठकर अन्य स्त्रियों के सिर से अपने अँगूठे लगाते हैं। पुरुषों के साथ यह रस्म अदा नहीं की जाती। पुरुष सब मिलकर केवल एक प्रकार का शब्द करते हैं। इसी समय बेंत की एक लकड़ी लेकर मृतक का पुत्र धरती कुरेदता है। लाश उसके पास ही रख दी जाती है और परिवार का प्रत्येक व्यक्ति यही कार्य्य बारी-बारी से करता है। इसके बाद समाज के मुखिया या प्रधान से मृतक का वह आत्मीय तीन बार पूछता है—"मिट्टी डालूँ?" उस समय मुखिया उत्तर देता है कि—"डालो!" इस पर वह व्यक्ति मृतक के सिर से अपना माथा लगाकर विलाप करता है, फिर धरती पर माथा टेकता है, इसके बाद वह थोड़ी मिट्टी उठाकर तीन बार शव पर डालता और तीन ही बार कुरेदे हुए स्थान की ओर भी फेंकता है, मानों वह यह बतलाता हो कि यह शरीर मिट्टी का है और इसे मिट्टी में ही मिल जाना है। भैंसों के बलिदान का कृत्य भी इसी समय सम्पन्न किया जाता है। तब शव को ले जाकर चिता पर रख देते हैं। मृतक की प्रिय वस्तुएँ भी चिता के ऊपर रख दी जाती हैं। चिता पर एक छाता लगा दिया जाता है तथा उसी पर तीर-कमान भी रख देते हैं। एक थैली में कुछ धन और आभूषण भी वहाँ रखे जाते हैं। तब लकड़ियों की रगड़ से बनाई हुई आग चिता में लगा दी जाती है।